* ओ३म् *

ध्यानयोगप्रकाशः ।

वेदवेदांगादिसच्छास्त्रप्रमाणालङ्कृतः
स्वर्गनिवासि—श्रीमद्योगिलक्ष्मणानन्द
स्वामिना सम्पादितः

पं० लखीराम शर्म्मणः प्रबन्धेन
शर्म्मा मैशीन प्रिन्टिङ्ग यन्त्रालये
मुद्रितः ।

प्रकाशकः—
मैनेजर वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद ।

ज्येष्ठ शुक्ल सप्तमी सं० १९७९ ।

तृतीयवार १०००] मूल्यम् १॥)

सूचनाएं।

(१) प्रूफरीडर की गलती तथा प्रेस के अध्यक्ष श्रीमान् पं० शङ्करदत्तजी शर्मा के राजनैतिक कार्य्य करते हुए जेल-जाने से ग्रन्थ में कितनी ही त्रुटियां रह गई हैं जैसे २४१ से २५७ के दो फार्म आप देखेंगे परन्तु तो भी वह फार्म हमने ठीक कराकर लगवा दिये हैं इसी प्रकार २०४ की जगह १०४ छप गया है ऐसी दशा में हम पाठकों से प्रार्थना करते हैं कि हमारे प्रेमी पाठक ठीक करके पढ़नेका कष्ट उठावेंगे और हमें इन त्रुटियों के लिये क्षमा करेंगे।

विनीत प्रार्थी

प्रकाशक

ग्रन्थसङ्केताः

जिन ग्रन्थों के प्रमाण से यह "ध्यानयोगप्रकाश" नामक पुस्तक रचा गया है, उन सबकी प्रतीकों के संकेत नीचे लिखे अनुसार जानें।

ग्रन्थों के नाम तथा अङ्क	संकेत
ऋग्वेद=(अष्टक, अध्याय वर्ग, मण्डल, अनुवाक, सूक्त और मन्त्र)	ऋ०अ०अ०व०मं०अ०सू०मं०
यजुर्वेद=(अध्याय, मन्त्र)	यजु० अ० म०
अथर्ववेद=(काण्ड, अनुवाक, वर्ग, मन्त्र)	अथर्व०का०अ०व०म०
योगदर्शन श्री पतञ्जलि मुनिकृत=(पाद, सूत्र)	यो० पा० सू०
श्री व्यासदेवकृत योगभाष्य	व्या० भा०
श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती प्रणीत— (१)ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका— (उपासना तथा मुक्ति विषय) जो सम्वत् १९३४ विक्रमी में मासिक अङ्कों में छपी थी (भूमिका पृष्ठ)	भू० पृ०
(२)सत्यार्थप्रकाश द्वितीयावृत्ति का जो सन् १८८३ई० में छपा था (प्र० पृष्ठ, समुल्लास)	स० प्र० पृ० समु०

ग्रन्थ आरम्भ	आ० चि०
ईश उपनिषत् (मन्त्र)	ई० उ० मन्त्र
केन ,, (केन खण्ड, मन्त्र)	केन उ० खं० मं०
कठ ,, (वल्ली, मन्त्र)	कठ उ० व० मं०
प्रश्न ,, (प्रश्न, मन्त्र)	प्रश्न उ० प्र० मं०
मुण्डक ,, (मुण्डक, खण्ड, मन्त्र)	मु० उ० मु० खं० मं०
तैत्तिरीय ,, (वल्ली, अनुवाक, मन्त्र)	तै० उ० व० अ० मं०
श्वेताश्वतर ,, (अध्याय श्लोक)	श्वेता० उ० अ० श्लो०
न्याय दर्शन—(अध्याय, आन्हिक, सूत्र)	न्या० अ० आ० सू०
वैशेषिकदर्शन (अध्याय आन्हिक, सूत्र	वै० अ० आ० सू०
सांख्यदर्शन (अध्याय, सूत्र)	सांख्य० अ० सू०
भगवद्गीता (अध्याय, श्लोक)	भ०गी० अ० श्लो०

टिप्पणी—वेदोक्त प्रमाणों में सर्वत्र श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत वेदभाष्य का ही आश्रय लिया गया है।

१५६ के बजाय १६५ छपा है पृष्ठ २०४ के बजाय १०४ छप गया है २५७ के बजाय पुनः २४१ ही छपा हैं आगे वह ही सिलसिला है सो ठीक करके पढ़ियेगा।

ध्यानयोगप्रकाश का सूचीपत्र

विषयसूची ।

विषयसूची ।

विषयसूची।

विषयसूची ।

ओम तृतीयाध्याय २२१, ३३८

विषयसूची ।

विषयसूची।

* ओ३म् *

तत्सत्परब्रह्मणे परमात्मने सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः

अथ—

ध्यानयोगप्रकाशः

तत्र ज्ञानयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः

आदौ प्रार्थना

ओं-विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ १ ॥

ओ३म् शान्तिः ३ ॥

यजु० अध्याय ३० मं० ३ ॥

अर्थः—हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! परमकारुणिक ! हे, अनन्तविद्य ! परब्रह्मपरमात्मन् ! [देव] आप विद्याविज्ञानार्क प्रकाशक तथा सकल जगद्विद्याद्योतक और सर्वानन्दप्रद हैं ।

तथा [सवितः] हे जगत्पिता ! आप सूर्यादि अखिल सृष्टि के कर्ता सर्वैश्वर्यसम्पन्न, सर्वशक्तिमान् और चराचर जगत् के आत्मा हैं । इस कारण हम सबलोग श्रद्धा,भक्ति प्रेम आदि अपनी सम्पूर्ण माङ्गलिक सामग्री से सविनय अर्थात् अत्यन्त आधीनतापूर्वक अभिमानादि दुष्ट गुणों को त्याग कर शुद्ध आत्मा और अन्तःकरण से बारंबार यही प्रार्थना आप से करते हैं कि हमारे [विश्वानि दुरितानि] सम्पूर्ण दुःखी और दुष्ट गुणों को [परा सुवः] कृपया नष्ट कर दीजिये ।

…भद्रम्] कल्याण, जो सब दुःखों, दुर्गुणों …ना से रहित तथा अभीष्टपूर्णानन्दादि भोगों और शुभ गुणों से युक्त है। [तन्न आसुव] वह हमको सब प्रकार सब ओर से और सर्वदा के लिये सम्प्रदान करके हमारी सम्पूर्ण आशा फलित और हम लोगों को कृतार्थ कीजिये। और मुझ अल्पज्ञ को इस ग्रन्थ के निर्माण करने की योग्यता से प्रयुक्त कीजिये। और [शान्तिः ३] त्रिविध संतापों से पृथक् रखिये कि निर्विघ्न यह ग्रन्थ समाप्त होकर मुमुक्षु जनों का हितकारी हो।

॥ श्लोक ॥

ब्रह्माऽनन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतम्,
विद्या यस्य सनातनी निगमभृद्वैधर्म्य विध्वंसिनी।
वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा,
तन्नत्वा निगमार्थभ्यानविधिना योगअस्तु तन्तन्यते।१।

अर्थ—जिस परमात्मा की वेद नामिका निर्मूल विद्या परमार्थ अर्थात् स्वरूप से सनातनी, निश्चय करके जगत् को हितकारिणी मनुष्यों को सम्पूर्ण ऐश्वर्य भोगों से युक्त सौभाग्य सम्पत्तिदायिनी तथा सकल वैधर्म्यजन्य वेद विरुद्ध मतमतान्तरों की विध्वंस करने वाली है, उस अनन्त. अनादि

टिप्पण * [भद्रम्] मोक्षसुख तथा व्यवहारसुख दोनों से परिपूरित, सर्वकल्याणमय जो सुख है, उसको भद्र कहते हैं अर्थात् एक तो सांसारिक सुख, जो सत्य विद्या की प्राप्ति से अभ्युदय अर्थात् सुख का प्राप्त होना। दूसरा, त्रिविध दुःख से अत्यन्त निवृत्ति होकर निश्रेयस और सच्चा सुख = मोक्ष का प्राप्त होना [ऋ० भू० पृ० ३]

सृष्टिकर्ता, अजन्मा, सत्यस्वरूप और सना[illegible]
अत्यन्त प्रेम और भक्तिभाव से विनय पूर्वक आ[illegible]
निगम जो वेद उसका सारभूत तत्व अर्थ जो परमात्मा उस-
की प्राप्ति कराने वाली और ध्यानरूपी सरल विधि से सिद्ध
होने वाली जो योगविद्या है उसका मैं वर्णन करता हूं। अत-
एव आप मेरे सहायक हूजिये।

परमात्मा उसकी प्राप्ति कराने वाली और ध्यान रूपी सरल विधि से सिद्ध होने वाली जो योग विद्या है. उसका मैं वर्णन करता हूं अतएव आप मेरे सहायक हूजिये।

॥ श्लोक ॥

सर्वात्मा सच्चिदानन्दोऽनन्तो यो न्यायकृच्छुचिः।
भूयात्तमां सहायो नो दयालुः सर्वशक्तिमान्॥ २॥
[आ० वि०]

अर्थ—हे सब के अन्तर्यामी आत्मा परमात्मन्! आप सत् चित् और आनन्दस्वरूप हैं तथा अनन्त, न्यायकारी निर्मल [सदा पवित्र] दयालु और सर्वसामर्थ्य युक्त हैं, इत्यादि अनन्त गुणविशेषविशिष्ट जो आप हैं सो मेरे सर्वथा सहायक हूजिये जिससे कि मैं इस पुस्तक के बनाने के निमित्त समर्थ हो जाऊँ।

ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा। शन्नः इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥ नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु अवतु माम् अवतु वक्तारम्॥ ओ३म् शांतिः शांतिः शांतिः॥

...ीयोपनिषदि शिक्षाध्याये प्रथमानुवाकः

[ओ३म्] हे सर्वरक्षक, सर्वाधार, निराकार परमेश्वर! [नः+मित्रः+शम्] ब्रह्मविद्या के पढ़ने, पढ़ाने, सीखने, सिखाने, हारे गुरु शिष्यों, स्त्री पुरुषों पिता पुत्रों आदि सम्बन्ध वाले, हम दोनों के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धी सुखों की प्राप्ति के लिये सब के सुहृद् आप तथा हमारा प्राण वायु आप के अनुग्रह से कल्याणकारी हों। [वरुणः+शम्] हे स्वीकरणीय वरिष्ठेश्वर! आप तथा हमारा अपान वायु सुखकारक हों।

[अर्यमा+नः+शम्+भवतु] हे न्यायकारी यमराजपरमात्मन्! आप तथा हमारा चक्षुरिन्द्रिय+हमारे लिये+सुखप्रद्+हों।

[इन्द्रः+नः+शम्] हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न ईश्वर! आप तथा हमारी दोनों भुजा हमारे सांसारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के सुखों अर्थात् समग्रैश्वर्य भोगों की प्राप्ति के निमित्त सुखकारी सकलैश्वर्यदायक और सर्वबलदायक हों।

[बृहस्पतिः+"नः+शम्"] हे सर्वाधिष्ठाता विद्यासागर बृहस्पते! आप सद्विद्वान् ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मवित् आप्तजन ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये+हमको विद्याविज्ञान प्रद हों।

[विष्णुः+उरुक्रमः+नः+शम्] हे सर्वव्यापक+महापराक्रम परमेश्वर! हमको आप अपनी दया करके योगिरूप बल वीर्य और पराक्रम प्रदान कीजिए कि जिस के द्वारा मोक्ष सुख प्राप्त करके हम दोनों आप की व्याप्ति में सर्वत्र अव्याहतगतिपूर्वक स्वच्छानुसार आप के ही निष्केवल आधार में रमण और भ्रमण करते हुए अमृत सुख को भोगते रहें।

[नमो+ब्रह्मणे] हे परब्रह्मरिविराजमान ... ब्रह्मन् ! आपको हमारा नमस्कार प्राप्त हो।

[वायो+ते+नमः] हे अनन्तवीर्य सर्वशक्तिमन्नीश्वर ! आप का हम सविनय प्रणाम करते हैं। क्योंकि—[त्वम्+एव +प्रत्यक्षम्+ब्रह्म+असि] आप ही हमारे पूज्य सेवनीय और अन्तर्यामीरूप से प्रत्यक्ष इष्टदेव और सब से बड़े हो, इसलिये [त्वाम्+एव+प्रत्यक्षम्+ब्रह्म+वदिष्यामि] मैं समस्त भक्तों, जिज्ञासु वा मुमुक्षु जनों के लिए अपनी वाणी से यही उपदेश करूंगा कि आप ही पूर्णब्रह्म और उपास्यदेव हैं। आप से भिन्न ऐसा अन्य कोई नहीं इसी बातको मनमें धारण करके—

[ऋतं+वदिष्यामि] मैं वेदादि सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से, ही इस ग्रन्थ के विषय का याथातथ्य कहूंगा और—[सत्यं+ वदिष्यामि] मन कर्म और वचन से जो कुछ इस ग्रन्थ में कहूंगा, सो सब सत्य ही सत्य कहूंगा।

[तत्+माम्+अवतु] इसलिये मैं सानुनय प्रार्थना करता हूं कि इस ग्रन्थ की पूर्ति के लिए आप मेरी रक्षा कीजिए।

[तत् वक्तारम्+अवतु] अब मैं वारंवार आप से यही निवेदन करता हूं कि उक्त मुझ सत्यवक्ता की कृपया सर्वथा ही रक्षा कीजिए, जिससे कि आप के आज्ञापालनरूप सत्य कथन में मेरी बुद्धि स्थिर होकर कभी विरुद्ध न हो। ओ३म् शांतिः शांतिः शांतिः ॥

अतएव हमारा आप से अतिशय करके यही विनय है कि हम सब लोगों [उक्त गुरु शिष्यादिकों] के तापत्रय नष्ट हो कर हमारा कल्याण हो।

ओ३म्—भूः—भुवः—स्वः ॥ तत्सवितुर्वरेण्यम्
भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

य० अ० ३६ म० ३

हे+मनुष्याः+यथा+वयम्"=हे मनुष्यों ! जैसे हम लोग भूः=[कर्मविद्याम्]=कर्मकाण्ड की विद्या [कर्मयोग] वा यजुर्वेद भुवः=[उपासनाविद्याम्]=उपासनाकाण्ड की विद्या [उपासनायोग] वा साम वेद स्वः=[ज्ञानविद्याम्]=ज्ञानकाण्ड की विद्या [ज्ञानयोग] वा ऋग्वेद और इस त्रयी विद्या का साररूप ब्रह्मविद्या अथर्ववेद वा [विज्ञानयोग] "अधीत्य"=संग्रह पूर्वक पढ़के "तस्य" देवस्य=[कमनीयस्य] +सवितुः=सकलैश्वर्य प्रदेश्वरस्य यः+नः+धियः+प्रचोदयात् [प्रेरयेत्]

उस कामना करने के योग्य+समस्तैश्वर्य के देने वाले परमेश्वर के कि जो+हमारी+धारणावती बुद्धियों को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए शुभ कर्मों में लगाता है।

तत्=इन्द्रियैरग्राह्य परोक्षम्]

उस इन्द्रियों से न ग्रहण करने योग्य परोक्ष [परमगूढ़ और सूक्ष्म]

वरेण्यम्=स्वीकर्तव्यम्=स्वीकार करने योग्य, उग्र—
भर्गो =सर्वदुःखप्रणाशकं तेजःस्वरूपम्

"और" सर्वदुखों के नाशक

तेःस्वरूप का

धीमहि=ध्यायेम=ध्यान करते हैं।

तथा यूयमप्येतद्ध्यायत=वैसे तुम लोग भी इसी का ध्यान किया करो।

भावार्थः-जो मनुष्य कर्म, उपासना और ज्ञान सम्बन्धि विद्याओं का सम्यक् ग्रहण करके सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य से युक्त परमात्मा के साथ अपने आत्मा को युक्त करते हैं,तथा अधर्म

अनैश्वर्य्य और दुःख रूप मलों को छुड़ा के ऐश्वर्य्य और सुखों को प्राप्त होते हैं। उनको अन्तर्यामी ज्ञानस्वरूप आप ही धर्म के अनुष्ठान और अधर्म का त्याग कराने को सदैव चाहता है।

अतः हे महाविद्यावाचोऽधिपते! बृहस्पते! आप से मेरी यही प्रार्थना है कि आप अवश्य मेरी बुद्धि को विमल कीजिए जिससे कि मैं "ध्यानयोग प्रकाश" नामक इस ग्रन्थ के ग्रन्थन रूप समुद्र को सरलता से पार कर सकूं।

उत्थानिका।

प्राणिमात्र तारतम्य से पृथक् रहकर आनन्द में मग्न रहने की इच्छा रखते हैं, किन्तु अज्ञानवश उस सच्चे सुख को प्राप्त करने का यथोचित उपाय न जानकर, अनुचित कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं उपाय "ध्यानयोग" है, जिसका वर्णन इस पुस्तक में किया जाता है, सुख, सांसारिक और पारमार्थिक भेद से दो प्रकार का है। दोनों ही सुख "ध्यानयोग" से प्राप्त होते हैं। इसही आशय को मन में धारण करके प्रथम वेदमन्त्र द्वारा परमेश्वर से यही प्रार्थना की है कि हे परमकारुणिक परमपिता हमको भद्र नाम दोनों प्रकार के सुखों से परिपूरित कीजिए।

सांसारिक सुख सांसारिक शुभ कर्मों का फल है। और पारमार्थिक सुख परमार्थ सम्बन्धी कल्याणकारी कर्मों का फल है। सो दोनों ही पुरुषार्थ पूर्वक करने से उत्तमफलदायक होते हैं।*

---

*टिप्पणी—जिस से आत्मा शान्त, सन्तुष्ट, निर्भय, तृप्त, हर्षित और आनन्दित होकर सुख माने, उस को सुख जानो

अथ अनुबन्धचतुष्टयवर्णनम्

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते ।
शास्त्रादौतेन वक्तव्यः संबन्धं सप्रयोजनः ॥१॥

१ विषय, २ प्रयोजन, ३ अधिकारी, और ४ सम्बन्ध, इन चार वस्तुओं का नाम अनुबन्ध चतुष्टय है प्रत्येक ग्रन्थ वा कार्य के ये ही चारों प्रधान अवश्य होते हैं अर्थात् इनके बिना किसी कार्य का प्रबन्ध ठीक नहीं होता । इन में से कोई सा एक भी यदि न हो वा अज्ञात हो अर्थात् यथार्थ रूप में स्पष्ट से न जाना वा समझा गया हो तो वह ग्रन्थ वा कार्य खंडित सा जाना जाता वा रहता है । अर्थात् उसका फल वा प्रयोजन यथावत् सिद्ध नहीं होता, इस लिये इन का जता देना अतीव आवश्यक हुआ । जैसा कि उपरोक्त श्लोक में कहा है कि:—

श्रोता सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं प्रवर्त्तते) सुनने वाला सिद्ध अर्थ (मुख्य प्रयोजन) तथा सिद्धसम्बन्ध [मुख्य संबन्ध] को सुनने के लिये प्रवृत्त होता है (तेन शास्त्रादौ सप्रयोजनः सम्बन्धः वक्तव्यः) इस लिये शास्त्र के आदि में प्रयोजनसहित सम्बन्ध को कहना उचित है ॥

और जिस से आत्मा को संकोच, भय, लज्जा, शोक सन्ताप अप्रसन्नता, अशान्ति आदि प्राप्त हो, वहां जानो दुःख वा दुःख का हेतु है । अतः विषय लम्पट जो विषयानन्द में सुख मानते हैं, वह सच्चा सांसारिक सुख नहीं है, किन्तु सांसारिक व्यवहारों का धर्म युक्त वर्त्तमान सांसारिक सुख का हेतु जानो, जिस से आत्मा तृप्त होता है और परिणाम में शुभ फल प्राप्त होता है ।

अर्थात् किसी ग्रन्थ के अध्ययन अध्यापन [पढ़ना पढ़ाना] श्रवण श्रावण [सुनने सुनाने] वा तदनुसार आचरण करने के लिये श्रोता आदि मनुष्यों की प्रवृत्ति रुचि वा उत्कंठा तब ही यथावत् होती है जब कि वे अच्छे प्रकार जान लें कि अमुक ग्रन्थ क्या है उस का विषय क्या है, उस विषय का प्रयोजन वा फल क्या है तथा उस के अनुसार अपना वर्त्तमान [आचरण] रखने वाला कौन और कैसा होना चाहिये और उस का सम्बन्ध क्या है। इन चारों बातों का भली भांति बोध हुवे बिना, वह शास्त्र रुचि कारक नहीं होता। इस हेतु से प्रथम अनुबन्धचतुष्टय का वर्णन कर देना आवश्यक जाना गया, सो क्रमशः कहा जाता है॥ अनुबन्ध चार हैं- विषय प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध॥

(१) विषय सम्पूर्ण वेदादिशास्त्रों के अनुकूल जो "ध्यान योगप्रकाश, नामक यह आत्मविद्या [ब्रह्मविद्या वा योगविद्या] का बोध कराने वाला ग्रन्थ है, इस करके प्रतिपादित [प्रतिपाद्य] जो ब्रह्म उस परब्रह्म की जो प्राप्ति सो ही इस ग्रन्थ का विषय है। अर्थात् इस ग्रन्थ के आश्रय से प्रथम अपने आपे का नाम जीवात्मा का ज्ञान तदुपरान्त अन्त में परमात्मा नाम ब्रह्म का ज्ञान साक्षात् होना है [जिस को ब्रह्म प्राप्ति भी कहते हैं] यही अन्तिम परिणामरूप ब्रह्मप्राप्ति प्रधान विषय जानो॥

(२) प्रयोजन—उक्त ब्रह्मप्राप्ति नामक विषय का फल सब दुःखों की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष सुख है। जिस सत्य सुख की इच्छा सब प्राणी करते हैं और और जिस सुख के परे अधिक कोई सुख नहीं। यही सुख की परम अवधि है। अतः मुक्त होकर मोक्ष सुख को प्राप्त होते

का मुख्य प्रयोजन है । ऐसे महान् उत्कृष्ट फल के "ध्यानयोगप्रकाशाख्य,, ग्रन्थ का सब को आश्रय वा अवलम्बन करना उचित है ॥

॥ अधिकारिभेदनिरूपणम् ॥

(३) अधिकारी—वक्ष्यमाण साधन चतुष्टय में कहे चारों साधनों से युक्त जो कोई मनुष्य [स्त्री वा पुरुष] होता है, वही मोक्ष और ब्रह्म प्राप्ति का परमोत्तम [श्रेष्ठ] अधिकारी माना जा सकता है । सो मोक्ष की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु वा ब्रह्म की प्राप्ति रूप खोज में तत्पर जिज्ञासु को उत्तम अधिकारी बनने के लिये प्रबल प्रयत्न और अत्यन्त पुरुषार्थ पूर्वक साधन चतुष्टय का अनुष्ठान निरन्तर और निरास हो कर करना अतीव उचित है ॥

ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु तथा मुमुक्षु को योगाभ्यास करना उचित है । पूर्ण योगी होने के निमित्त उसको पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिये और उस पूर्ण अधिकारी में प्रधानतया इतने लक्षण होने चाहिये, जो नीचे लिखे हैं ।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् । यो० पा० १ सू० २० ॥

अर्थात् (१) श्रद्धा—परमात्मा में विश्वास पूर्वक दृढ़ भक्ति और प्रेम भाव तथा वेदादि सत्य शास्त्रों और आप्त विद्वानों के उपदेशादिक वाक्यों में निर्भ्रान्तम और अटल विश्वास रखने को श्रद्धा कहते हैं ॥ १ ॥

(२) वीर्य—उक्त श्रद्धा के अनुसार आचरणादि करने में तीव्र उत्साह, उत्कण्ठ वा हर्ष पूर्वक पुरुषार्थ अर्थात् अनेक

विघ्न उपस्थित होनेपर भी प्रयत्नरूप उद्योगको न त्यागना सदा उद्योगी और साहसी होकर योगाभ्यास के अनुष्ठान में निरन्तर तत्पर रहना वीर्य कहाता है। ऐसे पुरुषार्थ से योगवीर्य [योग का सामर्थ्य वा बल] प्राप्त होता है, इसी कारण इस पुरुषार्थ को वीर्य कहते हैं॥

(३) स्मृति—जो शिक्षा वा उपदेश गुरुमुख वा विद्वानोंसे ग्रहण किया हो उसका यथावत् स्मरण रखना, भूलना नहीं और वेदादि सत्य शास्त्रोक्त अधीत ब्रह्मविद्या को भी याद रखना स्मृति कहाती है

(४) समाधि—समाहित चित्त अर्थात् चित्त की सावधानता वा एकाग्रता समाधि कहाती है॥

(५) प्रज्ञा—निर्मल बुद्धि जिस से कि कठिन विषय भी शीघ्र समझमें आसके तथा उस में किसी प्रकार का संशय संशय, शंका वा भ्रान्ति न रहे ऐसी विमल ज्ञानकारिणी बुद्धि को प्रज्ञा जानो॥

अनुबन्धचतुष्टय ।

तीव्र श्रद्धावान् जिज्ञासु को ही योगबल नाम वीर्य प्राप्त होता है॥ १॥ उक्त पुरुषार्थ युक्त उत्साही योगी अर्थात् योग बल प्राप्त मुमुक्षु को तद्विषयक स्मृति भी रहती है॥ २॥ स्मृति की यथावत स्थिति होने पर चित्त आनन्दमय होकर सावधान होजाता है अर्थात् समाधि भी प्राप्त होती है॥ ३॥ यथावत समाधि का परिणाम प्रज्ञा है अर्थात् सत्यासत्य का निर्णय करके वस्तु को यथार्थ रूप से जान लेने का जो विवेक है उस विवेक का साधन रूप जो अन्तःकरण की विमल शुद्धि और निश्चयात्मिक वृत्ति है उस वृत्ति का नाम प्रज्ञा है और

प्रज्ञा का साधन समाधि है तात्पर्य यह है कि समाधि प्राप्त होने से विवेक [यथार्थज्ञान] की सत्ता होती है जिस विवेक द्वारा निरन्तर योगाभ्यास करते रहने से असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है जिसमें जीवात्मा को निजस्वरूप का यथार्थ निर्भ्रान्त ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

पूर्वोक्तसूत्रगत इतरेषाम् पद का अभिप्राय यह है कि जीवन्मुक्त अर्थात् श्रेष्ठकोटिके योगियों से भिन्न मध्यम कनिष्ठ आदि योग्यता वा कक्षा वाले अथवा नव शिक्षित योगियों में मुमुक्षुत्व की सम्भावना तब हो सकती है कि जब वे लोग उक्त श्रद्धा आदि लक्षणों से युक्त होजावें अतः उन को उचित है कि विद्वानो के संग से उपदेशों का अभ्यास करके उक्त लक्षणों से युक्त होकर मुमुक्षु जिज्ञासु वा योगपने की योग्यता वा अधिकार प्राप्त करें अर्थात् अधिकारी बनें ॥

पातंजल योगशास्त्रानुसार तीन प्रकार के अधिकारियों के १८ भेद इस रीती से होजाते हैं कि योगसाधन के उपाय तीन प्रकार के है । १ मृदु २ मध्य और ३ अधिमात्र । अतः नतन योगिजन वा अधिकारी तीन ही प्रकार के हुए ॥१ मृदुपाय अधिकारी २ मध्योपाय अधिकारी और३ अधिमात्रोपाय अधिकारी ॥

फिर संवेग नाम क्रिया हेतु दृढ़ तरसंस्कार अर्थात् जन्मान्तरीय संस्कार जन्म क्रियाकी गति के मृदु मध्य मन्द और तीव्र भेद से तीन प्रकार इन अधिकारियों में होते हैं ॥ अतः पूर्वोक्त तीन प्रकार के प्रत्येक अधिकारी के संवेग भेद से तीन तीन भेद होने से नव प्रकार के अधिकारी होते हैं फिर अधिकारियों के पुरुषार्थ के तीव्र और अतीव्र भेदभाव से, दो दो भेद होकर नव के द्विगुण नाम अठारह भेद हो जाते हैं ॥ यथा—

| १ मृदूपाय मृदुसंवेग अतीव्र अधिकारी
| २ मृदूपाय मृदुसंवेग तीव्र अधिकारी
१ | ३ मृदूपाय मध्यसंवेग अतीव्र अधिकारी
| ४ मृदूपाय तीव्रसंवेग तीव्र अधिकारी
| ५ मृदूपाय तीव्रसंवेग तीव्र अधिकारी
| ६ मृदूपाय तीव्रसंवेग तीव्र अधिकारी
| ७ मध्योपाय मृदुसंवेग अतीव्र अधिकारी
| ८ मध्योपाय मृदुसंवेग तीव्र अधिकारी
| ९ मध्योपाय मध्यसंवेग अतीव्र अधिकारी
| १० मध्योपाय मध्यसंवेग तीव्र अधिकारी
२ | ११ मध्योपाय तीव्रसंवेग अतीव्र अधिकारी
| १२ मध्योपाय तीव्रसंवेग तीव्र अधिकारी
| १३ अधिमात्रोपाय मृदुसंवेग अतीव्र अधिकारी
| १४ अधिमात्रोपाय मृदुसंवेग तीव्र अधिकारी
३ | १५ अधिमात्रोपाय मध्यसंवेग अतीव्र अधिकारी
| १६ अधिमात्रोपाय मध्यसंवेग तीव्र अधिकारी
| १७ अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग अतीव्र अधिकारी
| १८ अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग तीव्र अधिकारी

संक्षेप से मुख्य२ ये अठारह भेद कहे गये हैं, किन्तु पूर्वोक्त योग सूत्रानुसार श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि प्रज्ञा आदि अधिकारियों के लक्षण भेद, साधन चतुष्टयोक्त साधनोपसाधनों के भेद तथा वर्ण भेद सत्व रज तम आदि त्रैगुण्यभेद, सत्संगजन्यभेद तापत्रय वा शान्तित्रयभेद, इत्यादि शारीरिक, मानसिक और आत्मिक गुणों के भेद, भावाऽभाव, न्यूनाधिक्य तारतम्य, समता, विषमता आदि अनेक कारणों करके अधि-

कारी जनों के अगणित भेद होते हैं, वे सब इन ही १८ भेदों के अन्तर्गत वा अवान्तर भेद जानो।

(३) सम्बन्ध-पूर्वोक्त ब्रह्मप्राप्तिनामक " विषय " तथा उसके फल वा प्रयोजन नामक पूर्वोक्त " मोक्षसुख " इन दोनों का " ध्यानयोगप्रकाश " ग्रन्थ के साथ प्रतिपाद्य प्रतिपादक सम्बन्ध हैं।

ब्रह्म (ईश) और अधिकारी (जीव) का अनुक्रम से उपास्य उपासक, सेव्य सेवक, पूज्य पूजक, प्राप्य प्रापक ध्येय ध्याता, ज्ञेय ज्ञाता, प्रमेय प्रमाता, व्यापक व्याप्य, जनक जन्य और पिता पुत्र आदि सम्बन्ध हैं।

विषय और अधिकारी का प्राप्य प्रापक सम्बन्ध है।

इसी प्रकार प्रयोजन और अधिकारी का भी प्राप्य प्रापक ही सम्बन्ध है।

अधिकारी और ग्रन्थ का बुध्य बोधक, ज्ञाता ज्ञापक, प्रमाता प्रमाण सम्बन्ध है।

अर्थात् अधिकारी जब ग्रन्थोक्त वाक्यों के प्रमाण से पूर्ण (ज्ञान) प्राप्त करके परमात्मा की उपासना करता है, तब उस (अधिकारी जीव) को ग्रन्थोक्त इष्ट विषय 'ब्रह्म' तथा अभीष्ट प्रयोजन 'मोक्षसुख' की यथावत् प्राप्ति होती है।

उक्त बोध (ज्ञान) अधिकारी को गुरुकृपा बिना यथार्थ रूप से नहीं होता अर्थात् गुरु और शिष्य का अध्यापक अध्येता ज्ञापक ज्ञाता, पिता पुत्र, सेव्य सेवक, पूज्य पूजक, सम्बन्ध है।

उक्त सब पदार्थों और उनके सम्बन्ध को यथावत् समझ कर अन्वित करना जिज्ञासु (मुमुक्षु) को अति उचित है।

उपक्रम ।

वेद प्रचार हैं — ऋग, यजुः, साम, और अथर्व, किन्तु वास्तव में वेद विद्या तीन ही हैं । चौथी जो अथर्व वेद विद्या है, सो पूर्व के तीन वेदों का ही सारांशरूप तत्व है। अतः वेदत्रय भी कहा जाता है । उक्त तीन वेदों के काण्ड भी तीन ही हैं । अर्थात् ज्ञान, कर्म और उपासना; चौथा काण्ड विज्ञान कहाता है सो इन ही तीन काण्डों का सार तत्व है अर्थात् उपासना-काण्ड के ही अन्तर्गत है। ये तीनों काण्ड तीनों वेदों में इस प्रकार विभक्त है किः—

(१) ज्ञान काण्ड ऋग्वेद है कि जिसमें ईश्वर से लेकर पृथिवी और तृणपर्यन्त समस्त पदार्थों की स्तुति और परिभाषा द्वारा ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् का बोध (ज्ञान) कराया है जिस ज्ञान के प्राप्त होने के कर्म में प्रवृत्ति और योग्यता होती है ।

(२) कर्मकांड यजुर्वेद है, जिस में सम्पूर्ण धर्मयुक्त सांसारिक और पारमार्थिक कर्मों का विधान है, जिनका फल उपासना है ।

(३) उपासना काण्ड सामवेद है, जिसका फल विशेषज्ञान (विज्ञान) अर्थात् ब्रह्मविद्या है । जिसका परिणाम ब्रह्मज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति है । सो ब्रह्मविद्या ही उपासना कांण्ड का तत्व साररूप अङ्ग अथर्ववेद वा परा विद्या जानो । इस आशय से ही इस "ध्यानयोग-प्रकाश" ग्रन्थ के तीन अध्यायों में योगविद्या (ब्रह्मविद्या) को तीन खण्डों में विभक्त किया है । अर्थात्—

(१) प्रथमाध्याय में "ज्ञानयोग" कहा है । जिसमें संसारस्थ और देहस्थ पदार्थों का संक्षिप्त वर्णन है । इस "ज्ञान-

योग" को ही "सांख्ययोग" "ज्ञानकाण्ड" और "ऋग्वेदविद्या" जानो।

(२) दूसरे अध्याय में "कर्मयोग" का विधान है। जिसके अनुष्ठान से मुमुक्षुजनों को उत्तमाधिकार की प्राप्ति होती है। "कर्मयोग" का ही "कर्मकाण्ड" वा "तपोयोग" और यजुर्वेदसम्बन्धी विद्या जानो।

(३) तीसरे अध्याय में "उपासनायोग" की व्याख्या है जिस के दो अंग हैं—"समाधियोग" और "विज्ञानयोग"

"संप्रज्ञातसमाधि" पर्यन्त "उपासनायोग को समाधियोग" जानो, क्योंकि अधिक दृढ़भक्ति प्रेम श्रद्धा आदि पूर्वक पुरुषार्थ का फल "सम्प्रज्ञातसमाधि" है और "असम्प्रज्ञात" तथा "निर्विकल्पसमाधि" को विज्ञानयोग जानो, जिसमें कि विशेषज्ञान अर्थात् आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार (ज्ञान) होता है। विज्ञानयोग को ही विज्ञानकाण्ड या परविद्या जानो, जोकि वेदान्तादि पट्शास्त्रों ने से केवल योगशास्त्र द्वारा सिद्ध होती है। अतः योगशास्त्रान्तर्गत ध्यानयोग क्रिया ही प्रधान परा विद्या प्रसिद्ध है, जिससे कि मुक्ति प्राप्ति होती है।

अथ ज्ञानयोगः

अब ब्रह्मज्ञान तथा मोक्षप्राप्तिहेतुक योगादि षड्दर्शनान्तर्गत द्वादश उपनिषत्नामक वेदान्तग्रन्थों में से श्वेताश्वतराख्य उपनिषद्के अनुसार आरम्भ करके वेदादि सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से अलङ्कृत ज्ञान योग को (जिसको ज्ञानकाण्ड वा सांख्ययोग भी कहते हैं) व्याख्या की जाती है। यही ज्ञान-

योग वेदचतुष्टयान्तर्गत ऋग्वेद का प्रधान विषय है कि जिस के आश्रय से जगत् के उपादानकारण प्रकृति तथा प्रकृति के कार्य सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों का बोध प्राप्त करके प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध को जान कर परमात्मा का निश्चयात्मक विश्वास जब होता है, तब जिज्ञासु की रुचि श्रद्धा भक्ति प्रेम अपने कल्याणकर्त्ता परमात्मा के साक्षात् स्वरूप को जानने की ओर झुकती है और तब ही जन्म मरण जरा व्याधिमय ताप-त्रय के विनाशक योगाभ्यासरूप उपाय या पुरुषार्थ पूर्वक प्रयत्न करने की दृढ़ प्रवृत्ति भी होती है। एतन्निमित्त प्रथम उक्त रोचक विषय का ही वर्णन करना उचित जाना गया।

इस ही रुचिवर्द्धक विषय को प्रधान (प्रथम श्रेणि) जान कर अनेक ब्रह्मवादी ऋषिजन निज कल्याण के अभिलाष रखने वाले जिज्ञासु जनों की आशा पूर्ण करने के अभिप्राय से ही श्वेताश्वतरोपनिषत् के आदि में वक्ष्यमाण प्रकार से निर्णय करने को सन्नद्ध हुए थे।

ओ३म् ब्रह्मवादिनो वदन्ति।

उक्त श्वेताश्वतरादि ब्रह्मनिष्ठ महर्षिगण ने एक समय किसी स्थान में एकत्र उपस्थित होकर वक्ष्यमाण दो श्लोकों को में १६ प्रश्न स्थापित किये।

जगत् का कारण

किं कारणं[1] ब्रह्म कुतः[2] स्म जाताः,
जीवाम[3] केन क्व[4] सम्प्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः[5] केन सुखेतरेषु,
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥ १॥

श्वेता० उप० अ० १ श्लोक १॥

[हे ब्रह्मविदः] हे ब्रह्म के जानने वाले भद्र पुरुषों !

(१) (कारणं+ब्रह्म+किम्) कारण ब्रह्म क्या है।

(२) (कुतः+जाताः+स्म) किसने हम सब उत्पन्न किये हैं।

(३) (केन+जीवाम) यह सब लोग किस से जीते हैं। अर्थात् हमारा प्राणाधार, प्राणप्रद वा जीवनहेतु कौन वा क्या है कि जिसकी सत्ता से हम जगत् की स्थितिदशा में जीवित रहते हैं।

(४) (क्व+च+संप्रतिष्ठाः) और प्रलयावस्था में कहां वा किस आधार पर हम सब स्थित रहते हैं।

(५) (केन+अधिष्ठिताः+सुखेतरेषु+व्यवस्थाम्+वर्त्तामहे) और किस के+नियत किये हुवे हम सब लोग+सुखों और दुःखों में+नियम को+वर्त्तते हैं अर्थात् हमारे सुख वा दुःख के भोगों को प्राप्त कराने की ऐसी व्यवस्था कौन करता है कि जिसका उल्लंघन न करने पराधीनता से हम भोगते हैं। इस व्यवस्था का नियामक कौन है।

१ २ ३ ४
काल, स्वभावो नियतिर्यदृच्छा,
५ ६ ७
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
८ ९–१०
संयोगएषां नत्वात्मभावा—
११
दात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥

श्वेता० उप० अ० १ श्लो० २

पूर्वश्लोकगत ५ प्रश्न स्थापित करके फिर अन्य प्रश्न इस प्रकार स्थापित किये कि क्या वक्ष्यमाण पदार्थों में से कोई एक २ पदार्थ या उनके समूह का मेल जगत् का कारण ब्रह्म है वा कोई और है। अर्थात्—

(१) (कालः) क्या काल ही सृष्टि का कारण ब्रह्म है!

(२) (स्वभावः) क्या पदार्थों का नियत धर्म वा स्वाभाविक गुण सृष्टि का कारण है!

[३] [नियतिः] क्या प्रारब्ध वा सञ्चित कर्म ही कारण ब्रह्म है!

[४] [यदृच्छा] जब किसी कार्य का कारण किसी प्रकार से भी निश्चित नहीं होता, तब मनुष्य को लाचार होकर यही कहना पड़ता है कि यह ईश्वर की इच्छा से हुआ। ऐसे किसी आश्चर्यजनक, अप्रयास, अनायास वा अकस्मात् उपस्थित वा इन्द्रियगोचर हुए कार्य के अप्रज्ञात, अप्रतर्क्य और परोक्ष [गूढ़] कारण को यदृच्छा कहते हैं, सो यह चौथा प्रश्न उठाया कि क्या यदृच्छा ही कारण ब्रह्म है वा कुछ और!

[५] [भूतानि] यावत्ति, अप्, तेज, मरुत, व्योम, नामों से प्रसिद्ध पंचभूत ही कारण है।

[६] [योनिः] यद्वा इन पांचों तत्वों की जननी [सत्व रज, तम की साम्यवस्था] जिसको प्रकृति कहते हैं, कारण ब्रह्म है!

[७] [पुरुषः] वा जीवात्मा अथवा परमात्मा कारण ब्रह्म है

[८] [एषां संयोगः] अथवा उन पूर्वोक्त कालादि पुरुषान्त सातों पदार्थों का संयोग ही कारण क्या ब्रह्म है।

[न तु] परन्तु इन आठों पक्षों में से कोई भी

पद यथार्थ नहीं जाना जाता क्यों कि कालादि योनि-पर्यन्त पूर्वोक्त छः पदार्थ तो केवल जड़ ही हैं इनमें कोई स्वतन्त्र सामर्थ्य नहीं है। अतएव—

[९–१०] [आत्मभावात्–'पुरुष एव कदाचित् कारणं भवेत् स्यात्] अर्थात् चेतन और व्यापक होने से कदाचित् जीवात्मा वा परमात्मा ही कारण भले हों, यह बात 'आत्मभावात्' पद से जताई गई।

[११] [आत्मा अपि अनीशः सुख दुःखहेतोः) फिर विचार करने से जाना गया कि परमात्मा तथा जीवात्मा इन दोनों में से सुखदुःखादि भोगों का हेतु होने करके जीवात्मा तो पराधीन और असमर्थ है अर्थात् जीवात्मा सुख की आशा करता है और दुःख से बचा रहता है, तथापि परवश होकर अनभिलषित अनिष्ट दुःख भोग उसको भोगने ही पड़ते हैं और सर्वव्यापक भी नहीं है, इस लिये ऐसा प्रतीत पड़ता है कि इन सबसे प्रबल सबका नियन्ता सबको अपने वश में रखने वाला सर्वव्यापक और स्वतन्त्र अन्य ही कोई इससृष्टि का कारण है। (इति चिन्त्यम्) यह निश्चय करणीय पक्ष है अर्थात् इस पर फिर अच्छे प्रकार ध्यान पूर्वक दृढ़ विचार करके निश्चय करना चाहिये यह कहकर ध्यानयोगसमाधिद्वारा जो कुछ उक्तऋषिगण ने जिस प्रकार निश्चय किया सो अगले श्लोक में कहा है।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।

यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥३॥
श्वेता० उप० अ० १ श्लो ३॥

(ते ध्यान योगानुगताः) सृष्टि की उत्पत्ति के प्रधान आदि कारण के खोजने रूप विचार में प्रयुक्त हुए उन ब्रह्म वादी योगी जनो ने ध्यान योग पूर्वक चित्त की एकाग्र तदाकारवृत्ति सम्पादित समाधिद्वारा (स्वगुणैर्निगूढां देवात्मशक्तिम् * अपश्यन्) उस अचिन्त्य ईश्वर के निज गुणों कर के गूड़ (गुप्त) और केवल अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य, सब देवों के महादेव उस परमात्मा की आत्म शक्ति (महान् सामर्थ्य) को ज्ञानदृष्टि से निश्चय अनुभव करके पहिचाना कि मुख्य कारण तो वही एक सब आत्माओं का आत्मा, अनन्तशक्ति वा सामर्थ्य वाला परमात्मा तथा उस की शक्ति ही है॥

(यः+एकः+कालात्मयुक्तानि+ तानि+निखिलानि+कारणानि+अधितिष्ठति) जो-स्वयं असहाय अकेला ही कालादि जीवान्त-उन-सब-कारणों का अधिष्ठाता है॥

---

*टिप्पणी—देवात्मशक्तिम्, इस पद का दूसरा अर्थ यह भी है कि देवनाम परमात्मा, आत्मा नाम जीवात्मा और शक्ति नाम प्रकृति इन जीव, प्रकृति और ईश तीनों को जगत् का कारण जाना अर्थात् यह निर्णय किया कि परमात्मा तो कालादि अन्य कारणों से भिन्न स्वतन्त्र सब का अधिष्ठाता और निमित्त कारण है। अन्य कारणों में से काल नियति (प्रारब्ध) यदृच्छा और जीव ये चारों भी जगत् के निमित्त कारण तो हैं, परन्तु परमेश्वर के आधीन हैं। और प्रकृति तथा उस के कार्य पञ्चसूक्ष्म भूत (तन्मात्र) और पञ्चस्थूल भूत तथा+

निमित्त कारण ।			उपादान कारण ।
सबका अधिष्ठाता, प्रधान, स्वतन्त्र, चेतन, और निमित्त कारण	परतन्त्र, चेतन और निमित्त कारण	परतन्त्र जड़ और निमित्त कारण	परतन्त्र, जड़ और उपादान कारण
चेतन		जड़	
१ परमात्मा	(२) जीवात्मा	(३) काल (४) नियति वा। प्रारब्ध । (५) यदृच्छा	(६) योनिः (अव्यक्त अनादि कारण प्रकृति) पञ्चतन्मात्र (सूक्ष्मभूत) (७) पृथिवी । (८) जल । (९) अग्नि । और पञ्चस्थूल भूत (१०) वायु । (११) आकाश । (१२) स्वभाव (१३) संयोग (जड़ चेतन निमित्त और उपादानादि सब कारणों का संयोग भी एक तेरहवाँ का कारण माना गया)

अर्थात् पूर्व श्लोक में जो काल से लेकर पुरुषपर्यन्त कारण कहे हैं, उन सब को वही एक परमात्मा अपने नियमों के अनुकूल अपने ही आधीन रख कर उन से सृष्टि रचता है। अतः प्रधान गौण सब मिला कर सृष्टि की उत्पत्ति के १३ कारण हुए। उन के दो भेद हैं, एक तो निमित्त कारण और दूसरा उपादान कारण। चेतन (वा स्वतन्त्र) तथा जड़ (वा परतन्त्र) भाव से निमित्त कारणों के फिर भी दो भेद हैं, जो उपरोक्त कोष्ठक में पृथकर दिखाये गये हैं॥

ध्यान योग द्वारा निश्चयात्मक बुद्धि पूर्वक जाने हुए जगत् के कारण की पुष्टि फिर भी छटे अध्याय के आरम्भ में, ग्रन्थ की समाप्ति होने से पूर्व स्पष्ट कर के उन श्वेताश्वतरादिक महर्षियों ने ब्रह्मविद्या जिज्ञासुओं का विश्वास दृढ़तर निश्चित करने के लिये इस प्रकार की है कि—

स्वभावमेके कवयो वदन्ति
कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैव महिमा तु लोके,
येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥ ४॥
श्वेता० अ० ६ श्लो० १

(येन इदं ब्रह्मचक्रम भ्राम्यते) जगत् के जिस कारण कर के यह ब्रह्मचक्र घुमाया जाता है।

+स्वभाव और इन सब कारणों का संयोग, ये सब जड़ होने के कारण सर्वथा परतन्त्र ही हैं। इस प्रकार सब मिल कर जगद्रचना के त्रयोदश कारण हुए। अत एव सारांश यही उन ऋषियों ने निकाला कि परमात्मा तथा उस की महिमा (सामर्थ्य वा शक्ति) ही सर्वोपरि प्रधान कारण सृष्टि का है

(तम् एके परिमुह्यमानाः कवयः स्वभाव वदन्ति) उस कारण को कोई २ अज्ञानी पण्डितजन स्वभाव बतलाते हैं।

(तथा अन्ये परिमुह्यमानाः) (कवयः) कालम् (वदंति)

तथा अज्ञानान्धकार से आच्छादित संशयात्मक वा भ्रमात्मक बुद्धि से मोहित लोक में पण्डित नाम की उपाधि से सिद्ध अन्य लोग काल ही को जगत् का कारण बताते और मानते हैं।

(तु = इति वितर्के) परन्तु वास्तव में इस विषय का मर्म वा यथार्थ भेद तो ब्रह्मज्ञान परायण तत्वज्ञानी योगी जनों ने यही निश्चय किया है कि—

(लोके देवस्य महिमा एवास्ति "येन महिम्ना इदं ब्रह्मचक्रम् भ्राम्यते) संसार में उस परब्रह्म परमात्मा की केवल एक महिमा ही प्रधान कारण है कि जिस से यह समस्त ब्रह्मचक्र घुमाया जाता है।

परमेश्वर की इस महिमा का महत्व अगले वेद मन्त्र से भी सिद्ध है:—

ओम्—एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पुरुषः।
पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
यजु० अ० ३१ मं० ३॥ भू० पृ० १२१ सृष्टिविषय

(अस्य = जगदीश्वरस्य) इस जगदीश्वर का (एतावान् दृश्यादृश्यं ब्रह्माण्डरूपम्) यह दृश्य और अदृश्य ब्रह्माण्ड (महिमा = माहात्म्यम्) महत्वसूचक है (अतः = अस्मात् ब्रह्माण्डात्) इस ब्रह्माण्ड से (पुरुषः = अयं परिपूर्णः परमात्मा) वह सर्वत्र व्याप्त एक रस परिपूर्ण परमात्मा

(ज्यायान् = अतिशयेन प्रशस्तो महान्) अति प्रशंसित और बड़ा है।

(च+अस्य=अस्य परमेश्वरस्य च) और इस परमेश्वर के (विश्वा+भूतानि=सर्वाणि पृथिव्यादीनि भूतानि) सब पृथिव्यादि चराचर जगत्

एकः पादः=एकांशः) एक अंश है

(अस्य त्रिपादः+अमृतं+दिवि वर्त्तते=अस्य जगत्स्रष्टुः त्रयः पादाः यस्मिन् तन्नाशरहितं द्योतनात्मके स्वस्वरूपे वर्त्तते इस जगत्स्रष्टा का तीन अंश नाशरहित महिमा द्योतनात्मक अपने स्वरूप में हैं ॥

अथ ब्रह्मचक्रवर्णनम् ।

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तम्,
शतार्द्धारं विंशति प्रत्यराभिः ॥
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशम्,
त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥*

श्वेता० उ० अ० १ श्लो० ५

(एकनेमिम्) एक वुद्धि से वने हुए ।

(त्रिवृतम्) सत्व रज तम रूप ३ परिधियों से घिरे हुए ।

(षोडशान्तम्) सोलह पदार्थों में ही अन्त को प्राप्त हो जाने वाले

(शतार्द्धारम्=शत-अर्ध-अरम्) पञ्चास अरों से सुगुम्फित जड़े हुए

(विंशति प्रत्यारभिः) वीस पच्चरों से सुदृढ़तापूर्वक अचल अटल ठुके हुए

(अष्टकैःषड्भिः) छः अष्टकों से जुड़े हुए ।

(विश्वरूपैकपाशम्) विश्वरूपकामना (तृष्णा) मय एक ही बन्धन (फन्दे) में अकड़ कर बंधे हुए

(त्रिमार्गभेदम्) तीन मार्गों के भेदभाव से युक्त या तीन भिन्न मार्गों में घूमने वाले

(द्विनिमित्तैकमोहम्) दो निमित्तों तथा एक मोह में फंसे हुए

"ते+ब्रह्मचक्रम्—" (इत्यधिकः)=उस ब्रह्मचक्र को "तं ध्यानयोगानुगता ब्रह्मवादिन+अपश्यन्"—इति पूर्वश्लोकानुवृत्तिः ध्यानयोगमें प्रवृत्त हुए उन ब्रह्मवादी महर्षियों ने अनुसंधान करके ज्ञानदृष्टि से निश्चित किया।

*इस श्लोक में ब्रह्माण्डचक्र (ब्रह्मचक्र व संसारचक्र) का वर्णन है अर्थात् जगत् को रथ में पहिये के तुल्य मानकर रूपकालङ्कार में उसकी व्याख्या की है।

अब रूपकालंकार में वर्णित ब्रह्मचक्र के सांगोपांग सम्पूर्ण पदार्थों का सविस्तर विवरण किया जाता है।

(१) (नेमि=पुट्ठी-) जैसे गाड़ी के पहिये में सबसे ऊपरली वर्तुलखण्डाकार गोलाई में झुके हुए काष्ठखण्डों से जुड़ी हुई एक पुट्ठी नामकपरिधि होती है, वैसे ही ब्रह्मचक्र में १ पुट्ठस्थानी प्रकृति जानो, जिस को अव्यक्त, अव्याकृत, प्रधान, प्रकृति भी कहते हैं। सत्व रज तम की साम्यावस्था भी इस ही को कहते हैं ॥ यही ब्रह्मचक्र की जो प्रकृतिनाम्नी नेमि है, सो महतत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा, दश इन्द्रिय, पांच स्थूलभूत, पदार्थों की कि जो क्रमशः उत्तरोत्तर अपने से पूर्व २ के तथा पूर्व २ की अपेक्षा स्थूल भी हैं; योनि नाम उत्पन्न करने वाली माता है; अर्थात् सत्व रज तम इन तीनों का जो अत्यन्त सूक्ष्मरूप में स्थित होना है, उसको प्रकृति कहते हैं। वही नेमि नाम से यहां बताई गई है।

(२) (त्रिवृतम्) गाड़ी के पहिये की तीन परिधियां होती हैं। एक तो पुट्ठी के ऊपर चढ़ी हुई लोहे की हाल, दूसरी पुट्ठी और तीसरी पहिये के केन्द्रस्थानी नाभि (नाह) जो गाड़ी के कीलक नाम धुरे पर घूमा करती है और जिस में अरे जड़े जाते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मचक्र में भी तीन ही परिधियां जानो अर्थात् प्रकृति के पृथक् पृथक् तीनों गुण सत्व रजस् और तमस्।

(३) (षोडशान्तम्) रथ नाम गाड़ी के पहिये की पुट्ठी पर जो हाल लगी है, वही उस पहिये की अन्तिम परिधि है उससे आगे पहिये का कोई अंग या भाग नहीं होता, मानों वही रथ चक्र की परमावधि और उस ही के अन्तर्गत सारा पहिया रहता हैं। उस लोहे की हाल में कीलें ठुकी होती हैं, जिनसे कि वह पुट्ठी पर जमी और चिपकी रहती हैं। उक्त कीलों के सदृश ही संसारचक्र नाम ब्रह्मचक्र की सोलह १६ कला हैं अर्थात् सम्पूर्ण विश्व वा ब्रह्माण्ड उन ही के अन्तर्गत है, उनसे बाहर कुछ भी नहीं। वे कला ये हैं।

१६ पदार्थ	१६ पदार्थ	(१) प्राण	(९) मन
मतान्तर से	मतान्तर से	(२) श्रद्धा	(१०) अन्न
१० इन्द्रिय	१ विराट्	(३) आकाश	(११) वीर्य पराक्रम
१ मन	१ सूत्रात्मा	(४) वायु	(१२) तप (धर्मानुष्ठान)
५ भूत	१४ लोक	(५) अग्नि	(१३) मंत्र वेदविद्या)
	(भुवन)	(६) जल	(१४) कर्म चेष्टा
		(७) पृथिवी	(१५) लोक और अलोक
१६	१६	(८) दशइन्द्रिय	(१६) नाम

(४) (शताद्धारम्) रथचक्र में नाभि से पुट्टीपर्यन्त व्यासार्द्ध-वत् अनेक अरे नाम काष्ठदण्ड लगे होते हैं, सो इस ब्रह्मचक्र में भी ५० अरे गिनाये गये हैं, उन सबकी व्याख्या आगे की जाती है। यथा (क) पांच अविद्या वा मिथ्याज्ञान के भेद ५

(ख) अट्ठाईस प्रकार की शक्तियां और अशक्तियां २८

(ग) नव प्रकार तुष्टियां ९

(घ) आठ प्रकारकी सिद्धियां ये सब मिलकर पचास अरे हैं ५० ८

(क) अविद्या के पांच भेद हैं। जो मतान्तर से दो प्रकारों में विभक्त हैं।

* पञ्चक्लेश		पांच मिथ्याज्ञान ‡
१ अविद्या		१ तमस्
२ अस्मिता	अथवा	२ मोह
३ राग	मतान्तर से	३ महामोह
४ द्वेष		४ तामिस्र
५ अभिनिवेश		५ अन्धतामिस्र

टिप्पण* इन पांच क्लेशों की व्याख्या आगे की जायगी।

‡ (१) तमस्=मन, बुद्धि, अहंकार ये तीन और पांच तन्मात्रा प्रकृति के इन आठ कार्यों में (जो जड़ है) आत्मबुद्धि का होना अर्थात् इनको चेतन आत्मा जानना यह आठ प्रकार का तमस् है।

[१] अणिमा [२] महिमा [३] गरिमा [४] लघिमा [५] प्राप्ति [६] प्राकाम्य [७] ईशत्व और [८] वशित्व अर्थात्—

अणिमा = अपने शरीर को अणु के समान सूक्ष्म कर लेना।

महिमा = " " बहुत बड़ा कर लेना।

गरिमा = " " बहुत भारी कर लेना।

लघिम = " " बहुत हल्का कर लेना।

प्राप्त = कोई पदार्थ चाहे कितनी ही दूर हो, उसको छू सकना या प्राप्त कर लेना। यथा चन्द्रमा को अंगुलि से छू या पकड़ लेना।

प्राकाम्य = इच्छा का विघात न होना अर्थात् इच्छा का पूर्ण हो जाना।

ईशत्व = शरीर और अन्तःकरणादि को अपने वश में करलेना तथा सम्पूर्ण ऐश्वर्य भोगों और भौतिक पदार्थों के प्राप्त कर लेने में समर्थ होना।

वशित्व = सब प्राणिमात्र को अपने वश में ऐसा कर लेना कि कोई भी अपने वचन का उल्लङ्घन न कर सके यह आठ प्रकार का मोह कहाता है।

---

(३) महामोह = दश इन्द्रियों के दश विषयों के भोगने योग्य परोक्ष [अर्थात् मरण उपरान्त अन्य देह या लोक में प्राप्तव्य] वा अपरोक्ष [वर्तमान देह से प्राप्तव्य और,

---

(२) मोह = अर्थात् उक्त अणिमादि योगसिद्धियों में जो देह छूटने के पश्चात् मुक्त जीवों को प्राप्त होती हैं, यह विश्वास रखना कि जीवित दशा में प्राचीन योगियों को प्राप्त हो चुकी हैं, अतः हमको भी प्राप्त होना सम्भव है। इस भ्रम से आप अन्यों के धोखे में आजाना अथवा अन्यों को स्वयं ठगना। वे आठ सिद्धियां ये हैं—

भोक्तव्य] भोगों की तृष्णा अत्यन्त मोहित होकर में तीव्र उत्कण्ठा रखना और धर्माधर्म का विचार छोड़ कर उसके उपाय में अहर्निश तत्पर रहना, यह दश प्रकार का महामोह है।

(४) तामिस्र = दशों इन्द्रियों के भोग जो दृष्ट और अदृष्ट होने के कारण दो २ प्रकार के पूर्व कहे गये हैं, उनको पूर्वोक्त ८ प्रकार की सिद्धियों के साथ भोगने की इच्छा से प्रयत्न वा पुरुषार्थ करने पर भी जब ये भोग प्राप्त नहीं होते वा विघ्नों के कारण सिद्ध नहीं हो सकते, इस प्रकार भोग अप्राप्त होने की दशा में क्रोध उत्पन्न होता है, उसको तामिस्र कहते हैं, जो आठ सिद्धियों तथा दश इन्द्रियों के विषयों से सम्बन्ध रखने के कारण १८ प्रकार का कहाता है।

(५) अन्धतामिस्र = तामिस्र की व्याख्या में गिनाये गये १८ प्रकार के दृष्ट वा अदृष्ट भोगों की आशा रखने वाला पुरुष जब कोई भोग प्राप्त होने पर पूर्णतया नहीं भोगने पाता अर्थात् आधा वा चौथाई आदि अंशों में ही भोगने पर अथवा कोई भी भोग न प्राप्त होनेपर प्रत्याशा करते करते ही जब मरण समय निकट आजाता है तब उस पुरुष को बड़ा भारी पश्चात्ताप और शोक यह होता है कि मैंने इन भोगों की प्राप्ति की आशा में बड़े २ दारुण कष्ट सहे. अत्यन्त परिश्रम भी किया परन्तु परिणाम में कुछ भी प्राप्त न हुआ, सिर धुनता हुआ, हाथ मलता हुआ और पछताता रह जाता है और हाहाकार मचा कर रोता पीटता है। इस प्रकार के मिथ्याज्ञानजन्य शोक को अन्धतामिस्र कहते हैं। अठारह प्रकार के

पूर्वोक्त भोगों से सम्बन्ध रखने के कारण अन्धतामिस्र भी १८ प्रकार का है।

इस विस्तार से अविद्या (मिथ्या ज्ञान) के ६२ भेद हो जाते हैं। यथा—

(१) तमस् के भेद	८
(२) मोह के भेद	८
(३) महामोह के भेद	१०
(४) तामिस्र के भेद	१८
(५) अन्धतामिस्र के भेद	१८
	६२

(ग) अट्ठाईस प्रकार की शक्तियां और अशक्तियां ये हैं—

जो नीचे कहीं ११ शक्तियां और अशक्तियां हैं उन के साथ ६ प्रकार की तुष्टि और आठ प्रकार की सिद्धि सब मिलकर २८ हुईं।

इन्द्रिय	विषय	शक्ति	अशक्ति
१ श्रोत्र	शब्द	श्रवण शक्ति	श्रवणाऽशक्ति = बधिरत्व
२ त्वचा	स्पर्श	स्पर्श शक्ति	स्पर्शाऽशक्ति = कुष्ठ वा पाण्डुरोग वा सुन्न रोग
३ चक्षु	रूप	दर्शन शक्ति	दर्शनाऽशक्ति = अंधत्व
४ जिह्वा	रस	रसना शक्ति	रसनाऽशक्ति = स्वाद्ऽविवेक (स्वाद न जान सकना)
५ नासिका	गन्ध	घ्राण शक्ति	घ्राणाऽशक्ति = नासिका रोग (गन्ध का बोध न होना)
६ वाक्	वचन .	वाक शक्ति	वचनाऽशक्ति = मूकत्व
७ हस्त	आदान, ग्रहण	ग्रहण शक्ति	करणाऽशक्ति = बाहुबलहीनत्व, अशौर्य
८ पाद	गमन	गमन शक्ति	गमनाऽशक्ति = पङ्गुत्व वा लंगड़ापन
६ उपस्थ	रति, मूत्रत्याग	आनन्द शक्ति पुंस्त्व	आनन्दाऽशक्ति = नपुंसकत्व
१० गुदा	मलत्याग	उत्सर्ग शक्ति	उत्सर्गाऽशक्ति = विष्टम्भ
११ मन	संकल्प, विकल्प	मनन शक्ति	मननाऽशक्ति = अव्यवस्थितत्व उन्मत्तता आदि

(ग) * नव प्रकार की तुष्टियों के होने से मनुष्य आलसी और निरुत्साही होकर मुक्ति के साधनों और मोक्षमार्ग से मन हटाकर कुछ भी प्रयत्न नहीं करता। विरक्त सा बना हुवा अपने को संतुष्ट हुआ मान लेता है और सत्यासत्य का निर्णय भी नहीं करता। अपने आत्मा तथा परमात्मा को भी जानने की इच्छा से उपरत सा होजाता है।

वे नवतुष्टि ये हैं-तुष्टियों का अभाव इनकी अशक्ति जानो॥

(१) प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होने पर अपने को तत्वज्ञानी वा कृतार्थ मानकर अथवा संसार को असार वा दुःख का हेतु जानकर विरक्त और सन्तुष्ट सा होजाना। यह प्रथम तुष्टि है॥

(२) तीर्थयात्रा गंगास्नान आदि से मुक्ति हो जाने में पूर्ण विश्वास हो जाना पर संन्यासाश्रम आरम्भ करके वा पूर्णवैराग्य प्राप्त करके, पूर्ण योगाभ्यास द्वारा मोक्ष प्राप्त करने में तथा जगत् के तत्वज्ञान की प्राप्ति करने में प्रयत्न करना निष्फल, निष्प्रयोजन वा व्यर्थ समझ लेना अथवा काषाय वस्त्रादि सन्यास * चिन्हों को ही धारण करके सन्तुष्ट होकर पुरुषार्थ छोड़ बैठना। यह द्वितीय तुष्टि है॥

(३) प्रारब्ध पर निर्भर रह कर समझलेना कि भाग्य में होगा तो मोक्ष मिल ही जायगा। इस मिथ्याविश्वास से पुरुषार्थ के करने में क्लेश उठाना वा परिश्रम करना वृथा जान कर तुष्ट हो जाना। यह तृतीय तुष्टि है॥

---

* इन नव प्रकार की तुष्टियों में से प्रत्येक की दो दो शक्तियां जानो अर्थात् पदार्थ की प्राप्ति बिना ही सन्तुष्ट

[४] काल के भरोसे पर तुष्ट हो जाना कि जब जिस कार्य का अवसर आता है तब वह कार्य हो ही जाता है, अर्थात् काल को ही कार्य का प्रबलकारण मानकर तुष्ट हो जाना। यह चतुर्थ तुष्टि है।

[५] विषयों के भोग अशक्य समझ कर तुष्ट हो जाना यह पांचवीं तुष्टिहै॥

[६] सांसारिक भोगों के प्राप्त करने के लिये धनोपार्जन में अनेक असह्य क्लेशों के कारण से ही सन्तुष्ट हो जाना। यह छठी तुष्टि है॥

[७] जगत् में एक से एक बढ़कर अधिक भोग्य पदार्थों से युक्त मनुष्यों को देखकर इस प्रकार सोच विचार कर तुष्ट हो जाना कि इन ऐश्वर्यों का अन्त नहीं, चाहे जितनी इनकी वृद्धि की जाय तो भी सम्पूर्णऐश्वर्ययुक्त वा जगत् में सब से बढ़ चढ़ कर हो जाना जब कठिन है तो इनका संग्रह करना ही व्यर्थ है। इस प्रकार वैराग्यवान् होकर तुष्ट हो जाना, सातवीं तुष्टि है॥।

रहना, यह एक प्रकार की सहनशक्ति हुई। दूसरी तुष्टि की शक्ति यह कहाती है कि पदार्थ मिलने पर भी त्याग देने वा अपेक्षा कर देने का सामर्थ्य प्रथमशक्ति को अनिच्छा वा अनुत्कण्ठा वा अस्पृहा शक्ति कहते हैं और द्वितीय को परित्याग शक्ति॥

+कोई २ लोग संन्यास धारणमात्र से ही मोक्षप्राप्त हो जाने का विश्वास कर लेते हैं। यहां तक यदि किसी कारण वश संन्यास ग्रहण न किया जा सका तो मरण समय आतुर संन्यास लेकर यह समझ लेते हैं कि मुक्तहो जायंगे॥ होजाना यह तृतीय तुष्टि है॥

[८] जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि में घृत की आहुति देने से अग्नि उत्तरोत्तर प्रचण्ड और प्रबल होता जाता है, इस ही प्रकार विषयों को भोगने से भी भोगतृष्णा अधिक ही होती जाती है, घटती नहीं। अर्थात् विषयवासना से तृप्ति होना असम्भव समझ कर उनसे पृथक् रह कर तुष्ट होजाना, आठवीं तुष्टि है॥

[९] विषय भोग के पदार्थों के संग्रह रक्षणादि में ईर्ष्या द्वेष मत्सरता हिंसादि अन्य पुरुषों को दुःख पहुंचाने रूप दोष देखकर विरक्त हो जाना, नमवीं तुष्टि है॥

[घ] [आठसिद्धि] श्रीयुत स्वामी शंकराचार्य जी के मतानुसार आठ प्रकार की सिद्धियां ये हैं कि—

[१] जन्मसिद्धि
[२] शब्दज्ञानसिद्धि
[३] शास्त्रज्ञानसिद्धि
[४ ५, ६] त्रिविधताप सहनशक्ति
[४] आधिदैविकताप सहनशक्ति
[५] आध्यात्मिकताप सहनशक्ति
[६] आधिभौतिकताप सहनशक्ति
[७ विज्ञानसिद्धि
[८] विद्यासिद्धि

[१] इन शक्तियों में से प्रथम का जन्मसिद्धि तो वह है कि पूर्व जन्म संस्कारों की प्रबलतासे सहज ही में प्रकृत्यादि पदार्थों का यथार्थज्ञान [जिस को तत्वज्ञान कहते हैं] प्राप्त होजाना॥

[२] शब्दों का अभ्यास किये बिना ही शब्दश्रवणमात्र से अर्थज्ञान होजाना अर्थात् पशु पक्षी आदि सर्व भूतों [प्राणियों] की वाणी को समझ लेना, यह दूसरी सिद्धि है। इसको सर्वभूतशब्दज्ञान कहते हैं। यही शब्दज्ञानसिद्धि का तात्पर्य है। यह भी पूर्वजन्म के संस्कार की प्रबलता से होती है।

[३] तीसरी शास्त्रज्ञान सिद्धि उसको कहते हैं कि जो वेदादिशास्त्रों के अभ्यास द्वारा प्रबलज्ञान या प्रबलशक्ति पूर्वजन्म के संस्कारों की प्रबलता से प्रकट होती है। ये तीन सिद्धियां पूर्वजन्मसम्बन्धी संस्कारों से प्राप्त होने वाली है। शेष की पांच सिद्धियों में से तीन तो त्रिविध ताप सहन शक्तियां हैं अर्थात् सुख दुःख, हानिलाभ, मानापमान, शीतोष्ण, रागद्वेष आदिक द्वन्द्वों का संतोषयुक्त शान्तस्वभाव से निर्विकल्प सहन करना, अर्थात् मन से भी उक्त सन्तापों को दुःख न मानना, किन्तु देह के धर्म या प्रारब्ध के भोग ईश्वर की न्यायव्यवस्थानुकूल समझ कर सहजाना तापत्रय का वर्णन आगे होगा यहां उन तीनों की सहनशक्तियां नीचे लिखते हैं। इनमें से—

[४] एक तो आधिभौतिक ताप सहन शक्ति है॥

[५] दूसरी आध्यात्मिक ताप सहनशक्ति और—

[६] तीसरी आधिदैविक ताप सहनशक्ति कहाती है।

[७] सातवीं विज्ञान सिद्धि यह कहाती है कि शुद्धान्तःकरण युक्त मित्रों वा आप्त गुरुजनों के उपदेशों के श्रवण मनन निदिध्यासन से मोक्षमार्ग और परमात्मज्ञान सम्बन्धी जो तत्त्वज्ञान का प्रकाश हृदय में उत्पन्न होता है। इससे सार सिद्ध होता है, इसलिये विज्ञानसिद्धि यही है॥

[८] आठवीं सिद्धि यह है कि गुरु का हितकारी कोई भी पदार्थ जो दुर्लभ भी हो तो भी उसको अपने विद्याबल से श्रद्धा और भक्तिपूर्वक प्राप्त करके गुरु को अर्पण करना। विद्या के बल से पदार्थ की प्राप्ति करने से इस को विद्यासिद्धि जानो अथवा गुरु जब तृप्त और सन्तुष्ट

वा प्रसन्न होता है तो अधिक प्रेम से शिक्षा करता है, तब अविद्या का नाश और विद्या की प्राप्ति नाम सिद्धि सुगम हो जाती है ॥

इस प्रकार ये ८ सिद्धियां जानो अथवा पृष्ठ २५ अर्थात् अविद्याजन्य मोहका व्याख्या में गिनाई गई आठ अणिमादि सिद्धियां जानो इन का अभाव नाम प्राप्त न होना ही मानो सिद्धियों की अशक्तियां हैं ॥

उक्त ब्रह्मचक्र के ५० अराओं की संख्या नीचे लिखे प्रमाण दो प्रकार से यह है कि—

[१]	अविद्या = अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश	= ५
[२]	तुष्टियां जिनकी सविस्तर व्याख्या पूर्व की गई है	= ९
[३]	सिद्धियां वा ऐश्वर्य अणिमादि जिन की गणना अविद्याजन्य मोह के विषय में पूर्व की है।	= ८
[४]	पांच ज्ञानेन्द्रियों की तथा पांच कर्मेन्द्रियों की तथा एक मन की सब मिल के ग्यारह अशक्तियां हुईं।	११
[५]	नव अशक्तियां तुष्टियों की तथा आठ अशक्तियां सिद्धियों की	१७
	सब का योग	५०

प्रकारान्तर से ५० अरे ये हैं:—

[१]	अविद्या = तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र, और अन्धतामिस्र) =	५
[२]	इन्द्रियों से विषयभोग की शक्तियां =	१०
[३]	उपरोक्त नव तुष्टियां =	९

[४] आठ सिद्धियां = [१] जन्मसिद्धि [२] शब्दज्ञान सिद्धि [३] शास्त्रज्ञान सिद्धि [४] आधिदैविकताप सहनशक्ति [५] आध्यात्मिकतापसहनशक्ति [६] आधिभौतिकतापसहनशक्ति [७] विज्ञान सिद्धि [८] विद्यासिद्धि } = ८

[५] नव तुष्टियों से सम्बन्ध रखने वाली दो दो शक्तियां। अर्थात् [अनिच्छाशक्ति और परित्यागशक्ति] मिल कर [२ × ६] १८ शक्तियां हुईं १८
५०

[५] [विंशतिप्रत्यराभिः] जैसे रथचक्र के अरों की पुष्टि के निमित्त उन की सन्धियों में पच्चरें ठोकी जाती हैं उस ही प्रकार ब्रह्मचक्र के उक्त अरों की मानों दस इन्द्रियां और दश उनके विषय. ये ही बीस पच्चरें हैं ॥

[६] [अष्टकैःषड्भिः] रथचक्र की पुट्ठी के जोड़ों में जैसे कीलों के समूह प्रत्येक जोड़ पर जड़े जाते हैं, इस ही प्रकार ब्रह्मचक्र में मानो ६ जोड़ हैं और प्रत्येक में मानो आठ २ कीलें ठोकी गई हैं इस प्रकार ६ अष्टक ये हैं—

प्रथम [१] प्रकृत्यष्टक = इस में ८ कीलें वा अंग ये हैं—

१ पृथिवी
२ जल
३ अग्नि
४ वायु
५ आकाश
६ मन
७ बुद्धि
८ अहंकार

दूसरा [२] धात्वष्टक = इस के अंग ये हैं—

१ त्वचा
२ चर्म
३ मांस
४ रुधिर
५ मेदा
६ अस्थि
७ मज्जा
८ वीर्य

तीसरा [३] सिध्यष्टक वा ऐश्वर्याष्टक=इस के अंग ये हैं—

१ अणिमा	५ प्राप्ति
२ महिमा	६ प्राकाम्य
३ गरिमा	७ ईशत्व
४ लघिमा	८ वशित्व

मतान्तर से—

१ परकायप्रवेश	५ दिव्यश्रवण
२ जलादि में अभंग	६ आकाशमार्गगमन
३ उत्क्रान्ति	७ प्रकाशावरणक्षय
४ ज्वलन	८ भूतजय

चौथा [४] भावाष्टक=इस के ८ अंग ये हैं—

१ धर्म	५ अधर्म
२ ज्ञान	६ अज्ञान
३ वैराग्य	७ राग
४ ऐश्वर्य	८ अनैश्वर्य

पांचवां [५] देवाष्टक=अष्ट वसु। इस के अंग ये हैं—

१ अग्नि	५ द्यौः
२ वायु	६ चन्द्रमा
३ अन्तरिक्ष	७ पृथिवी
४ आदित्य	८ नक्षत्र

छठा [६] गुणाष्टक=इस के ८ गुण ये हैं—

१ क्षमा	५ अनायास
२ दया	६ मंगल
३ अनुसूया	७ अकृपणता
४ शौच	८ अस्पृहा

[७] [विश्वरूपैकपाशम्] जैसे रथ में चक्र को अच्छे प्रकार कसने का बन्धन डोरी होती है; इस ही प्रकार इस नाना

प्रकार की सृष्टिसमुदायमयं विश्वरूप रथ [ब्रह्माण्डरूप रथ] के चक्रको बांधनेकी डोरी मानो एक तृष्णा ही फन्दे वा जालरूप से फंसाने वाली फांसी हैं। प्राणीमात्र पशु, पक्षी, कीट, पतंग, स्थावर, जंगम आदि सब ही इस एक तृष्णा के बन्धन से बंध कर ब्रह्मचक्र के चक्कर में चक्कर खाया करते हैं॥

[८] [त्रिमार्गभेदम्] जिस मार्ग में यह ब्रह्मचक्र चला करता है उस के तीन भेद हैं। यथा—१ उत्पत्ति २ स्थिति और ३ प्रलय अथवा १ धर्म २ अर्थ और ३ काम॥

[९] [द्विनिमित्तैकमोहम्] रथचक्रके चलानेका कोई निमित्त अवश्य होता है. सो यहां ब्रह्मचक्रके चलानेमें दो निमित्त हैं अर्थात् शुभ कर्म वा अशुभ कर्म, इन दो प्रकार के कर्मों का फल भोगने रूप दो निमित्तों से भी ब्रह्मचक्र चलाया जाता है वा यों कहो कि उक्त दो निमित्तों के कारण प्राणी आवागमन [जन्म मरण] के चक्र में घूमा करते हैं और इन दो निमित्तों का कारण मोह अर्थात् अविद्या [वा अज्ञान] ही है, जिस के कारण जीवात्मा वे सुध और इष्टानिष्टविवेकहीन होकर अन्धों के समान कर्म करने में झुक पड़ता (वा फिसल पड़ता है॥ जैसे चिकनाई लगा देने से रथचक्र जल्दी २ घूमता है, ऐसे ही मोहवश ब्रह्मचक्र भी शीघ्र चलता रहता है। मानो मोह ब्रह्मचक्र के औंघने के लिये चिकनाई है॥

इस प्रकार ब्रह्मवादी ऋषियों ने ध्यानयोग से निश्चय किया॥

ब्रह्मचक्र के घूमने के लिये आधार भी होना चाहिये, लो „अधितिष्ठत्येकः” इस वाक्यखण्ड से 'ते ध्यानयोगानुगताः०'

इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि सब का आधार वही एक परमात्मा है: अर्थात् जैसे रथचक्र के घूमने के लिये एक लोहकीलक होता है, इस ही दृष्टान्त से वह ध्रुव अटल अचल एक परमात्मा ही ब्रह्मचक्र के लिये ध्रुव धुरा और आधार है ॥

—※—

पिण्डचक्र ।

स्वयंभू परमात्मा स्वयं चेतन सर्वाधार और सर्वत्र व्यापक है; अतएव ब्रह्मचक्र का स्वतन्त्र भ्रमण कराने और स्वाधीन रखने वाला अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि परब्रह्म ही है। जीवात्मा चेतन होने पर भी ईश्वर के आधीन और उस ही के आधार पर एकदेशी (परिच्छिन्न) है। तथापि जगत् के अन्य पदार्थों की अपेक्षा कुछ २ स्वतन्त्र भी है अतः जैसे ब्रह्मचक्र परमात्मा के आधीन है। वैसे ही पिण्डचक्र जीवात्मा के आधीन है। अर्थात् ईश्वर के आधार वा सत्ता में कर्मानुसार घूमता हुआ जीव पिण्डचक्र को आप ही घुमाता है और उस निजदेहरूप चक्र से स्वेच्छानुसार काम लेता है। अर्थात् इष्टानिष्ट (शुभाऽशुभ) कर्म में प्रवृत्त रहता है, तथापि नलिनीदलगतजलवत् स्वदेह से सर्वथा भिन्न और संसारस्थ अन्य पदार्थों की अपेक्षा अति सूक्ष्म और अव्यक्त पदार्थ अनादि काल से है प्रकृति की नाईं कभी स्थूल वा कभी सूक्ष्म नहीं होता। सारांश यह है कि देहचक्र जीवात्मा रूप धुरे पर भ्रमण करता है ॥

जैसे रथचक्र में भीतर लोह में अरे जुड़े रहते हैं वैसे ही इस लिंग संघात प्राण विषै सब इन्द्रियां स्थित हैं अर्थात् सौम्य प्राणरूप नाभि के आश्रय मन तथा इन्द्रियां मानों अरा हैं और शरीर मानो त्रिवृत ब्रह्मचक्रवत् पिण्डचक्र की त्रिगु-

णात्मक नेमि है ॥ यही गुणत्रय देह में सदा मुख्य वा गौण भाव से वर्तमान रहते हुए निज २ प्रधानता के अवसरों में अवशिष्ट दो गुणों को दबाये रहते हैं।

जिज्ञासु को उचित है कि प्रथम प्रकृति को ध्येय पदार्थ मान कर स्वदेहान्तर्गत त्रिगुणजन्य कार्यों का ज्ञान प्राप्त करे और प्रतिक्षण सत्व-रज तम के प्रधान वा गौणभावों का ध्यान रक्खे, क्योंकि वस्तुतः देहधारी जीव ही इनको प्रेरित करने वा चलाने वाला है और यथावत् बोध होने पर ही उन से यथावत् काम ले सकता है, तथा स्वयं उन की लहरों के आधीन न रहकर स्वतन्त्रतापूर्वक ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश में स्वकल्याणकारी कर्मों को करता हुआ इष्ट मोक्षसुख का कालान्तर में प्राप्त कर ही लेता है। अन्यथा तमोजन्य अज्ञानान्धकारमयगहन गम्भीर समुद्र में अन्धीभूत होकर डूबता ही चला जाता है और नरकरूप अनेक दुःखों को भोगता ही है। क्योंकि वह अल्पज्ञ भी तो है। इसी कारण भ्रम में पड़ा और भूला हुआ प्रायः वे सुध भी होजाता है॥

पिण्डचक्रविषयक वेदोक्त प्रमाण ।

ओ३म् सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ य० अ० ३४ मं० ५५

(अर्थ) "ये"—सप्त × ऋषय =

जो विषयों अर्थात् शब्दादि को प्राप्त कराने वाले पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि ये सात ऋषि

शरीरे × प्रतिहिताः =

"इस" शरीर में+प्रतीति के साथ स्थिर हुए हैं

जन्ममरणरूप भ्रमण के प्रवाह में फिर चक्कर न खाना पड़े। शुभाऽशुभ कर्मों की व्यवस्था के अनुसार दुःख तो असंख्य प्रकार के होते हैं, किन्तु वक्ष्यमाण पांच प्रकार के दुःखों से तो देही जीव को बचजाना असम्भव सा ही है, अर्थात् न्यूनाधिक भाव में सबही प्राणी भोगते हैं।

पांच प्रकार के असह्य भयंकर दुःख

(१) गर्भवास दुःख=कफ पित्तविष्मूत्र आदि अमेध्य मलों से लिप्त यन्त्रगृह सदृश शरीर में बंधुए के समान हाथ पांव बंधे (मुश्कें बधीं) हुए रहकर माता के रुधिर आदि अभक्ष्य विकारों के भक्षण से पुष्टि पाना। जहां श्वास लेने तकको भी पवित्र वायु नहीं प्राप्त हो सकता, प्रत्युत भट्टी सदृश माता के उदर में जठराग्निरूप दहकती हुई कालाग्नि में सदा ऐसा सन्तप्त और व्याकुल रहना पड़ता है कि जिसका वर्णन करते भयभीत होकर हृदय कम्पायमान होता है। यही महाघोर संकटप्रद नरकवास है मानोकुम्भीपाक नामक नरक यही है।

(२) जन्म दुःख=जन्म समय योनिद्वारा इस प्रकार भिंच कर निकलना होता है कि जैसे सुवर्णकार तार को यन्त्र के छोटे २ संकुचित छिद्र में से किसी मोटे तार को खींच कर निकाले। इस समय के दुःख का भी अनुमान क्या हो सकता है।

(३) जरा दुःख=बुढ़ापे में इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं, ठीक २ काम नहीं देतीं। जठराग्नि मन्द होने के कारण पाचनशक्ति घट जाने से शरीर की पुष्टि भी नहीं हो सकती कि जिससे इन्द्रियां बलवान् हो सकें। दांतों

विना भोगे छोड़ते समय जो व्याकुलता वा पश्चात्तापादि होता है, सो भी अकथनीय है, परन्तु पराधीनता से अवश होकर हाथ मलता, सिर धुनता हुआ सब कुछ छोड़ मरता है। चौथे, धर्माधर्म, पापपुण्य, शुभाशुभ आदि कर्म अपने जीवन भर स्वतन्त्रता से विना रोक टोक करता रहता है, किन्तु मरण समय अपने पापों को स्मरण कर २ के भय खाता है कि न जाने परमात्मा किस भारी घोर नरकरूप दुःख इन सब कर्मों के परिणाम में देगा। इत्यादि कारणों से मरण का दुःख भी महादारुण है। पांचवें, जन्मान्तरों में अनेक बार मृत्यु के दुःखों को भोगते २ पूर्वसंस्कारजन्य ज्ञान व अनुभव की स्मृति मरण समय उद्भावित हो जाने पर देह से वियोग करता हुआ जीवात्मा अत्यन्त भयभीत होता है। इत्यादि अनेक प्रकार के दुःख मरण में प्राप्त होते हैं।

सृष्टिरचनाक्रम।

अब जिज्ञासुओं के हितार्थ वेदादि सत्यशास्त्रोंके अनुसार सृष्टिरचनाक्रम संक्षेप से वर्णन किया जाता है।

पूर्व वर्णन हो चुका है कि सम्पूर्ण विराट् (ब्रह्माण्ड) की नेमि (योनि) त्रिगुणात्मक प्रकृति है, उसको ही भोग करता हुआ जीवात्मा फंस जाता है और ईश्वर की न्यायव्यवस्था के अनुसार सुख दुख भोगता है। ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीनों अज हैं। इनका कभी जन्म नहीं हुआ. अतः ये तीनों ही अनादि काल से जगत् का कारण हैं. इनका कारण कोई नहीं। इस विषय में प्रमाण नीचे लिखा है अर्थात्—

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गुणः ॥

सांख्य अ० १ सू० ६१ [देखो सत्यार्थप्रकाश

अष्टम समुल्लास पृष्ठ २०६ तथा २२२

(सत्व) शुद्ध (रज) मध्य (तमः) जाड्य अर्थात् जड़ता, तीन वस्तु मिल कर जो एक संघात है' उस का नाम प्रकृति है। उस प्रकृति से प्रथम महत्तत्त्व [बुद्धि] उत्पन्न हुआ' बुद्धि [महत्तत्व] से अहकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्रा [सूक्ष्म भूत] और दश इन्द्रियां तथा ग्यारवां मन [जो इन्द्रियों से कुछ स्थूल है] पञ्चतन्मात्राओं से पृथिव्यादि पञ्चस्थूलभूत ये चौबीस [२४] पदार्थ क्रमशः उत्पन्न हुए और पच्चीसवां पुरुष अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा सब मिल कर यह पच्चीस तत्त्वों का समुदाय सम्पूर्ण जगत् का कारण है। इन में से प्रकृति अविकारिणी और महत्तत्व अहकार तथा पञ्चसूक्ष्म भूत प्रकृति का कार्य और इन्द्रियां मन तथा स्थूलभूतों का कारण है। पुरुष न किसी की प्रकृति [उपादान कारण] और न किसी का कार्य है।

चतुस्त्रिंशत्तन्तवो ये वितत्निरे य इमं यज्ञं स्वधया ददन्ते। तेषां छिन्नं सम्वेतद्दधामि स्वाहा धर्मो अप्येतु देवान् ॥ यजुः अ० ८ मं० ६१ ॥

इस श्रुति ने इस प्रत्यक्ष यज्ञ [चराचर जगत्] की उत्पत्ति के कारण तत्त्व कहे हैं। अर्थात् ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य १ इन्द्र [जीवात्मा] १ प्रजापति [परमात्मा] और चौंतीसवीं प्रकृति। जिज्ञासु वा योगी को इन सब के गुण और लक्षण

जानने उचित हैं, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान हुए बिना यथावत् सुख नहीं प्राप्त होता और योग भी सिद्ध नहीं होता अतएव यहां उन सब की संक्षिप्त व्याख्या की जाती है। उनमें से [१] पूर्वकथनानुसार पुरुष नाम जगन्निर्माता प्रजापति परमात्मा तो इस देह चक्र का निर्माण कर्ता है, तथा पुरुष [इन्द्र वा जीवात्मा] वक्ष्यमाण द्रव्यादि से बने हुये देहरूप चक्रको ध्यानयोग से चलाने, ठहराने, चिरस्थायी रखने और अन्य अनेक कार्यों में उपयुक्त करने वाला है। आगे द्रव्य के नाम और गुण कहे जाते हैं यथा—

(२) पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥

(वै० अ० १ आ० १ सू० ५)

(स० प्र० समु० ३ पृ ५७)

अर्थात् [१] पृथिवी [२] जल [३] तेज [४] वायु [५] आकाश [६] काल [७] दिशा [८] आत्मा और [९] मन ये नव द्रव्य कहाते हैं।

क्रियागुणवत्समवायिकारणमितिद्रव्यलक्षणम् ॥

वै० अ० १ सू० १५

(स० प्र० समु० ३ पृ० ५७)

द्रव्य के लक्षण यह हैं कि जिस में क्रिया और गुण अथवा केवल गुण ही रहें और जो मिलने का स्वभाव युक्त कारण कार्य से पूर्वकालस्थ हो उसी कारणरूप तत्त्व को द्रव्य कहते हैं। जैसे मट्टी और घड़े का समवायि सम्बन्ध है।

उक्त नव द्रव्यों में से पृथिवी, जल तेज [अग्नि] वायु, मन और आत्मा ये छः द्रव्य क्रिया और गुण वाले हैं। तथा

आकाश, काल और दिशा इन तीन द्रव्यों में केवल गुण ही है क्रिया नहीं।

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्यापरिमाणानि
पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे
बुद्धयः सुख दुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥
वै० अ० १ आ० १ सू० ६

[स० प्र० समु० ३ पृ० ५८]

गुरुत्वद्रव्यत्वस्नेहसंस्कारधर्माधर्मौशब्दाश्चैते।
सप्त मिलित्वा चतुर्विंशति गुणाः संख्यायन्ते ॥
स० प्र० समु० ३ पृ० ५९

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
रूप, रस, गन्ध, स्पर्श संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग
९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७
विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष प्रय-
त्न ये सत्रह गुण तो वैशेषिक शास्त्र के अनुसार हैं, परन्तु सात गुण और भी ये हैं।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७
यथा—गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द ये सब २४ गुण सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास की आज्ञा में गिनाए गये हैं, वहां सविस्तार इस विषय का वर्णन किया गया है। आगे वेदों के अनुसार संक्षेप से सृष्टि रचना की व्याख्या करते हैं ॥

वेदोक्त सृष्टिविद्या

ओं सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि। ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परिभवन्ति विश्वतः॥

[ऋ० अ० २। अ० ३। व० २०। मं० १। अ० २२। सू० १६४ मंत्र ३६] [अर्थ] "ये सप्त+अर्धगर्भाः+="जो,,—सात+आधे गर्भरूप अर्थात पञ्चीकरण को प्राप्त महत्त्व, अहङ्कार, पृथिवी, अप, तेज, वायु आकाश के सूक्ष्म अवयव रूप शरीर धारी—भुवनस्य+रेतः+निर्माय,,=संसार के+बीज को+"उत्पन्न करके

विष्णोः—प्रदिशा + विधर्मणि × तिष्ठन्ति

व्यापक परमात्मा की आज्ञा से अर्थात् उस की आज्ञारूप वेदोक्त व्यवस्था से—अपने से विरुद्ध धर्म वाले आकाश में स्थित होते हैं।

ते*धीतिभिः; ते मनसा च

वे*कर्म के साथ तथा*वे*विचार के साथ

परिभुवः*विपश्चितः—

सब ओर से+विद्या में कुशल विद्वजन

(विश्वतः×परिभवन्ति)

सब ओर से* तिरस्कृत करते हैं अर्थात् उन के यथार्थ, भाव के जानने को विद्वज्जन भी कष्ट पाते हैं।

[भावार्थ] जो महत्तत्त्व अहंकार और पञ्चसूक्ष्मभूत सात पदार्थ हैं; वे पञ्चीकरण को प्राप्त हुवे सब स्थूल जगत् के कारण हैं और चेतन से विरुद्ध धर्म वाले जड़रूप अन्तरिक्ष में सब वसते हैं। जो यथावत् सृष्टिक्रम को जानते हैं वे

विद्वान् जन सब ओर से सत्कार को प्राप्त होते हैं और जो इसको नहीं जानते वे सब ओर से तिरस्कार को प्राप्त होते हैं।

पृथिवी आदि जगत् के पदार्थों के गुण कर्म स्वभाव को जान कर विद्या और बुद्धिबल की वृद्धि करने के लिये वेदोक्त ईश्वराज्ञाः

ओं—त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वाऽऽक्रमोऽस्याक्रमाय त्वासंक्रमोऽसि संक्रमायत्वोत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यैत्वाऽधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व ॥

(यजु० अ० १५ मन्त्र ६)

(अर्थ)—हे मनुष्य*त्वम्=हे मनुष्य*तू त्रिवृत*असि* त्रिवृते × त्वा "अहं परिगृह्णामि"

सत्व, रज और तमोगुण के सह वर्त्तमान अव्यक्त कारण का जानने हारा है उस तीन गुणों से युक्त कारण के ज्ञान के लिये तुझ को 'मैं' सब प्रकार से ग्रहण करता हूं तथा

प्रवृत् × असि × प्रवृते*त्वा

"तू" जिस कार्यरूप से प्रवृत्त संसार का ज्ञाता+है+उस कार्यरूप संसार को जानने के लिये*तुझ को विवृत*असि* विवृते*त्वा

"तू" जिस विविध प्रकार से प्रवृत्त जगत् का उपकारकर्त्ता*है*उस जगदुपकार के लिये*तुझ को सवृत्+असि* सवृते*त्वा

"तू" जिस समान धर्म के साथ वर्त्तमान पदार्थों का जाननेहारा+है*उस साधर्म्यपदार्थों के जानने के लिये तुझको

आक्रमः*असि*आक्रमाय*त्वा

"तू" अच्छे प्रकार पदार्थों के रहने के स्थान अन्तरिक्ष का जानने वाला+है+उस अन्तरिक्ष को जानने के लिये* तुझ को

संक्रमः+असि+संक्रमाय+त्वा

"तू" सम्यक् पदार्थों को जानता+है+उस पदार्थदान के लिये+तुझ को

उत्क्रमः+असि+उत्क्रमाय+त्वा

"तू", ऊपर मेघमण्डल की गति का ज्ञाता+है+उस मेघमण्डल की गति को जानने के लिये+तुझको

उत्क्रान्तिः+असि उत्क्रान्त्यै+त्वा*अहं+परिगृह्णामि

'हे स्त्री तू', सम विषम पदार्थों के लांघने के हेतु विद्या को जानने हारी*है*उस गमन विद्या के जानने के लिये*तुझ को*मैं*सब प्रकार से ग्रहण करता हूं

"तेन-स्वेन"*अधिपतिना "सह" "त्वं-ऊर्जा+ऊर्जम् जिन्व

उस*अपने*स्वामी के सहवर्तमान*तू*पराक्रम से*बल को*प्राप्त हो।

[भावार्थ] पृथिवी आदि पदार्थों के गुण और स्वभाव जाने बिना कोई भी विद्वान् नहीं हो सकता, इस लिये कार्य कारण दोनों को यथावत् जानकर अन्य मनुष्यों के लिये उपदेश करना चाहिये॥

ओं—विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देव आदिद्गन्धर्वोऽभवद् द्वितीयः। तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात्पुरत्रा॥ यजुः अ० १७ मं० ३२॥

[अर्थ] 'हे*मनुष्याः*अत्र*जगति" विश्वकर्मा*देवः* "आदिमः"*इतः*अभवत्

हे*मनुष्यो*इस जगत में*जिन के समस्त शुभ काम हैं वह*हिरण्यवन्त वायु*प्रथम*ही*उत्पन्न होता है ॥

अत*गन्धर्वः*अजनिष्ट

इसके अनन्तर*जो पृथिवी को धारण करता है वह सूर्य या सूर्यात्मा वायु*उत्पन्न होता है-और

ओषधीनाम*अपाम् पिता*हि द्वितीयः

यथाहि ओषधियों*जलों और प्राणों का* (पिता) पालन करने हारा*ही*दूसरा अर्थात् धनञ्जय-तथा

“यः*गर्भं*अदधात् सः*पुत्रः जनिता “परजन्यः* तृतीयः* “अभवत्*इति*भवन्तः × विदन्तु”

जो* गर्भ अर्थात् प्राणों के*धारण को विधान करता है* वह बद्दलों का उत्पादक*जलों का धारण करने वाला मेघ* तीसरा उत्पन्न होता है* इस विषय को*आप लोग*जानो

(भावार्थ)—सब मनुष्यों को यह जानना योग्य है कि इस संसार में सब कामों के सेवन करने हारे जीव पहिले विद्युत्, अग्नि, वायु और सूर्य पृथिवी आदि लोकों के धारण करने हारे हैं, व दूसरे और मेघ आदि तीसरे हैं। उन में पहिले जीव अज हैं अर्थात् उत्पन्न नहीं होते और दूसरे तीसरे उत्पन्न हुवे हैं, परन्तु वे भी कारणरूप से नित्य हैं ॥

—:o:—

ऋतुचक्र ।

यह ऋतुओं का चक्र किसने रचा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

ओं—एकयाऽस्तुवत प्रजा अधीयन्त प्रजापतिर धिपतिरासीत् । तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत

ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् । पञ्चभिरस्तुवत
भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत् ।
सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त धाताऽ-
धिपतिरासीत् ॥ यजु० अ० १४ मं० २८ ॥

(अर्थ) "हे १ मनुष्याः २" प्रजापतिः ३ अधिपतिः (सर्वस्य ४ स्वामी ५ ईश्वरः) आसीत् ६ सर्वाः ७ प्रजाः ८ च अधीयन्त ९ तम १० एकया ११ अस्तुवत

"हे १ मनुष्यो २ जो ३ प्रजा का रक्षक ४ सब का अध्यक्ष परमेश्वर ५ है ६ और जिसने सब ८ प्रजा के लोगों को ७ वेद-द्वारा विद्यायुक्त किये हैं उसकी एक वाणी से स्तुति करो।

"यः" ब्रह्मणस्पति १ अधिपतिः २ आसीत् ३ "येनइदं ४ सर्वविद्यामयं" ५ ब्रह्म = (वेदः) असृज्यत ६ तम् ७ निसृभिः ८ अस्तुवत

"जो" वेद का रक्षक १ सब का स्वामी परमात्मा २ है ३ "जिस ने ४ यह ५ सकल विद्यायुक्त" ६ ब्रह्म (वेद) को ७ रचा है उसकी ८ प्राण, उदान, व्यान इन तीन वायुओं की गति से स्तुति करो।

येन "*भूतानि*असृज्यन्त* "यः" भूतानां*पतिः*
अधिपतिः*आसीत्*तं*पञ्चभिः*अस्तुवत

जिसने*पृथिवी आदि भूतों को*रचा है*जो*सब भूतों का रक्षक और रक्षकों का भी रक्षक*है*उसकी*समान वायु चित्त बुद्धि अहंकार और मन इन पांचों से*स्तुति करो

"येन"*सप्त ऋषयः * असृज्यन्त * "यः" धाता
अधिपतिः आसीत् "तं" * सप्तभिः*अस्तुवत

जिसने*पांच मुख्य प्राण, महत्तत्व-समष्टि और अहंकार सात पदार्थ*रचे हैं*जो धारण व पोषणकर्ता*सब का स्वामी* है उसकी नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय इन पांच प्राण छठी इच्छा और सातवां प्रयत्न, इन सातों से स्तुति करो

तेतीस देवता

ओं—त्रयो देवा एकादशा त्रयास्त्रिँ शाः सुराधसः ॥
बृहस्पतिपुरोहिता देवस्यसवितुः सवे । देवा
देवैरवन्तु मा ॥ यजु० अ० २० मं० ११

[अर्थ]-ये—त्रयाः—देवाः =
जो तीन प्रकार के+दिव्य गुण वाले पदार्थ
बृहस्पतिपुरोहिताः =
जिनमें बड़ों का पालन करने हारा सूर्य प्रथम धारण किया हुआ है सुराधसः = जिन से अच्छे प्रकार कार्यों की सिद्धि होती है वे
एकादश + त्रयस्त्रिंशाः =
ग्यारह+और तेंतीस दिव्य गुण वाले पदार्थ ॥
सवितुः—देवस्य—सवे "वर्त्तन्ते"
सब जगत् की उत्पत्ति करने हारे+प्रकाशमान ईश्वर के+ परमैश्वर्ययुक्त उत्पन्न किये हुवे जगत् में हैं।
"तैः" + देवैः—" सहितं" + मा =
उन+पृथिव्यादि तेतीस पदार्थों के+सहित+मुझको
देवाः+अवन्तु (उन्नतं सम्पादयन्तु)
विद्वान् लोग*रक्षित और बढ़ाया करें।

(भावार्थ) जो पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र ये आठ (वसु) और प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय, तथा ग्यारहवाँ जीवात्मा (ये ग्यारह रुद्र) बारह आदित्य नाम बारह महीने, बिजुली और यज्ञ इन तेतीस दिव्यगुण वाले पृथिव्यादि पदार्थों के गुण कर्म और स्वभाव के उपदेश से जो सब मनुष्यों की उन्नति करते हैं, वे सर्वोपकारक होते हैं।

देहादिसाधनविहीन जीव अशक्त है

ओ३म्—न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि। यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥ ऋ० अ० २। अ० ३। व० २१ मं० १ अ० २२ सू० १६४ मन्त्र ३७॥

(अर्थ) यदा—प्रथमजाः+मा+आ-अगन्

जब+उपादान कारण प्रकृति से उत्पन्न हुए पूर्वोक्त महत्तत्वादि+मुझ जीव को+प्राप्त हुए अर्थात् जब उन महत्तत्वादि की स्थूल शरीरावस्था हुई।

आत्१ इत्२ ऋतस्य३ अस्याः४ वाचः५ भागम्६ अश्नुवे७

उसके अनन्तर १ ही सत्य के ३ और इस ४ वाणी के भाग का अर्थात् विद्याविषय को ६ [अहं ७ अश्नुवे] मैं प्राप्त होता हूँ।

“यावत्” इदं “मां प्राप्तः न” अस्मि

“जब तक” इस शरीर को “प्राप्त नहीं” होता हूँ।

"तावत्" १ उक्तं "—पदित्र–न२ वि=(विशेषेण) ३ जानामि।

"तब तक उस उक्त विषय को" यथावत् जैसा का तैसा विशेषता से नहीं जानता हूं किन्तु

मनसा१ सन्नद्धः२ *निण्यः३ चरामि

अन्तःकरण के विचार से १ अच्छे प्रकार बंधा हुआ २ अन्तर्हित अर्थात् उस विचार को भीतर स्थिर किये हुये ३ विचरता रहता हूं।

[भावार्थ] अल्पज्ञता और अल्पशक्तिमत्ता के कारण साधनरूप इन्द्रियों के विना जीव, सिद्ध करने योग्य वस्तु को नहीं ग्रहण कर सकता, किन्तु जब श्रोत्रादि इन्द्रियों को प्राप्त होता है, तब जानने के योग्य होता है। जब तक विद्या से सत्यपदार्थ को नहीं जानता, तब तक अभिमान करता हुआ पशु के समान विचरता है।

ओं–अपाङ् प्राङेतिस्वधया गृभीतोऽमर्त्यो
मर्त्येना सयोनिः। ता शश्वंता विषूचीना
वियंता न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्

ऋ०अ०२। अ०३। व०२१मं०१। अ०२२। सू० १६४ मन्त्र ३८

(अर्थ) "यः" १ स्वधया२ अपाङ्३ प्राङ्४ एति

"जो १जलादि पदार्थों के साथ वर्तमान २उलटा ३सीधा ४ प्राप्त होता है।

'यः'१ गृभीत२ अमर्त्यः 'जीवः"

"जो"–ग्रहण किया हुआ ५ मरण धर्मरहित "जीव"

---

*निण्यः=इति निर्णीतान्तर्हितनाम निघं०

मर्त्येन १ सयोनिः "अस्ति"

मरणधर्म सहित शरीरादि के साथ १ एक स्थान वाला हो रहा है।

ता = तौ मर्त्याऽमर्त्यौ जड़चेतना

वे दोनों [मर्त्य अमर्त्य अर्थात् मृत्यु धर्म सहित तथा मरणधर्मरहित] जड़ चेतन

शश्वन्ता १ विषूचीना २ वियन्ता = वर्तेते

सनातन १ सर्वत्र जाने वाले २ और नाना प्रकार से प्राप्त होने वाले वर्त्तमान हैं

"तं,,....अन्यं "विद्वांसः,, १ निचिक्युः

"उन में से उस,, एक "शरीरादि के धारण करने वाले चेतन और मरण धर्मरहित जीव को विद्वान्‌जन,, १ निरन्तर जानते हैं।

"अविद्वांसश्च,, १ अन्यम् २ न ३ निचिक्युः

"और अविद्वान् लोग,, १ उस एक को २ वैसा नहीं ३ जानते।

(भावार्थ) इस जगत् में दो, पदार्थ वर्त्तमान हैं—एक जड़, दूसरा चेतन। उनमें से जड़ अन्य पदार्थ को तथा अपने रूप को नहीं जानता, परन्तु चेतन अपने स्वरूप को तथा दूसरे को जानता है। दोनों अनुत्पन्न, अनादि और विनाश रहित वर्त्तमान है। जड़ को (अर्थात् शरीरादि परमाणुओं के संयोग से स्थूलावस्था को) प्राप्त हुआ चेतन जीव संयोग वा वियोग से स्थूल वा सूक्ष्म सा भान होता है, परन्तु वह एक सार (एकरस) स्थित जैसा है, वैसा ही ठहरता है।

यहां सृष्टिविद्यादि विषयों का प्रकरणानुकूल संकेत मात्र कथन किया गया है। विस्तृत व्यवस्था उन सब की तत्तद्वि-

पृथक वेदानुकूल सत्यग्रन्थों से जिज्ञासु को जानना आवश्यक है क्योंकि—

नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः
[सांख्य अ० १ सू० ६]

निष्फल कर्म के लिये ऋषि लोग कदापि उपदेश नहीं किया करते। अतएव उपरोक्त सम्पूर्ण विषय को अच्छे प्रकार श्रवणचतुष्टय द्वारा समझ कर उस से उपयोग लेना चाहिये।

ध्यानयोग की प्रधानता।

ध्यान पूर्वक समझने की वार्त्ता है कि जैसे अग्नि और इन्धन के संयोग से अग्नि के दाहक गुण रूप निज शक्ति का प्रकाश तथा उस से धूम्र की उत्पत्ति आदि व्यवहार भी होता है, इस ही प्रकार जीवात्मा और प्रकृतिजन्य शरीर के ही संयोग से जीवात्मा की निज शक्ति द्वारा संपूर्ण शुभाशुभ चेष्टा इन्द्रियों के प्रकाश से प्रादुर्भूत होती है, अन्यथा सब चेष्टामात्र का होना असम्भव है। परन्तु अल्पज्ञ जीवात्मा अविद्या के कारण अन्तःकरण तथा इन्द्रियों के वशीभूत होकर अनेक विषय के फन्दो में फंसा हुआ अनेक संकल्प विकल्प रूप मानसिक तथा इन्द्रियों द्वारा कायिक वाचिक अधर्म युक्त चेष्टाएं करता हुआ वा विविध संशयों में व्याकुल होता हुआ चेष्टा रूपी चक्र में भ्राम्यमाण रहता है। ध्यानयोग द्वारा इस चक्र भ्रमण रूप प्रवाहका सर्वथा निवारण कर के जब उक्त जीव परमात्मा में प्रीति करता है तब योग को प्राप्त होता है। इस कथन से सिद्ध है कि योग सिद्ध होना अर्थात् परमात्मा के ज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति का मुख्य साधन एक ध्यान ही है!

यह नियम है कि विना ध्येय पदार्थ के ध्यान नहीं हो स-

कता अत एव ध्यान योग में इस क्रम से ध्येय पदार्थों का ग्रहण होता है कि प्रथम पञ्च प्राण, द्वितीय दशेन्द्रियगण, तृतीय मन, चतुर्थ अन्तःकरण चतुष्टय इत्यादि अनेक स्थूल से स्थूल पदार्थों से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों पर्यन्त क्रमशः इस प्रकार परिज्ञान प्राप्त करना चाहिए कि एक२ पदार्थ को ध्येय स्थापित करके निरन्तर कुछ काल पर्यन्त अभ्यास कर २ के पृथक२ एक२ पदार्थ को जाने। इन पदार्थों का यथावत् ज्ञान हो जाने के पश्चात् जीवात्मा को अपने निज स्वरूप का भी ज्ञान होता है। अपने स्वरूप का ज्ञान होते ही जीवात्मा परमात्मा को भी विचार लेता है, क्योंकि परमात्मा ज्ञान का भी ज्ञान है,

प्राणों का ज्ञान प्राप्त होते ही जान लिया जाता है कि सब इन्द्रियों को अपने २ विषय में प्राण ही चलाते हैं, तथा सब चेष्टाएं इन्द्रियों द्वारा ही होती हैं क्योंकि व्यान वायु नामक प्राण ही सब चेष्टाओं को कराता है। अतः शरीर में प्राण ही सब चेष्टा करने में कारण ठहरे, सो प्राणों के प्रकाश से ज्ञानेन्द्रियों द्वारा चित्त की वृत्तियां बाहर निकल कर विषयों में फैलती हैं। इस लिये एक २ वृत्ति को ध्येय जानकर ध्यानयोग द्वारा पृथक २ रोकना चाहिये और उनको पहचानना भी चाहिये, क्योंकि पहचाने विना वे वृत्तियां रोकी भी नहीं जा सकतीं और योग कदापि सिद्ध नहीं होसकता। विषयों में बाहर फैली हुई वृत्तियों को भीतर की ओर मोड़नी चाहियें। मन की वृत्तियों में तथा इन्द्रियों की वृत्तियों और विषयों से रोक वा मोड़ कर भीतर की ओर लेजाना जीवात्मा के आधीन है, क्योंकि वस्तुतः जीवात्मा ही इन्द्रियादि को अपने वशमें रखकर उनसे काम लेने वाला अधिष्ठाता वा राजा के समान प्रधान कारण है और प्राण तथा इन्द्रियादि

को अपने वश में रखकर उनसे काम लेने वाला अधिष्ठाता वा राजा के समान प्रधान कारण है और प्राण तथा इन्द्रियादि पदार्थ सब प्रजास्थानी हैं। जिस मनुष्य का जीवात्मा अविद्यान्धकार में फंसकर प्राण और इन्द्रियादि के आधीन रहे, उसको उचित है कि ध्यानयोगद्वारा उस अविद्यान्धकार को प्रयत्न और पुरुषार्थ करके नष्ट करे। जीवात्मा जब वायु (प्राणों) को प्रेरणा करता है, तब वे प्राण इन्द्रियों की वृत्तियों को बाहर निकाल कर उनके विषयों में प्रवृत्त कर देते हैं। इस विषय का पूर्णज्ञान तब होता है, जब ध्यानयोग का निरन्तर अभ्यास करते २ जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। ध्यानयोग की परिपक्वदशा समाधि है। उस अवस्था में मग्न हुए जीवात्मा को परमात्मा का साक्षात्कार होता है और ध्यान के ही आश्रय से मनुष्य के सारे लौकिक व्यवहार ठीक २ चलते हैं। ध्यान ही का बिगड़ जाना विघ्नकारक है। इन्द्रजाली (बाजीगर) इस ध्यान के ही सहारे से कैसे २ आश्चर्यजनक कौतुक करते हैं। जिन नाचिर इनमायावी लीलाओं के सीखने सिखाने में ये कौतुकी लोग अपने मन को वशीभूत करके एक ही विषय में सर्वथा अपना ध्यान ठहरा कर उदरनिमित्त, द्रष्टाओं को प्रसन्न करके अपना अर्थ सिद्ध कर लेते हैं। यदि उसका दशमांश काल भी श्रमपूर्वक योगविद्या के अभ्यासद्वारा परमेश्वर में ध्यान स्थिर करके निरन्तर निरालस पुरुषार्थ जो कोई करे तो उस को धर्मार्थ काम और मोक्ष चारों पदार्थ अवश्यमेव प्राप्त हो जाते हैं, इस में कुछ भी सन्देह नहीं है॥

—:०:—

योगानुष्ठानविषयक वेदोक्त ईश्वराज्ञा।

ओं—युञ्जानःप्रथमं मनस्तत्वाय सविताधियम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ १ ॥
यजु० अ० ११ मन्त्र १—५ पर्यन्त (भू० पृ० १५५–१५६)

इस मन्त्र में ईश्वर ने योगाभ्यास का उपदेश किया है। योग का करने वाले मनुष्य तत्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये प्रथम जब अपने मन को परमेश्वर में युक्त करते हैं तब परमेश्वर की बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है, फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके यथावत् धारण करते हैं। पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है ॥ १ ॥

इस लिये—

ओं–युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ २ ॥

सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि हम लोग मोक्ष-सुख के लिये यथायोग्य सामर्थ्य के बल से परमेश्वर की सृष्टि में उपासनायोग करके अपने आत्मा को शुद्ध करें, जिस से कि अपने शुद्धान्तःकरण द्वारा परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों। इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जोमनुष्य समाहित मन और आत्मज्ञान के प्रकाश से युक्त होकर योग का अभ्यास करें तो अवश्य सिद्धियों को प्राप्त हो जावें ॥२॥

ओं–युक्त्वाय सविता देवान् स्वर्यतो धिया दिवम्
बृहज्ज्योतिःकरिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ३॥

इसी प्रकार वह परमेश्वर देव भी उपासकों को अत्यन्त सुख देके उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश

को करता है। वह अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उन आत्माओं में बड़े प्रकाश को प्रकट करता है और जो सब जगत् का पिता है वही उन उपासकों का ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण कर देता है, परन्तु जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे, उनही उपासकों को परमकृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्षसुख देकर सदा के लिये आनन्दयुक्त कर देगा। इस ही लिये—

युञ्जते मन उत युंजते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥

जीव को परमेश्वर की उपासना अवश्यनित्य करनी चाहिये अर्थात् उपासना समय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें और जो लोग ईश्वर के उपासक बडे बड़े बुद्धिमान् उपासनायोग के ग्रहण करने वाले हैं वे लोग सबको जानने वाले सब से बड़े और सब विद्याओं से युक्त परमेश्वर के बीच में अपने मनको ठीक २ युक्त कर देते हैं तथा अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात् ज्ञान को भी सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं। जो परमेश्वर इस सब जगत् का धारण और विधान करता है, जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साक्षी है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है जिस से परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है। उस देव अर्थात् सब जगत के प्रकाश और सब की रचना करने वाले परमेश्वर की हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें। कैसी वह स्तुति है कि (मही) सब से बड़ी अर्थात् जिसके समान किसी दूसरे को हो ही नहीं सकती ॥ ४ ॥

इसी लिये—

ओं—युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः। शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः यजु० अ० ११ मं० ५

[भू० पृ० १५६]

उपासना उपदेश देने वाले और ग्रहण करने वाले दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि जब तुम सनातन ब्रह्म की सत्य प्रेमभाव से अपने आत्म को स्थिर करके नमस्कारादी रीतिपूर्वक सत्यसेवा से उपासना करोगे तब मैं तुमको आशीर्वाद दूंगा कि सत्य कीर्ति तुम दोनों को ऐसे प्राप्त हो जैसे कि परमविद्वान् को धर्ममार्ग यथावत् प्राप्त होता है। फिर वही परमेश्वर सबको उपदेश भी करता है कि हे मोक्षमार्ग के पालन करने हारे मनुष्यो ! तुम सब लोग ध्यान देकर सुनो कि जिन दिव्य लोकों अर्थात् मोक्षसुखों को पूर्वज लोग प्राप्त हो चुके हैं, उसी उपासनायोग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो, इसमें सन्देह मत करो। इसी लिये मैं तुम को उपासनायोग में युक्त करता हूं॥

ब्रह्मज्ञानोपाय ।

उपरोक्त वेदमन्त्र से जिस ब्रह्म की उपासना करने का उपदेश किया गया है, उसके जानने के हेतु केनोपनिषद् में इस प्रकार प्रश्न स्थापित किये हैं कि—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥१॥ (केन उ० खं० १ मं० १)

यह कौनसा देव है कि जिस के नियत किये हुए नियमों के अनुसार प्रेरणा किया हुआ मन तो अपने विषयों की ओर दौड़ता है, तथा शरीर के अङ्ग उपाङ्गों में फैला हुआ प्राण अपना सञ्चाररूप व्यापार करता है, मनुष्य इस वाणी को बोलते हैं और जो नेत्र तथा कान आदि इन्द्रियों को अपने२ कार्यों में युक्त करता है ?

अगले मन्त्र में कहे उत्तर से परमात्मा का सर्वनियन्तापन निश्चय कराया है ॥

सर्वनियन्ता ईश्वर

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः । चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्यधीराः प्रेत्या स्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

केन० उप० खं० १ मं० २

जो परमात्मा व्यापक होने से कान का कान, मन का मन वाणी का वाणी, प्राण का प्राण और चक्षु का चक्षु है, उसी ब्रह्म की प्रेरणा वा नियत किये हुए नियमों के अनुसार मन आदि इन्द्रिय गण अपनी २ चेष्टा करने को समर्थ होते हैं, इसी लिये (अतिमुच्य) शरीर मन और इन्द्रियादि की चेष्टावृत्ति तथा विषय वासना का संग छोड़ कर ध्यान योग करने वाले योगी जन इस लोकसे मरनेके पश्चात् मरण धर्म रहित मोक्ष को प्राप्त होकर अमर होजाते हैं। अर्थात् पूर्वमन्त्रोक्त चक्षु आदि को परमात्मा ने अपने निज निज नियम में नियम करके जीवात्मा को सौंप कर उस के आधीन कर दिया है। उस ब्रह्म की प्रेरणा से ही ये सब जीव का यथेष्ट काम करते हैं, जब कि जीवात्मा इन को अपनी इच्छानुकूल प्रेरित करता है। यह भी ईश्वर का नियत किया हुआ ही नियम है कि

वे सब अपने २ काम के अतिरिक्त अन्य का काम नहीं कर सकते। यथा—आंख से देखने के अतिरिक्त सुनना, सूंघना आदि अन्य इन्द्रिय के विषयका ग्रहण कदापि नहीं होसकता, तथा भौतिक स्थूल विषयों वा पदार्थों के अतिरिक्त सूक्ष्म पदार्थों का भी ग्रहण नहीं कर सकते अर्थात् परमात्मा उक्त मन आदि नहीं जाना जाता, सो विषय युक्त केनोपनिषद् के प्रथम खण्डस्थ तृतीय मन्त्र से लेकर आठवें मन्त्र अर्थात् प्रथम खण्ड की समाप्तिपर्यन्त कहा है कि जहां चक्षु वाणी मन श्रोत्र प्राण आदि नहीं पहुंच सकते अर्थात् जो चक्षु आदि द्वारा नहीं पहँचाना जाता, किन्तु जिस की सत्ता से चक्षु आदि जिन २ व्यापार में नियत हैं, उस ब्रह्म को अपना उपास्य (इष्ट) देव जानना और मानना चाहिये, किन्तु चक्षु वाणी मन श्रोत्र तथा प्राण आदि को ब्रह्म मत जानो॥

—:*:—

शरीर का रथरूप में वर्णन।

अब ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये इन्द्रियादि साधनों समेत शरीर का रथरूप से वर्णन करते हैं, जैसा कि कठोपनिषद् में रूपकालंकार से वर्णित है॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ १॥

कठ० उ० व० ३ मं० ३

जीवात्मा को रथी नाम रथ का स्वामी जानो, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि (घोड़ों रूप इन्द्रियों का हांकने वाला) और मनको लगाम की रस्सी जानो॥ १॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाᳩस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ २ ॥

कठ० उप० व० ३ मं० ४

क्योंकि मन को वश में करने वाले मनीषी (योगी जन) लोग सम्पूर्ण इन्द्रियों को शरीररूप रथ के खींचने वाले घोड़े बताते हैं, विषयों को उन घोड़ों के चलने का मार्ग और शरीर, इन्द्रिय और मन करके युक्त जीवात्मा को भोक्ता (विषयों का भोगने वाला) बतलाते हैं ॥ १ ॥

अतः जो जीव अपने मन रूप लगाम को वश में करेगा, उसके इन्द्रिय रूप घोड़े भी स्वाधीन रहेंगे अन्यथा देहरूप रथ को विषयों के समुद्र में डुबा देंगे ॥

आगे योगी और अयोगी पुरुषों के लक्षण कहे जाते हैं । जिसके विवेक द्वारा मुमुक्षुजनों को उचित है कि योगी पुरुषों के आचरणों को ग्रहण करके विषयलम्पट जनों के मार्ग को त्याग दें ॥

जीव का कर्त्तव्य

मन से आत्मा के बीच में कैसे प्रयत्न करे, यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

ओं—उपयाम गृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन्पाहि सोमम् ।
उरुष्य राय एषो यजस्व ॥

य० अ० ७ मं० ४ ॥

पदार्थ—(हे योगजिज्ञासो ! यतस्त्वम्") "हे योग चाहने वाले जिज्ञासु ! तू जिस कारण"

(उपायामगृहीतः=उपात्तैर्यमैर्गृहीत इव) योग में प्रवेश करने वाले नियमों से ग्रहण किये हुवे के समान

(असि) है "तस्मात्" इस कारण से

(अन्तः=आभ्यन्तरस्थान् प्राणादीन्) भीतर के जो प्राणादि पवन मन और इन्द्रियां हैं, उनको (यच्छ=निगृहाण) नियम में रख

(हेमघवन्=परमपूजितधनिसदृश ! त्वम्) परम पूजित धनी के समान तू (सोमम्=योगसिद्धमैश्वर्यम्) योगविद्या-सिद्धऐश्वर्य की

(पाहि=रक्ष) रक्षा कर

(उरुष्य=योगाभ्यासेनाविद्यादिक्लेशानन्तं नय) और जो अविद्या आदि क्लेश हैं उन को अत्यन्त योगविद्या के बल से नष्ट कर

"यतः" (रायः=ऋद्धिसिद्धिधनानि) ऋद्धि सिद्धि और धन

(इषः=इच्छासिद्धीः) और इच्छा से सिद्धियों को (आ यजस्व) सब ओर से अच्छे प्रकार प्राप्त हों।

(भावार्थ)-योग जिज्ञासु पुरुष को चाहिये कि यम नियम आदि योग के अंगों से चित्त आदि अन्तःकरण की वृत्तियों को रोके और अविद्यादि दोषों का निवारण करके संयम से ऋद्धि सिद्धियों, धन और इच्छा सिद्धियों को सिद्धि करे।

ओं युजानो हरिता रथे भूरि त्वष्टेह राजति । को विश्वाहा द्विषतः पक्ष आसत उतासीनेषु सूरिषु ॥ (ऋ० अ०४।अ०७।व०३३।मं०६। अ०४। सू०४७ मं० १६)

(अर्थ) "यथा-कश्चित् सारथिः,, रथे+हरिता+युजानः+भूरि+राजति

"जैसे कोई सारथी,, सुन्दर रमणीय वाहन (यान) के लक्ष्य शरीर में ले चलने वाले घोड़ों को+जोड़ता+हुवा+बहुत प्रकाशित होता है

"तथा.,—त्वष्टा*इह–राजति,,

वैसे ही सूक्ष्म करने वाला अर्थात् मन आदि इन्द्रियों का निग्रह करके योगाभ्यास वा ब्रह्मविद्या द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म जो आत्म ज्ञान और परमात्म ज्ञान का प्राप्त करने वाला जीव इस शरीर में देदीप्यमान होता है

कः१ "इह,. २विश्वाहा ३द्विपतः ४पक्षः ५आसते ६उत ७आसिनेषु ८मूरिपु 'मूर्खाश्रयं कः करोति,.

कौन–'इस शरीर में,. १ सब दिन (सर्वदा) २ द्वेष से युक्त का (द्वेष रखने वाले द्वेषी पुरुष का (पक्ष अर्थात् ग्रहण करता ३है ४ "और ५स्थित ६विद्वानों में ७ "मूर्ख का आश्रय कौन करता है ?,,

(भावार्थ) हे मनुष्यो ! सदा ही मूर्खों का पक्ष त्याग के विद्वानों के पक्ष में वर्त्ताव करिये और जैसे अच्छा सारथि घोड़ों को अच्छे प्रकार जोड़ कर रथ में सुख से गमन आदि कार्यों को सिद्ध करता है, वैसे ही जितेन्द्रिय जीव सम्पूर्ण अपने प्रयोजनों को सिद्ध कर सकता है और जैसे कोई दुष्ट सारथि घोड़ों से युक्त रथ में स्थिर हो कर दुःखी होता है। वैसे ही अजित इन्द्रियां जिसकी हों ऐसा जीव शरीरमें स्थिर होकर दुःखी होता है। क्योंकि–

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ कठ० उ० व० ४ म० १

स्वयम्भू परमात्मा ने श्रोत्र चक्षु आदि इन्द्रियों को शब्द रूप आदि विषयों पर गिरने के स्वभाव से युक्त बनाया है। उस ही हेतु से मनुष्य बाह्य विषय को देखता है, किन्तु अपने

भीतर की ओर लौट कर अपने अन्तरात्मा को नहीं देखता। कोई विरलः ध्यानशील पुरुष ही अपने नेत्र मींच कर मोक्ष की इच्छा करता हुआ अन्तःकरण में व्याप्त परमात्मा को ध्यान योग द्वारा समाधिस्थ बुद्धि से विचारता है॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥
(कठ० उ० च० ४ मं० ४)

स्वप्न के अन्त नाम जागरित अवस्था तथा जागने के अन्त स्वप्नावस्था—इन दोनों को जो मनुष्य अनुकूलता पूर्वक (अर्थात् यथार्थ धर्मपूर्वक) देखता है। अर्थात् ध्यान योग द्वारा जान लेता है वही (धीरः) ध्यान शील योगी पुरुष ईश्वर को सब से बड़ा और सर्व व्यापक मान कर शोक से व्याकुल नहीं होता अर्थात् मुक्त हो जाता है और शोकादि दुःख उसको नहीं प्राप्त होते। भावार्थ यह है कि जागरित अवस्था तथा निद्रावस्था इन दोनों के स्वरूप का जिस को ज्ञान हो जाता है, उस को ईश्वर के विचार लेने का सामर्थ्य (योग्यता) प्राप्त होजाता है फिर निरन्तर परमात्मा का ध्यान करते करते ध्यान योग द्वारा वह पुरुष कुछ काल में परमात्मा को भी विचार लेता है।

निद्रा दो प्रकार की है। एक तो अविद्यान्धकार से आच्छादित जागरित अवस्था कि जिसमें जागता हुआ भी मनुष्य अपने स्वरूप को भूला हुआ सा संकल्पविकल्पात्मक मन की लहरों में डूबा रहता है, किन्तु यथार्थ जागरित अवस्था वस्तुतः वही है, जब कि जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान होजाने पर किसी प्रकार का संकल्प विकल्प नहीं

उठता। दूसरे प्रकार की तमोगुणमय निद्रा होती है कि जिस में मनुष्य सोजाता है। इसलिये:—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥३॥
(कठ० वल्ली ३ मं० ५)

जो मनुष्य कि (अयुक्तेन) असमाहित असावधान नियम विरुद्ध चलायमान वा योगविहीन मन करके सदा अज्ञानी वा विषयासक्त रहता है उसकी इन्द्रियां तो सारथि के दुष्ट घोड़ों के समान उसके वश में नहीं रहतीं ॥ ३ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥४॥
(कठ० वल्ली ३ मं० ६)

किन्तु जो अभ्यास वैराग्यद्वारा निरुद्ध किये हुए योगयुक्त वा समाहित मन वाला तथा सत् असत् विवेक करने वाला ज्ञानी पुरुष होता है, उसकी इन्द्रियां सारथि के श्रेष्ठ घोड़ों के समान उस पुरुष के वश में ही हो जाती हैं ॥ ४ ॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोतिसꣳसारं चाधिगच्छति ॥५॥
(कठ० वल्ली ३ मं० ७)

और जो मनुष्य कि सदा अविवेकी अव्यवस्थितचित्तयुक्त तथा सदा (अशुचिः) छल कपट ईर्ष्या द्वेष आदि दोषरूप मलों से युक्त अर्थात् अन्तःकरण की आभ्यन्तर शुद्धि से रहित होता है, वह उस अविनाशी ब्रह्म को तो नहीं प्राप्त होता, वह उस अविनाशी ब्रह्म को तो नहीं प्राप्त होता, किन्तु जन्म मरण के प्रवाहरूप संसार में ही भ्राम्यमाण रहता ॥ ५ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥६॥
(कठ० वल्ली ३ मं० ८)

परन्तु जो मनुष्य कि ज्ञानी (समनस्कः) मन को वश में रखने वाला और शुद्धान्तःकरण से युक्त होता है, वह तो उस परमपद को प्राप्त ही कर लेता है कि जहां से लौट कर फिर जन्म नहीं लेता अर्थात् मुक्त हो जाता है॥६॥ इसी कारण–

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥७॥
(कठ० वल्ली ३ मं० ६)

(विज्ञान) तप करके शुद्ध हुई, सत् और असत् के विवेक से युक्त, परमार्थ के साधनों में तत्पर बुद्धि ही जिस मनुष्य का सारथि हो और मनको लगाम की डोरियों के समान पकड़ कर अपने वश में जिसने कर लिया हो वही मनुष्य आवागमन के अधिकरण जन्म मरण के प्रवाहरूपी संसार मार्ग के पार सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक ब्रह्म के उस परोक्ष (पद) स्वरूप को प्राप्त होता है ॥७॥

---+---

इन्द्रियादि ब्रह्मपर्यन्त वर्णन

अब भौतिक इन्द्रियों से लेकर सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म अतीन्द्रिय (अगोचर) अगम्य अवाच्य ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय संक्षेप से अनुक्रम पूर्वक लिखते हैं । विद्वान् गुरुजनोंको उचित है कि सूक्ष्म से भी सूक्ष्म पदार्थ का यथार्थ ज्ञान शिष्य को करा देवें, जिस से कि शिष्य निर्भ्रम हो जावे ॥

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परंमनः ।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्+परः॥ ८ ॥
(कठ० वल्ली ३ मं० १०)

पृथिव्यादि सूक्ष्म तत्वों से बने हुए इन्द्रियों की अपेक्षा गन्ध तन्मात्र आदि विषय परे हैं। विषयों की अपेक्षा मन, मन की अपेक्षा बुद्धि और बुद्धि की अपेक्षा महत्तत्व* परे है

अर्थात् स्थूल इन्द्रियों के गोलक तथा (अर्थाः) इन्द्रियों की विषय ग्राहक दिव्यशक्ति; ये दोनों ही स्थूलभूतों के कार्य हैं। यथा पृथिवी का कार्य नासिका, जल का रसना अग्नि का नेत्र, वायु का त्वचा और आकाश का श्रोत्र। यहां कार्य कारणसम्बन्ध ही हेतु हैं कि अमुक २ इन्द्रिय अपने अमुक २ निजविषय को ही (अर्थात् जिस भूत से जो इन्द्रिय उत्पन्न हुआ है वह इन्द्रिय उसी भूत के गुणरूप विषय को) ग्रहण करता है। यथा नासिका पृथिवी के गुण गन्ध को ही ग्रहण करती है, रस रूपादि को नहीं। कार्य की अपेक्षा कारण परे होता ही है। अतएव इन्द्रियों से विषय परे हैं। मन विषयों से परे हैं तथापि इन्द्रियों की अपेक्षा कुछ स्थूल है +मन की अपेक्षा बुद्धि की अपेक्षा महत्तत्त्व परे है जो भौतिक पदार्थों में सबसे अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण महान् आत्मा कहाता है, क्योंकि आत्म पद सूक्ष्माऽर्थवाची हैं। आत्मा पद से यहां जीवात्मा वा परमात्मा का ग्रहण नहीं है, जो अगले मन्त्र से स्पष्ट ज्ञात होता है।

पूर्वागत टिप्पण।

नहीं लिया जाता, किन्तु प्रकरणानुकूल आशय (सारांशरूप

---

* शास्त्रोंके वाक्यो का अभिप्राय शब्द मात्रके अर्थ बोधसे

सिद्धांत) लेना उचित है। इसी अध्याय के पृष्ठ ४० में कहा गया है कि "प्रकृतेर्महान्" अर्थात् भौतिककार्यरूप पदार्थों में सबसे परे वा सूक्ष्म (महान् आत्मा) बुद्धि है जो कि प्रकृति का प्रथम परिणाम होने के कारण महत्तत्त्व (सृष्टि के सूक्ष्म-तत्त्वों में सबसे सूक्ष्म) कहाता है; किन्तु यहां बुद्धि से भी परे सब तत्त्वों की परमाकाष्ठा कारणरूप प्रकृति अभिप्रेत है अतः "महान् आत्मा" इन दो पदों से यहां जीवात्मा वा परमात्मा कदापि नहीं समझे जा सकते, क्योंकि उन दोनों आत्माओं (जीव और ईश) के लिये कठोपनिषदुक्त अगले ग्यारहवें मन्त्र में केवल एक शब्द " पुरुष " का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार उक्त ४७ पृष्ठगत सांख्यसूत्र में पुरुष पद ही प्रयुक्त है जिसमें (जीव ईश) दोनों ही ग्राह्य हैं।

+सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ७२ समुल्लास ८ में भी मनको तन्मात्रादि कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा स्थूल कहा और माना है।

और—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥९॥
(कठ० वल्ली० ३ मं० ११)

अव्यक्त नाम व्यक्तिरहित प्रकृतिनामक जगत् का कारण महत्तत्व की अपेक्षा भी परे है उस अव्यक्त प्रकृति से भी परे जीवात्मा है, और उस जीवात्मा से भी अत्यन्त परे परमात्मा है। परमात्मा से परे अन्य कोई पदार्थ नहीं है, वही स्थिति की अवधि तथा पहुंचने की अवधि है अर्थात् उससे आगे किसी की गति नहीं है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मयासूक्ष्मदर्शिभिः॥ १०॥
कठ० वल्ली ३ मं० १२

सब प्राणिमात्र में व्यापक होने के कारण गुहभाग वह परमात्मा (न प्रकाशते) इन्द्रियों के साथ फंसी हुई विषयासक्त बुद्धि से नहीं प्रकाशित होता अर्थात् नहीं जाना जाता, किन्तु सूक्ष्म विषय में प्रवेश करने वाली (तीव्र) तीक्ष्ण वा सूक्ष्म बुद्धि करके सूक्ष्मतत्व दर्शी (आत्मदर्शी) जनों से ही जाना जाता है। उस परमात्मा को जानने के लिये कटिबद्ध होना चाहिये, क्योंकि कहा भी है कि —

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥११॥

कठ० उ० वल्ली ३ मं० १४

हे मनुष्यो! उस परमात्मा के जानने के लिये कटिबद्ध होकर उठो [जाग्रत] अविद्यारूपी निद्रा को छोड़ कर जागो [वरान् प्राप्य] श्रेष्ठ आप्त विद्वानों, सदुपदेशक गुरुजनों, आचार्यों, ऋषिमुनिजनों, योगी महात्मा वा संन्यासियोंको प्राप्त होकर [निबोधत] सत्यासत्य के विवेक द्वारा सर्वान्तर्यामी परमात्मा को जानो यह मार्ग सुगम नहीं है कि जो निद्रा वा आलस्य में पड़े रहने पर भी सहज से प्राप्त होसके, किन्तु जैसे छुरे की बाढ़ कराई हुई तीक्ष्णधारा पर पगों से चलने में अति कठिनता होती है, दीर्घदर्शी विद्वान् लोग उस तत्वज्ञानरूप मार्ग को वैसा ही कठिनता से प्राप्त होने योग्य बताते हैं। अतएव निद्राआलस्य प्रमाद और अविद्यादि को त्याग कर ज्ञानी गुरु का सत्संग तथा सेवन करके परमात्मज्ञान के उपाय का सेवन करना उचित है। क्योंकि—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्यतं मृत्यु मुखात्प्रमुच्यते ॥ १२ ॥ कठ० वल्ली० ३ मं० १५

[अशब्दम्] जो ब्रह्म शब्द वा शब्द गुण वाले आकश से विलक्षण है और वाणी करके जिसका वर्णन नहीं किया जासकता—

[अस्पर्शम्] जो स्पर्श गुण वाले वायु से विलक्षण है और जिसका स्पर्शेन्द्रिय [त्वचा] द्वारा ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता अर्थात् जा छुआ नहीं जा सकता।

[अरूपम्] जिसका कोई स्वरूप नहीं, अतएव जो नेत्रों से देखा भी नहीं जा सकता

[अव्ययम्] जो अविनाशी है।

[अरसम्] जो जल के रसनामक गुण से रहित है अर्थात् रसना [जिह्वा] करके चाखा नहीं जा सकता—

[नित्यम्] जो अनादिकाल से सर्वदा एकरस ही रहता है.

[अगन्धवत्] जो पृथिवी के गन्ध गुण से पृथक् वर्तमान है, अर्थात् सूंघने से नहीं जाना जाता वा उस में किसी प्रकार का गन्ध नहीं है—

[अनादि] जिसका कोई आदिकारण भी नहीं हैं और जो किसी पदार्थ का आदिकारण अर्थात् उपादान कारण तो नहीं हैं किन्तु आदि निमित्त कारण है

[अनन्तम] जिस की व्याप्ति का कोई ओर छोर नहीं अर्थात् जो सर्वत्र व्यापक नाम असीम है, जिसकी महिमा शक्ति विद्या आदि गुणों का पार वा वार नहीं है

[महतः परम्] जो महत्तत्व अर्थात् जीवात्मा से भी परे है

[यहां महत्तत्व से जीवात्मा का ग्रहण है]

[ध्रुवम्] जो अचल है, कभी चलायमान नहीं होता

[तत् निचाय्य] उस ब्रह्म को जान कर

[मृत्युमुखात्प्रमुच्यते] मनुष्य मृत्यु के मुख से अर्थात् जन्म मरण के प्रवाहरूप दुःखसागर से छूट जाता है॥

योगानुष्ठानविषयक उपदेश की आवश्यकता ।

अतएव योगाभ्यास करना सब मनुष्यों को सर्वदा और सर्वत्र ही उचित है और विद्वानों को भी उचित है कि—

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि ॥
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ॥१३॥

कठ० वल्ली ३ मंत्र० १७

शरीर इन्द्रिय और मन [अन्तःकरण] को शुद्ध शान्त और स्वस्थ करके इस परम गुप्त अर्थात् एकान्त में शिक्षा करने योग्य ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी उपदेश जो ब्राह्मणों अर्थात् आप्त विद्वानों की सभा अथवा उस समय में कि जब अनेक विद्वानों की सभा अथवा उस समय में कि जब अनेक विद्वानों का भोजनादि से श्रद्धापूर्वोक्त सत्कार किया जावे वा करे जिससे कि वह उपदेश अनन्त होने को समर्थ हो। अर्थात् उपदेश तो एकान्त गुप्तस्थान में करे, किन्तु उसका सत्य २ यथार्थ व्याख्यान विद्वानों की सभामें करके उस के सीखने और अभ्यास करने की रुचि बहुत से पुरुषों में उत्पन्न करे जिस से कि जगत् में इस विद्या का सर्वत्र प्रचार हो कर वह उपदेश अनन्तता को प्राप्त हो। तथा उस समय में जिज्ञासु को उचित है कि विद्वानों का सत्कार भोजन दक्षिणादि से यथाशक्ति करे॥

वेद में अनेक स्थलों पर प्रकरणानुकूल अनेक उपदेश स्वयं परमकारुणिक परमात्मा ने अनुग्रह पूर्वक दयादृष्टि मुमुक्षु जनों अर्थात् योग के शिक्षकों और शिष्यजनोंके हितार्थ स्पष्टतया किये हैं, उन में से एक यह भी ईश्वर की आज्ञा है

कि इस जगत् में जिस को सृष्टि के पदार्थों का विज्ञान जैसा हो वैसा ही शीघ्र दूसरों को बतावे। जो कदाचित् दूसरों को न बतावे तो वह [विज्ञान] नष्ट हुआ किसी को भी प्राप्त न हो सके। यथा अगले वेदमन्त्र से स्पष्ट उपदेश किया है कि अध्यापक लोगों को उचित है कि निष्कपटता से विद्यार्थी जनों को पढ़ावें।

ओम्–अग्ने यत्तेदिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वायजत्र
येनान्तरिक्षमुर्वा ततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥

य० अ० १२ मन्त्र ४८

(यजत्राग्ने-हे सङ्गम करने योग्य विद्वन्)

(यत्ते*दिवि*वर्चः) आप के*जिस अग्नि के समान द्योतनशील आतमा में जो*विज्ञान का प्रकाश है

(यत्*पृथिव्यां*ओषधीषु*अप्सु "वर्चोस्ति,, और पृथिवी में यवादि ओषधियों में और प्राणों वा जलों में जो तेज है"

(येन–नृचक्षाः–भानु –अर्णवः–त्वेषः) जिस से मनुष्यों को दिखाने वाला सूर्य बहुत जलों वर्षाने हारा प्रकाश है और

(येन–अन्तरिक्षम्–उरु–आततन्थ) जिस से आकाश को आप बहुत विस्तार युक्त करते हो

("तथा,, सः–"त्वं तदस्मासु धेहि,,) सो आप वह सब तेज वा विद्यार्क हम लोगों में धारण कीजिये॥

इस अध्याय के अन्त में जो ब्रह्मज्ञान का उपाय कहा है, उसकी विधि दूसरे अध्यायमें आगे कहेंगे कि किसर प्रकारके कर्मों तथा योग विषय क्रियाओं के अनुष्ठान द्वारा परमानन्द

स्वरूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होकर अक्षय नाम अमृतरूप मोक्षा-
नन्द जीव को प्राप्त होता है।

ओ३म् शान्तिःशान्तिःशान्तिः ॥

इति श्री—परमहंसपरिव्राजकचार्याणां परमयो-
गिनां श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनां
शिष्येण लक्ष्मणानन्दस्वामिना
प्रणीते ध्यानयोगप्रकाशा-
ख्यग्रन्थे ज्ञानयोगोनाम
प्रथमोऽध्याय
समाप्तः ॥१॥

ओ३म्

अथ कर्मयोगो नाम द्वितीयोध्यायः

—:◌*◌:—

कर्म की प्रधानता

—:(:०:):—

ओं कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः ।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

यजुः०अ०४मं०२) (ई०उ०मं०२) (स०प्र०समु०७पृ०(८६)

(अर्थ) मनुष्य इस संसार में धर्मयुक्त वेदोक्त निष्काम कर्मों को करता हुवा ही सौ वर्ष जीवन की इच्छा करे । इस प्रकार धर्म युक्त कर्म में प्रवर्त्तमान और व्यवहारों को चलाने हारे जीवन के इच्छुक होते हुवे तुझ मनुष्य में अधर्मयुक्त अवैदिक काम्यकर्म नहीं लिप्त होता, किन्तु इस से अन्यथा (विरुद्ध, प्रतिकूल) वर्त्ताव करने में कर्मजन्य दोषापत्तिरूप पापादि के लगनेका अभाव नहीं होता अर्थात् अधर्मयुक्त अवैदिक ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध सकाम कर्म करने से मनुष्य कर्म में लिप्त हो ही जाता है, इस में सन्देह नही ॥

[भावार्थ] मनुष्य आलस्य को छोड़ के सब के देखने हारे न्यायाधीश परमात्मा और उस की करने योग्य आज्ञाको मान के अशुभ कर्मों को छोड़ते हुवे ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या और अच्छी शिक्षा को पाके, उपस्थ इन्द्रिय के रोकने से प-

राक्रम को बढ़ा के अल्पमृत्यु को हटावें। युक्त आहार विहार से सौ वर्ष की आयु को प्राप्त होवें। जैसे२ मनुष्य सुकर्मों में चेष्टा करते हैं, वैसे२ ही पापकर्म से बुद्धि की निवृति होती और विद्या, अवस्था और शीलता बढ़ती है॥

सर्वतन्त्रसिद्धान्तरूप सारांश इस वेद की श्रुति का यह है कि जो २ धर्मयुक्त वेदोक्त ईश्वर की आज्ञापालनरूप कर्म हैं वे २ सब निष्काम कर्म ही हैं, क्यों कि उन से केवल ईश्वर की वेदोक्त आज्ञा का ही पालन होता है। अतः उनमे से कोई भी चेष्टा काम्य वा सकाम कर्मसंज्ञक नहीं, किन्तु मनुष्य जो २ अधर्मयुक्त अवैदिक कर्म ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध, जिन के करने में कि अपना आत्मा भी शंका, लज्जा, भयादि करता है: वे २ कर्म अज्ञानान्धकार से आच्छादित, इच्छा वा कामना से युक्त होने के कारण पाप रूप सकाम कर्म कहाते हैं, क्यों कि वे अल्पज्ञ जीवात्मा की अज्ञानयुक्त कामना से रहित नहीं होते। श्रेष्ठ कर्मों में कोई कामना नहीं समझनी चाहिए क्यों कि उन पुण्यकर्मों को मनुष्य अपना धर्म (फ़र्ज़) जानकर ईश्वर की आज्ञा का यथावत पालन मानकर ही करताहै अतः धर्मयुक्त कर्मों को निष्काम और अधर्मयुक्त पाप कर्मों को ही काम्य वा सकाम कर्म जानो॥

जिस प्रकार के कर्म करने चाहियें सो आगे कहते हैं।

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयताम्,
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम् ।
संगः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढा धीयताम्,
सद्विद्वानुपसर्प्यतामनुदिनं तत्पादुके सेव्यताम् ॥ १ ॥

(अर्थ) सदा वेदों का पठन पाठन. वेदोक्त कर्म का अनुष्ठान, उस कर्मद्वारा परमेश्वर की उपासना काम्य (सकाम

अधर्मयुक्त वेद प्रतिकूल) कर्म का त्याग, सज्जनों का संग परमेश्वर में दृढ़ भक्ति और सद्विद्वानों (अर्थात् आप्तविद्वान् उपदेशकों) के समीप जाकर उनकी यथाशक्य सेवा शुश्रूषा प्रतिदिन करना उचित है ॥ १ ॥ उक्त विद्वानों से उपदेश ग्रहण करके फिर—

ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरोवाक्यं समाकर्ण्यतां दु-स्तर्कात्सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसंधीयताम् । वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरःपक्षःसमाश्रीयताम् ॥ औदासी न्यमभीप्सतां जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम् ॥ २ ॥

"ओ३म्" जो श्रुति (वेद) का शिरोमणि वाक्य तथा ब्रह्म का एकाक्षर नाम है, उसकी व्याख्या सुनना और उसके अर्थ का विचार करना (अथवा एकाक्षर जो शब्द ब्रह्म ओं है, उसका अर्थ विचारना तथा वेदानुकूल वाक्य का सुनना) दुष्ट तर्कवाद से हटते (बचते) रहना, वेदमत के अनुसार तर्क का अनुसन्धान करना (जिससे वेदोक्त मार्ग की पुष्टि हो ऐसा तर्क). उक्त सुने हुए वाक्य का अर्थ विचारना, वेदानुकूल पक्ष का आश्रय (अवलम्बन) स्वीकार करना. दुष्ट जनों के साथ मित्रता न शत्रुभाव रखना किन्तु उदासीनता वर्तना, अन्य सब जनों विशेषतः दुःखियोंपर कृपा वा दयाभाव रखना और निठुरता का त्याग योगी को सदा करना उचित है ॥ २ ॥

इस प्रकार ब्रह्मचर्य और गृहस्थ में दुष्टकर्मों का त्याग और सत्कर्मों तथा योगाभ्यास का अनुष्ठान करते हुए योग्य अधिकारी योगी बने ।

एकान्तेसुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयताम् , पूर्णात्मासुसमीक्ष्यतां जगदिदंतद्बाधितंदृश्यताम् । शान्त्यादिः

परिचीयतां दृढतरं कर्माशु सन्त्यज्यतामात्मेच्छान्यनसीयतां
निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम् ॥

पश्चात् वानप्रस्थाश्रम धारण करके सुखपूर्वक एकान्त स्थान में बैठ कर समाधियोग के अभ्यास द्वारा पूर्णब्रह्म परमात्मा का विचार करे। इस सम्पूर्ण चराचर जगत् को अनित्य जाने और शान्ति आदि शुभ कल्याणकारी गुण कर्म स्वभाव का दृढ़तर धारण करे। तदनन्तर संन्यास लेकर वेदानुकूल कर्मकाण्डोक्त अग्निहोत्रादि सत्त्वगुण प्रधान कर्मों को भी शीघ्र त्याग कर शुद्धसत्त्व के आश्रय केवल आत्मज्ञान का ही व्यसन (शौक़, इश्क़) रक्खे और अपने गृह से शीघ्र ही चला जाय।

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां,
स्वाद्वन्नं न च याच्यतां विधिवशात्प्राप्ते न सन्तुष्यताम्।
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथावाक्यं समुच्चार्यताम्,
पापौघःपरिधूयताम् भवसुखे दोषोऽनुसन्धीयताम् ॥

उक्त संन्यासाश्रम में नित्यप्रति भिक्षाद्वारा प्राप्त अन्नरूपी ओषधी का केवल इतना भोजन करे कि जिससे क्षुधारूपी रोग की निवृत्ति मात्र होजाय, स्वादिष्ट अन्नादि पदार्थ भिक्षा लेने जाय तब कभी न मांगे, जो कुछ दैवयोग से मिल जाय उसही में सन्तुष्ट रहे, शीतोष्णादि द्वन्द्वों का सहन करे वृथा (निरर्थक वाव्यार्थ) वाक्य आवश्यकता बिना कभी न कहे। इसप्रकार धर्म के वर्त्तावसे पापोंके समूहका नाश करता और सांसारिक सुखों को दोषदृष्टि से निरन्तर विचारता ही रहे।

—:०:—

योगाभ्यासविषयक वेदोक्त ईश्वराज्ञा पुरुषों के लिये ।

वेद में परब्रह्म परमात्मा ने जीवों के कल्याण के लिये योगाभ्यास के अनुष्ठान करने का यह उपदेश किया है कि प्रातःकाल (ब्राह्म मुहूर्त) में उत्तम आसन प्राप्त कर के प्राणायामादि योगाभ्याससम्बन्धी क्रियाओं द्वारा मोक्षप्राप्ति के निमित्त पुरुषार्थ करना तथा आप्त विद्वानों के सत्संग से इस ब्रह्मविद्या का यथावत् उपार्जन करना चाहिये सो वेद की ऋचा नीचे लिखी है ॥

ओं-प्रातर्यावण्णः सहस्कृत सोमपेयाय सन्त्य ।

इहाऽद्य दैव्यं जनं बर्हिरासादया वसो ॥१॥

ऋ० मं० १ अ० ८ सू० ४५ अ० १ अ० ३ व० ३२

(भाष्य)

(सहस्कृत) हे सब को सिद्ध करने वाले

(सन्त्यं)-संभजनीय क्रियाओं (अर्थात् योगाभ्यास) में कुशल विद्वानों में सज्जन और

(वसो)—श्रेष्ठ गुणों में वसने वा विद्वान् ! तू

(इह)=इस ब्रह्मविद्याव्यवहार में

(अद्य+सोमपेयाय)=आज+सोमरस के पीने के लिये अथवा शुद्ध सत्वमय सच्चिदानन्द परमात्मा की प्राप्ति से आनन्दभोगों की प्राप्ति के लिये

(प्रातर्यावण्णः)=प्रातःकाल में योगाभ्यासादि पुरुषार्थ को प्राप्त होने वाले विद्वानों को और

(दैव्यम्+जनम्)=विद्वानों में कुशल पुरुषार्थयुक्त धार्मिक मनुष्य को, तथा

(बर्हिः) = उत्तम आसन को
(आसाद्य) प्राप्त कर

(भावार्थ) जो मनुष्य उत्तम गुणयुक्त जिज्ञासुमनुष्यों को ही उत्तम वस्तु वा उत्तम उपदेश देते हैं, ऐसे मनुष्यों ही का संग सब लोग करें क्योंकि कोई भी मनुष्य विद्या वा पुरुषार्थ युक्त मनुष्यों के संग वा उपदेश विना पवित्र गुण वस्तुओं और सुखों को प्राप्त नहीं हो सकता ॥

अब स्त्रियों के लिये योगाभ्यास करने की वेदोक्त ईश्वरीय आज्ञा आगे लिखते हैं ॥

योगाभ्यास विषयक वेदोक्त ईश्वराज्ञा स्त्रियों के लिये

ओम्—अङ्गान्यात्मन् भिषजा तदश्विनात्मानमङ्गैः समधात् सरस्वती । इन्द्रस्य रूप ँ शतमानमायुश्चन्द्रेण ज्योतिरमृतं दधानाः ॥

यजु० अ० १६ मं० ६३

[भावार्थ] हे मनुष्याः १ यूयं २ भिषजा ३ अश्विना "यथा" सरस्वती ४ आत्मन् [आत्मनि स्थिरा] योङ्गानि ५ "अनुष्ठाय" ६ आत्मानम् ७ समधात्

हे मनुष्यों ! तुम १ उत्तम वैद्य के समान रोगरहित २ सिद्ध साधक दो विद्वान् "जैसे" योगयुक्त स्त्री ३ अपने आत्मा में स्थिर हुई ४ योग के अंगों का "अनुष्ठान करके" ५ अपने आत्मा का ६ समाधान करती है

"तथैव" १ योगाङ्गै २ "यत्" इन्द्रस्य ३ रूपम् "अस्ति" ४ तत् ५ "संदध्याताम्" ३ "यथायोगम्" ७ दधानाः

शतमानम् ७ आयुः ८ "धरन्ति तथा" ९ चन्द्रेण १० अमृतम् ११ ज्योतिः "दध्यात"

"वैसे ही" योगांग से "जो" १ ऐश्वर्य का फल "है" उस का समाधान करो "जैसे योग को" धारण करते हुये जन २ सौ वर्ष पर्यन्त ३ जीवन को धारण करते हैं "वैसे" आनन्द से ४ अविनाशी ५ प्रकाशस्वरूप परमात्मा का "धारण करो"

(भावार्थ) जैसे रोगी लोग उत्तम वैद्य को प्राप्त हो, औषध और पथ्य का सेवन करके रोगरहित होकर आनन्दित होते हैं, वैसे ही योग को जानने की इच्छा करने वाले योगी लोग इस को प्राप्त हो, योग के अंगों का अनुष्ठान कर और अविद्यादि क्लेशों से दूर हो के निरन्तर सुखी होते हैं॥

इस मन्त्र से सर्वथा सिद्ध है कि स्त्रियों को भी योगाभ्यास पुरुषों के सदृश अवश्य प्रतिदिन करना चाहिये, निषेध कदापि नहीं। यदि वेद में निषेध होता तो ईश्वर में पक्षपात दोष आजाता क्योंकि जीवात्मा न तो स्त्री है न पुरुष है और न नपुंसक है, किन्तु जिस देह (योनि) को प्राप्त होता है। उसही प्रकार के कर्मों में प्रवृत्ति उसकी अधिक रहती है॥

योगव्याख्या।

अब वर्त्तमान शताब्दी के प्रसिद्ध योगी श्रीमद्महर्षि परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी दयानन्दसरस्वतीकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकान्तर्गत उपासना तथा मुक्तिविषयों तथा सत्यार्थप्रकाश पूर्वार्धगत नवम समुल्लास और योगाधिराज श्रीयुत पतञ्जलिमहामुनि प्रणीत योगशास्त्र के प्रमाणों द्वारा पुष्ट उस योगाभ्यास की व्याख्या की जाती है कि जो ध्यानयोग के

प्रथमांग ज्ञानयोग के पश्चात् अनेक क्रियाओं में अभ्यास करने से सिद्ध होता है। अतः यह ध्यानयोग का द्वितीय अंग है और कर्मयोग कहाता है। इस अध्याय में योग की सम्पूर्ण क्रियाओं तथा योग के आठों अंगों का वर्णन और विधान क्रमशः किया गया है॥

सम्प्रति जगत् में योगविषयक अनेक छल कपट वितण्डा वाद व्यर्थ क्रियायें और मिथ्याविश्वास प्रचलित हो रहे हैं, जिनसे जिज्ञासुओं को अनेक सम्भ्रम उत्पन्न होते हैं, तथा अनेक शारीरिक और मानसिक रोगोत्पत्ति भी संभव है और जिन से प्रायः अनेक लोग अनेक प्रकार से धोखे में पड़ कर विविध दुःख उठाते हैं। उस मिथ्यायोग के दूर करने के हेतु यह ग्रन्थ रचा गया है। जब जिज्ञासुजन इस ग्रन्थ के अनुसार योगाभ्यास सीखें और अनुष्ठान करेंगे तो उनको बहुत लाभ होगा और वर्त्तमान के प्रचलित योगाभ्यास से सुरक्षित रहेंगे॥

प्रायः योग की शिक्षा देनेहारे प्रथम नेती धोती प्रभावती जलवस्ति पवनचक्ति आदि अनेक रोगकारक क्रियाओं को सिखाते हैं, फिर अष्टांग योग की शिक्षा करने में वृथा वर्षों घुला देते हैं कि जिस से जिज्ञासुजन, बहुत काल में भी कुछ नहीं सीख पाते और जो कुछ सीखते हैं सो सब व्यर्थ ही होता है और इन ढकोसलों से उपदेशकाभास लोग अपने शिष्यरूप जिज्ञासुओं का बहुत धन भी हर लेते हैं॥

परन्तु इस ग्रन्थमें ऐसी सरलयुक्ति रक्खी है कि जिससे योग के आठों अंगों का आरम्भ के प्रथम दिन से एक साथ ही अभ्यास किया जा सकता है। जैसे कि मनुष्यादि शरीरों में हाथ पांव आदि अनेक अंग होते हैं और चेष्टामात्र करते समय सब ही अंगों की सहायता एक ही समय में मिलती

है, अथवा जैसे उत्पन्न हुवे बालक के सब ही अंग प्रतिदिन पुष्टि और वृद्धि पाते हैं, इसी प्रकार योग के भी आठों अंगों का साधन साथ ही साथ आरम्भ के दिन से होता है, फिर सब उत्तरोत्तर परिपक्व होते जाते हैं। यदि सम्पूर्ण योगांगों के अभ्यास वा साधन का आरम्भ एक साथ न हो सके तो योग की क्रिया अंगहीन (खण्डित) होजायगी अर्थात् यदि कोई सा भी योगांग योगाभ्यास करते समय छूट जाय तो यथावत् योग सिद्ध होना ही असम्भव है॥

आगे इस ही ग्रन्थ में यम[१], नियम[२], आसन[३], प्राणायाम[४], प्रत्याहार[५], धारणा[६], ध्यान[७], समाधि[८]; ये योग के आठ अंग कहे हैं और स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में कहे उपासना विषय पृष्ठ १७२ के अनुसार इन आठ अंगों का "सिद्धान्तरूप फल संयम है" अर्थात् योग के अभ्यास करने का सिद्धान्त यही है कि इन सब (आठ) अंगों का संयम करे। इस कथन का सर्वतन्त्र सिद्धान्तरूप आशय यह निकला कि इन आठों अंगोंको एकही कालमें एकत्र करने को योगाभ्यास करना जानो। पूर्वज ऋषि, मुनि और योगीजनों उपदेश किया परन्तु इस विषय का निर्णय तत्वदर्शी लोगों ने ही जाना है, अन्य पक्षपाती आग्रही मलिनात्मा अविद्वान् लोग इस बात को सहज में कैसे जान सकते हैं' क्योंकि जब तक मनुष्य विद्वान् सत्संगी होकर पूरा विचार नहीं करते और जब तक लोगों की रुचि और परीक्षा विद्वानों के संग में तथा ईश्वर और उसकी रचना में नहीं होती, तब तक उनका विज्ञान कभी नहीं बढ़ सकता, प्रत्युत सदा भ्रम जाल में पड़े रहते हैं॥

वक्ष्यमाण वर्णन से विचारशील जनों की समझ में अच्छे प्रकार शुद्ध आ सकता है कि योग का अभ्यास उसके सब अंगों सहित ही किया जा सकता है, क्योंकि अभ्यास करते समय जो—

(१) सत्य के ग्रहण असत्य के त्यागपूर्वक अन्तःकरण की आभ्यन्तर शुद्धि (पवित्रता) सम्पादन करना, मानो यमों और नियमों का साधन हैं ॥

(२) चिरकाल तक निश्चय होकर आसन पर बैठने का अभ्यास करना, मानो आसन का सिद्ध करना हैं ॥

(३) प्राण, अपान, समान आदि वायुओं (प्राणों) की सहायता से मन को रोकने का अभ्यास करना, मानो प्राणायाम करना है ॥

(४) मन को वश में करने द्वारा इन्द्रियों को बाह्यविषयों से रोकने की चेष्टा करना, मानो प्रत्याहार का अभ्यास करना है ॥

(५) नासिकाग्र आदि एक देश में मन की स्थिति का सम्पादन करना, मानो धारणा का अभ्यास करना है ॥

(६) उस धारणा के ही देश में मन तथा इन्द्रियादि की स्थिति करके सर्वथा ध्यान को वहां पर ठहराना, मानो ध्यान का अभ्यास करना है ॥

(७) ध्यान की एक स्थान में अचल स्थिति करके जो चित्त की समाहितदशा होती है, उसका नाम समाधि है कि जिस अवस्था में मन फिर नहीं डिगता। सो यह समाधि अवस्था प्रयत्न और पुरुषार्थ से परिपक्क होकर चिरकाल तक अभ्यास करने से सिद्ध होती है, किन्तु क्षण मात्र आरम्भ में भी होनी असम्भव नहीं ॥

अब विचारना चाहिये कि कौनसा अङ्ग नवशिक्षित योगाभ्यासी को आरम्भ में छोड़ देना उचित है. अर्थात् कोई भी नहीं। क्योंकि पूर्वोक्त अङ्गों में से केवल एक २ अंग का ही अभ्यास करना वा किसी एक अंग वा कई अंगों को छोड़कर अभ्यास करना बनता ही नहीं । अर्थात् क्या उस समय आभ्यन्तर शुद्धि न करनी चाहिये, ? वा आसन पर न बैठना चाहिये ? वा मन और प्राणों को वश में न करना चाहिये ? वा इन्द्रियों को वश में न करना चाहिये अथवा शरीर के किसी एक स्थान में धारणा ध्यान समाधि के लिये अभ्यास वा प्रयत्न न करना चाहिये ।

उपरोक्त कथन का सारांश यह है कि सामान्य पक्ष में तो योग के आठों अंग आरम्भ करने के दिन से ही सीखने वाले मनुष्य को करने चाहियें, परन्तु ज्यों २ अधिक पुरुषार्थ (परिश्रम) श्रद्धाभक्ति और आस्तिकतादि शुभगुणपूर्वक किया जायगा त्यों त्यों सब अंग साथ ही साथ परिपक्क होकर पूर्ण समाधि होकर पूर्ण समाधि होने लगेगी ॥

योग क्या है और कैसे प्राप्त होता है

योग शब्द का अर्थ मिलना वा जुड़ना है, अर्थात् परब्रह्म परमात्मा के साथ जीवात्मा का मेल मिलाप, मिलना, भेटना अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति करना ही योग कहाता है और उस योग के उपायों का अभ्यास करना योगाभ्यास कहाता है। विषयानन्द में आरूढ़ तथा मन और इन्द्रियों के वशीभूत होकर अनिष्टकर्मानुष्ठान द्वारा ईश्वर की आज्ञाओं के प्रतिकूल चलना वियोग कहाता है। वियोगी पुरुषों से ईश्वर का वियोग और योगियों से ईश्वर के साथ योग प्राप्त होता

है। वह योग समाहितचित्त पुरुष ही प्राप्त कर सकते हैं। इस लिये योगविद्या के आचार्य महर्षि पतञ्जलि योगशास्त्र को आरम्भ करते ही द्वितीय सूत्र में यही उपदेश करते हैं—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ यो० पा० १ सूत्र २

(अर्थ) चित्त की वृत्तियों के रोकने का नाम योग है अर्थात् चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा के शुभ गुणों में स्थिर करके परमेश्वर के समीप में मोक्ष के प्राप्त करने को योग कहते हैं। और वियोग उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध बुराइयों में फंसकर उस परमात्मा से दूर होजाना॥

विधि—इस लिये जब २ मनुष्य ईश्वर की उपासना करना चाहे तब २ इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करे, तथा सब इन्द्रिय और मनको सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले अन्तर्यामी अर्थात् सब में व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छे प्रकार से लगाकर, सम्यक् चिन्तन करके उसमें अपने आत्मा को नियुक्त करें। फिर उसी की स्तुति प्रार्थना और उपासना को वारंवार करके अपने आत्मा को भली भांति से उसमें लगा दे॥

भू० पृ० १६४–१६५

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज की कही इस विधि से भी सिद्ध होता है कि योग के साधनरूप चित्त के निरोध करने में आठों अंगों का अनुष्ठान करना पड़ता है अर्थात् कोई भी अंग नहीं छूटता। संसारसम्बन्धी अन्य कार्यों में भी सर्वज्ञ परमेश्वर को सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी,

सर्वद्रष्टा आदि जानकर उससे भय करके दुराचार, दुर्व्यसन आदि अशुभ गुणकर्म स्वभावयुक्त अधर्म मार्ग से मनको पृथक् रखना अतीव आवश्यक है, क्योंकि जिसके सांसारिककर्म पापयुक्त हों वह पुरुष परमार्थ अर्थात् मोक्ष के उपाय को क्या सिद्ध कर सकता है।

यद्यपि मन के संकल्प विकल्प जिनका एकाएकी रोक सकना नवशिक्षित पुरुषों के लिये कठिन है, तो भी वाणी को तो अवश्य मेव वश में रखना चाहिये। इस विषय में वेद का भी प्रमाण यह है कि—

ओम्—आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात्।
अग्ने त्वाङ्कामया गिरा॥ य० अ० १२ मं० ११५

(अग्ने)हे अग्निके समान तेजस्वी!विद्वान् पुरुष वा हे सोम!
(त्वांकामया गिरा) कामना करने के हेतु तेरी वाणी से

ते—मनः—चित् परमात्सधस्थात् वत्सो-"गोरिव"-आयमत्

जो मन परम उत्कृष्ट एक से समान स्थान से इस प्रकार स्थिर हो जाता है कि जैसे बछुड़ा गौ को प्राप्त होता है

["स—त्वं—मुक्ति—कथन्नाप्नुयाः"]

सो तू मुक्ति को क्यों न प्राप्त होवे।

अर्थात् जैसे बछुड़ा सब ओर से अपने मन को हटाकर पालन पोषण और रक्षा करने वाली अपनी माता की ओर दौड़ता है, तो उसको उस की माता गौ प्राप्त हो जाती है, इसही प्रकार जब मनुष्य सब ओर से अपनी वाणी और मनको रोक कर अपने रक्षक परमात्मा में ही लगा देता है, तो उसको परमात्मा की प्राप्ति अवश्य हो जाती है॥

(भावार्थ) अतएव मनुष्यों को चाहिये कि मन और वाणी को सदैव अपने वश में रक्खे, यह वेद में ईश्वरीय उपदेश है।

(प्रश्न) जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटा कर स्थिर की जाती हैं, तब कहां स्थिर होती है।

(उत्तर) तदा द्रष्टुःस्वरूपेवस्थानम् ॥ यो०पा०१ सू० ३

(अर्थ) जब जीव निरुद्धावस्था में स्थिर होता है, तब सब के द्रष्टा परमेश्वर के स्वरूप में स्थिति को प्राप्त करता है यही योग प्राप्त करने का उपाय है।

अर्थात् सब व्यवहारों से जब मन को रोका जाता है तब उपासक योगी के चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियां सर्वज्ञ परमेश्वर के स्वरूप में इस प्रकार स्थिर हो जाती हैं कि जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बांध कर जब रोक देते हैं, तब वह जल जिधर नीचा होता है, उस ओर चलकर कहीं स्थिर हो जाता है।

चित वा मन की वृत्तियों के रोकेने का मुख्य प्रयोजन ईश्वर में स्थिर करना ही है। दूसरा प्रयोजन अगले सूत्र में कहा है भू० पृ० १६६

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ यो० पा० १ सू० ४

(अर्थ)—निरुद्धावस्था के अतिरिक्त अन्य दशाओं में चित्त वृत्ति के रूप को धारण कर लेता है।

अर्थात् उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्षशोक रहित आनन्द से प्रकाशित पाकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है और संसारी मनुष्य की सदा हर्षशोकरूप दुःखसागर में ही डूबी रहती है।

सारांश यह है कि योगी जन तथा संसारी जन दोनों ही व्यवहारों में तो प्रवृत्त होते ही हैं, परन्तु उपासक योगी तो सत्वगुणमय ज्ञानरूप प्रकाश के सकाश से सब काम विचार पूर्वक करते हैं, अतः उनका ज्ञान बढ़ता जाता है और संसारी मनुष्य सदा सब व्यवहारों में रजोगुण और तमोगुण के अन्धकार में फंसे रहते हैं, अतएव उनके चित्त की वृत्ति सदा अन्धकार में ही फंसती जाती है। भू० पृ० १६६

(प्रश्न) चित्त की वृत्तियां कितनी हैं।

(उत्तर) वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥

यो० पा० १ सू० ५

(अर्थ) सब जीवों के मन पांच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती हैं। उनके दो भेद हैं। एक तो क्लिष्ट अर्थात् क्लेशसहित और भेद और दूसरी अक्लिष्ट अर्थात् क्लेशरहित।

उनमें से जिन मनुष्यों की वृत्ति विषयासक्त और परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है, उनकी वृत्ति अविद्यादि क्लेशसहित और जो श्रेष्ठ उपासक हैं उनकी क्लेशरहित शांत होती हैं। भू० पृ० १६६

(प्रश्न) वे पांच वृत्तियां कौन २ सी हैं ?

१ २ ३ ४ ५ ६

(उत्तर) प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥

यो० पा० १ सू० ६

(अर्थ) वे पांच वृत्तियां ये हैं–पहली प्रमाण वृत्ति, दूसरी विपर्ययवृत्ति, तीसरी विकल्पवृत्ति, चौथी निद्रावृत्ति और पांचवी स्मृतिवृत्ति।

इन सब वृत्तियों के विभाग और लक्षण आगे कहते हैं।

(१) प्रमाणवृत्ति

तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥

यो० पा० १ सू० ७

अर्थ—प्रमाणवृत्ति तीन प्रकार की है अर्थात् (१) प्रत्यक्ष वृत्ति, (२)अनमानवृत्ति, (३) आगम वृत्ति।

अक्षमक्षं प्रतीति प्रत्यक्षम् ।।

इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है. उसको प्रत्यक्ष कहते

अनु पश्चान्मीयतेऽनेनेत्यनुमानम् ।

(अर्थ) प्रत्यक्ष के अनन्तर जिस वृत्ति के द्वारा ज्ञान होता है उसको अनुमान कहते हैं।

आ समन्ताद्गम्यते बुध्यतेऽनेनेत्यागमः शब्दः ॥

भले प्रकार समझा जाय जिसके द्वारा उसे आगम कहते हैं, अर्थात् शब्दप्रमाण को आगम कहते हैं। सो मुख्यतया शब्दप्रमाण वेद ही है, इसी कारण वेद को आगम कहते हैं तदनुकूल आप्तोपदिष्ट सत्यग्रन्थ भी शब्दप्रमाण हो सकते हैं।

न्यायशास्त्र के अनुसार प्रमाण आठ प्रकार का है, जिस को श्रीयुत स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने भी निज सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया है (देखो भू० पृ० ५२) यहां इस प्रकार लेख चला है:—

(प्रश्न) दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते ?

आप दर्शन (प्रमाण) कितने प्रकार का मानते हो !

(उत्तर) अष्टविधं चेति।

(अर्थ) आठ प्रकार का

(प्रश्न) किं च तत् ।

(अर्थ)—"वे आठ प्रकार के प्रमाण" कौन २ से हैं ?

(उत्तर) अत्राहुर्गोतमाचार्या न्यायशास्त्रे—

(अर्थ) इस विषय में गोतमाचार्य ने न्यायशास्त्र में ऐसा प्रतिपादन किया है कि—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्ति-

संभवाभावसाधनभेदादष्टधा प्रमाणम् ॥

न्य० अ० १ सू० ५ (भू० पृ० ५२

(अर्थ) (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) शब्द. (५) ऐतिह्य, (६) अर्थापत्ति, (७) संभव और (८) अभाव इस भेद से हम आठ प्रकार का दर्शन (प्रमाण) मानते हैं ॥

१—(प्रत्यक्ष) = इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्य-

मव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥१॥

न्या० अ० १ सु० ४(भू० पृ० ५२)

(अर्थ) प्रत्यक्ष उसको कहते हैं कि जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्य अर्थात् निर्भ्रम और निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न हो ॥ १ ॥

अर्थात् जब श्रोत्र, त्वचा चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है, तब इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। परन्तु व्यपदेश्य अर्थात् संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध और शब्द मात्र से जो ज्ञान होता है, सो शब्दप्रमाण का विषय होने के कारण प्रत्यक्ष की गणना में नहीं। अत शब्द से जिस पदार्थ का कथन किया जाय उस पदार्थ का "अव्यपदेश्य" और यथार्थ बोध प्रत्यक्ष कहाता है। वह ज्ञान भी "अव्यभिचारि" (न बदलने वाला अविनाशी) और "व्यवसायात्मक" (निश्चयात्मक) हो। (स० प्र० समु० ३ पृ० ५५

२–(अनुमान) अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च ॥

न्या० अ० १ आ० सू० ५ (भू० पृ० ५२)

प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम् ।
यत्र लिङ्गज्ञानेन लिंगिनो ज्ञानं ज्ञायते तदनुमानम्॥२॥

अर्थात् जो किसी पदार्थ के चिन्ह देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान होता है, वह अनुमान कहाता है। ऐसा ज्ञान अनुमान द्वारा तभी होता है, जब उस पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रथम हो चुका हो। अर्थात् जो "प्रत्यक्षपूर्व" नाम जिस का कोई एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हो चुका हो, उसका दूरदेश से सहचारी एकदेश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट अवयवी का ज्ञान होना, अनुमान कहाता है। वह अनुमान तीन प्रकार का होता है। यथा—

(१) "पूर्ववत्"=जहां कारण को देखकर कार्य का ज्ञान होता है, वह पूर्ववत् अनुमान कहाता है। जैसे पुत्र को देख कर पिता का अनुमान किया जाता है॥

(२) "शेषवत्" जहां कार्य को देखकर कारण का ज्ञान हो, वह शेषवत् अनुमान कहाता है। जैसे पुत्र को देखकर पिता का अनुमान किया जाता है॥

(३) सामान्यतोदृष्ट=जो कोई किसी का कार्य कारण न हो, परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक दूसरे के साथ हो, जैसे कोई भी विना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता, वैसे ही अनुमान से जान लेना कि दूसरा कोई भी पुरुष स्थानान्तर में तब तक नहीं पहुंच सकता, जब तक कि वह चलकर वहां न जाय ॥२॥ स० प्र० पृ० ५५

३-(उपमान) प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ।
न्याय० अ० १ आ० १ सूत्र ६ (भू० पृ० ५२--५३)

(अर्थ) जो प्रसिद्ध प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य ज्ञान की सिद्धि करने का साधन हो, उसको सिद्ध उपमान कहते हैं । तुल्यधर्म से जो ज्ञान होता है उसको उपमान प्रमाण जानो ॥

उपमानं सादृश्यज्ञानम् । उपमीयते येन तदुपमानम् ३ ॥

(अर्थ) सादृश्य (एक से) पदार्थों का ज्ञान उपमान से होता है । जिससे किसी अन्य व्यक्ति वा पदार्थ की उपमा दीजाय उसे उपमान कहते हैं । यथा उदाहरण-गाय के समान गवय [नीलगाय] होती है, देवदत्त के सदृश विष्णुमित्र है । अर्थात् जिस किसी का तुल्यधर्म देख के उसके समान धर्म वाले दूसरे पदार्थ का ज्ञान जिस से हो, उसको उपमान कहते हैं ॥ (सं० प्र० पृ० ५६]

४-(शब्द) आप्तोपदेशः शब्दः ॥

(न्या० अ० १ आ० १ सूत्र ७) ॥४॥

(भू० पृ० ५२) (स० प्र० पृ० ५६)

शब्द्यते प्रत्याय्यते दृष्टोऽदृष्टश्चार्थो येन स शब्दः ।
ऋते ज्ञानान्नमुक्तिरित्युदाहरणम् ॥

(अर्थ) जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान् धर्मात्मा, परोपकार प्रिय, सत्यवादी पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय, पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो, उसही सत्य विषय के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ, उपदेष्टा हो, अर्थात् पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके जो कोई उपदेष्टा हो, उसके वचन

को शब्दप्रमाण जानो। अर्थात् जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थ का निश्चय कराने वाला आप्त का किया हुआ उपदेश [वाक्य] हो उसको शब्द प्रमाण कहाते हैं। उदाहरण यथा—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" ज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती। इस प्रकार पूर्वोक्तलक्षणयुक्त आप्त विद्वानोंके बनाये शास्त्र तथा पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं, उन्हीं को शब्द प्रमाण वा आगम प्रमाण जानो।

(भू० पृ० ५३) (स० प्र० समु० २ पृष्ठ ५६)

५—(ऐतिह्य) = ऐतिह्यं (इतिहासं) शब्दोपगतमाप्तोपदिष्टम् ग्राह्यम् ॥ ५ ॥

[इति-ह-आस] वह निश्चय करके इस प्रकार का था। वा उसने इस प्रकार किया, अर्थात् किसी के जीवनचरित्र का नाम ऐतिह्य है। सो सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश का नाम इतिहास (ऐतिह्य) जानो। यथा ऐतरेय शतपथ आदि सत्य ब्राह्मण ग्रन्थों में जो देवासुरसंग्राम की कथा लिखी है वही ग्रहण करने योग्य है, अन्य नहीं। ऐसे ही अन्य सत्य इतिहास ऐतिह्य प्रमाण कहाते हैं।

(स० प्र० पृ० ५६) भू० पृ० ५३)

६—(अर्थापत्ति) अर्थादापद्यते सार्थापत्तिः ॥६॥

जो एक बात के कथन से उसके विरुद्ध दूसरी बात समझी जावे उसको अर्थापत्ति कहते हैं। यथा इस कथन से कि "बद्दल के होने से वर्षा होती है" वा "कारण के होने से कार्य होता है" यह विरुद्धपक्षी अर्थाशय विना कहे ही समझ लिया जाता है, कि बद्दल के विना वृष्टि और कारण के विना कार्य का होना असम्भव है। इस प्रकार के प्रमाण से जो ज्ञान होता है उसको अर्थापत्ति कहते हैं ॥ ६ ॥

७—(सम्भव) सम्भवति येन यस्मिन् वा स सम्भवः ॥७॥

जिस करके वा जिस में जो बात हो सकती हो, उसको सम्भव प्रमाण जानो। यथा माता पिता से सन्तानोत्पत्ति संभव है। (स० प्र० पृ० ५७) (भू० पृ० ५४)

अर्थापत्ति और इस सम्भव प्रमाण से ही असम्भव बातों का भी खण्डन हो जाता है। यथा—मृतक का जिला देना, पहाड़ उठा लेना, समुद्र में पत्थर तिरा देना, चन्द्रमा के टुकड़े कर देना, परमेश्वर का अवतार, शृंगधारी मनुष्य, वन्ध्यापुत्र का विवाह ये सब बातें सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने के कारण असम्भव और मिथ्या ही समझी जा सकती हैं क्यों कि ऐसी बातों का सम्भव कभी नहीं हो सकता। अतः जो बात सृष्टि-क्रम के अनुकूल हों वे ही सम्भव हैं ॥ ७ ॥

(स० प्र० पृ० ५७) (भू० पृ० ५४)

८—(अभाव) न भवन्ति यस्मिन् सोऽभावः ॥८॥

जो बात कहीं किसी में किसी प्रकार से भी न पाई जाय उसका सर्वथा अभाव ही माना जाता है ॥ ८ ॥

इनमें से जो "शब्द" में "ऐतिह्य" और "अनुमान" में "अर्थापत्ति" "सम्भव" और "अभाव" की गणना करें तो केवल चार प्रमाण ही रह जाते हैं।

यहां तक प्रमाणनामक प्रथम चित्त की वृत्ति का संक्षेप से वर्णन हुआ। आगे शेष चार वृत्तियों को कहते हैं।

(२) विपर्ययवृत्ति।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥

(यो० पा० १ सू० ८) (भू० पृ० १६६। १६६)

(अर्थ) दूसरी वृत्ति "विपर्यय" कहाती है। जिस से कि

ऐसा मिथ्याज्ञान हो कि जो पदार्थ के सत्यरूप को छिपा दे। अर्थात् ऐसा झूंठा ज्ञान कि जिस के द्वारा पदार्थ अपने पारमार्थिक रूप से भिन्न रूप में भान हो। अर्थात् जैसे को तैसा न जानना, अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना। यथा सीप में चांदी का भ्रम होना जीव में ब्रह्म का ज्ञान वा भान, यह विपर्ययज्ञानप्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रमाण से खण्डित हो जाता है। विपर्यय को ही अविद्या भी कहते हैं, जिसका वर्णन आगे होगा ॥२॥

(३) विकल्पवृत्ति

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ३ ॥

(यो० पा० १ सूत्र० ६) [भू० पृ० १६५ । १६६]

[अर्थ] तीसरी वृत्ति "विकल्प,, है कि जिस का शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके। अर्थात् शब्द मात्र से जिस का भान वा ज्ञान हो, परन्तु ज्ञेय पदार्थ कुछ भी न हो। यथा वन्ध्या का पुत्र, सींग वाले मनुष्य आकाशपुष्प। इस "विकल्प,, वृत्ति से भी " विपर्यय,, वृत्ति के समान संशयात्मि,कभ्रमात्मिक वा मिथ्याज्ञान ही उत्पन्न होता है। भेद इतना ही है कि विपर्ययवृत्तिजन्य ज्ञान में, तो कोई ज्ञेय पदार्थ अवश्यमेव होता है, परन्तु विकल्पवृत्ति में ज्ञेय पदार्थ कोई भी नहीं होता। केवल शब्दज्ञान मात्र इस में सार है। आशय यह है कि शब्दज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होने वाली वृत्ति जिस में शब्दज्ञान से मोहित हो जाने पर वास्तविक पदार्थ की सत्ताकी कुछ अपेक्षा न रहे; वह "विकल्प,, वृत्ति है

(४) निद्रा वृत्ति।

अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा ॥ ४ ॥

(यो० पा० १ सू० १०) भू० पृ० १६५-१६६)

(अर्थ) अभाव नाम ज्ञान के अभाव का जो आलम्बन करे और जो अज्ञान तथा अविद्या के अन्धकार में फँसी हुई वृत्ति होती है, उसको निद्रा कहते हैं कि जिसमें सांसारिक पदार्थों के अभाव का ज्ञान रहे अर्थात् अभाव ज्ञान के आश्रय पर ही जो स्थिर हो।

इस वृत्ति में तमोगुण ही प्रधान है, इसही कारण से सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान जाता रहता है और केवल अभाव का ही ज्ञान रहता है। यह वृत्ति जीव के वास्तविक स्वरूप में नहीं है, प्रत्युत अन्य वृत्तियों के समान जीव इसको भी जीत सकता है।

निद्रावृत्ति तीन प्रकार की होती है।

(१) एक तमोगुणप्रधान, जिस में रात्रि भर मनुष्य अतीव गाढ़ निद्रा में सोया हुआ रहने पर भी जगाने पर अति कठिनता से जागता है, तथापि सोने की इच्छा बनी रहती है और अवसर मिलने से फिर भी सो जाता है।

(२) दूसरी रजोगुण प्रधान, जिसमें कि मनुष्य रात्रि भर सोता भी रहे तथापि रात्रि के अन्त में जब जागता तब कहता है कि मुझे रात्रि को निद्रा अच्छे प्रकार नहीं आई और दिन में आलस्य बना रहता है।

(३) तीसरी सत्वगुण प्रधान निद्रा कहाती है, जिसको योगीजन लेते हैं और अधिक से अधिक चार घण्टे सो लेने

के उपरान्त जब जागते हैं तो स्मरण होता है कि हम बड़े आनन्दपूर्वक सोये।

उक्त त्रिविधि "निद्रावृत्ति" "स्मृतिवृत्ति" से जानी जाती हैं अर्थात् स्मृतिवृत्ति का भाव निद्रा में बना रहता है, यदि निद्रा में स्मृति न रहे तो जागने पर उसके अनुभव का वर्णन कैसे सम्भव है ?

निद्राजय का जिस किसी को यथावत् ज्ञान हो जाता है, वही पुरुष निद्रा को जीत भी सकता है, निद्रा को समाधि में त्यागना चाहिये, क्योंकि यह योगाभ्यास में विघ्न कारक है, इस वृत्ति का पूर्णज्ञान ध्यानयोग द्वारा ही होता है और उस ध्यानयोग से ही इसका निवारण भी हो सकता है।

निद्रा भी वृत्तियों में परिगणनीय इस लिये है कि मनुष्य को सुखपूर्वक वा दुःखपूर्वक आदि सोनेकी स्मृति विना अनुभव के नहीं होती॥

निद्रा के दो भेद और भी हैं अर्थात् एक तो आवरणवृत्ति और दूसरी लयतावृत्ति।

(१) आवरणवृत्ति उस को कहते हैं कि जो बादल की तरह ज्ञान को ढक लेती है। यह निद्रा का पूर्वरूप है।

(२) लयतावृत्ति वह कहाती है, जिस में निद्रावश मनुष्य झोके खाने लगता है।

उक्त सर्वप्रकार की निद्रा को ध्यानयोग से हटाना उचित है॥

(५) स्मृतिवृत्तिः

अनुभूतविषयासम्प्रमोषःस्मृतिः॥ ५॥

(यो० पा० १ सू० ११) (भू० पृ० १६५-१४६)

(अर्थ) अनुभूत पदार्थों के पुनर्विचार को स्मृति कहते

हैं। अर्थात् जिन विषयों का चित्त वा इन्द्रिय द्वारा अनुभव किया गया हो उनका जो वारंवार ध्यान होता रहता है, वही स्मृति वृत्ति है।

सारांश यह है कि जिस वस्तु के व्यवहार को प्रत्यक्ष देख लिया हो, उस ही का संस्कार ज्ञान में बना रहता है। फिर उस विषय को (असम्प्रमोष) भूले नहीं, इस प्रकार की वृत्ति को स्मृति कहते हैं।

स्मृति दो प्रकार की है। एक तो भावितस्मर्तव्या और दूसरी अभावितस्मर्त्तव्या।

(२) और जाग्रत् अवस्था में जो स्वप्नावस्था के पदार्थों की स्मृति होती है, उसको अभावितस्मर्त्तव्या स्मृति कहतेहैं॥

वृत्तियाम।

योगी को उचित है कि इन सब वृत्तियों का निरोध करे क्योंकि इन के हटाने के पश्चात् ही सम्प्रज्ञात वा असम्प्रज्ञात योग होसक्ता है।

इन पांचों वृत्तियों के निरोध करने अर्थात् इनको बुरे कर्मों और अनीश्वर के ध्यान से हटानेका प्रथम उपाय अगले दो सूत्रों में कहा है॥

प्रथम वृत्तियाम।

अभ्यासवैराग्याभ्यान्तन्निरोधः। (यो०पा१०सू०१२)

द्वितीय वृत्तियाम।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (यो० पा० १ सू० २३)

(अर्थ) (१) ईश्वर के निरन्तर चिन्तनमय योग की क्रियाओं के अभ्यास तथा वैराग्य से उक्त वृत्तियां रोकी जाती हैं। यह प्रथम वृत्तियाम है॥

(२) अथवा ईश्वर की भक्ति से समाधियोग प्राप्त होता है वह द्वितीय वृत्तियाम है॥

अर्थात् अभ्यास तो जैसा आगे लिखा जायगा उस विधि से करे। और सब बुरे कामों, दोषों, तथा सांसारिक विषय वासनाओं से अलग रहना वैराग्य कहाता है। इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पांचों वृत्तियों को रोक कर उनको उपासनायोग में प्रवृत्त रखना उचित है। तथा दूसरा यह भी साधन है कि ईश्वर में पूर्ण भक्ति होने से मन का समाधान होकर मनुष्य समाधियोग को शीघ्र प्राप्त होजाता है। इस भक्तियोग को ईश्वरप्रणिधान कहते हैं॥

इस प्रकार चित्तकी वृत्तियोंके निरोध करने को "वृत्तियाम" कहते हैं॥

ईश्वर का लक्षण।

अगले तीन सूत्रों में उस ईश्वर का लक्षण कहा जाता है कि जिस की भक्ति का विधान पूर्वसूत्र में किया है॥

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः

(यो० पा० १ सू० २४) (भू० पृ० १६७-१६८)

(अर्थ) अविद्यादि पांच क्लेश और अच्छे तथा बुरे कामों की समस्त वासनाओं से जो सदा अलग और बन्धन-रहित है, उस ही पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं, जो (परमात्मा) जीवात्मा से विलक्षण भिन्न है। क्योंकि जीव अविद्या-जन्य कर्मों को करता और उन कर्मों के फलों को परतन्त्रता से भोगता है॥

इस सूत्र में कहे पांच क्लेश ये हैं (१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष, और (५) अभिनिवेश। इन सब की व्याख्या आगे की जायगी ॥

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥

(यो० पा० २ सू० २४) (भू० पृ० १६७ १६८)

(अर्थ) जिस में नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है, वही ईश्वर है, जिस के ज्ञानादि गुण अनन्त हैं जो ज्ञानादि गुणों की परा काष्ठा है और जिस के सामर्थ्य की अवधि नहीं है ॥

जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है, इस लिये सब जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान बढ़ाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते हैं ॥

—०—

ईश्वर का महत्व

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥

यो० पा० १ सू० २६ (भू० पृ० १६७-१६८)

(अर्थ) वह पूर्वोक्त गुणविशिष्ट परमेश्वर पूर्वज महर्षियों का भी गुरु है, क्योंकि उस में कालकृत सीमा नहीं है। अर्थात् प्राचीन अग्नि वायु आदित्य, अंगिरा और ब्रह्मादि पुरुष जो कि सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुवे थे, उन से लेकर हम लोगों पर्यन्त और हम से आगे जो होने वाले हैं, इन सब का गुरु परमेश्वर ही है अर्थात् वेदद्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरु है। सो ईश्वर नित्य ही है क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की गति का प्रचार ही नहीं है। आगे ईश्वर की भक्ति अर्थात् स्तुति, प्रार्थना, उपासना की विधि दो सूत्रों में कही है ॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥

योo पाo १ सूo २७ (भूo पृo १६८)

(अर्थ) उस परमेश्वर का वाचक प्रणव अर्थात् ओंकार है अर्थात् जो ईश्वर का नाम ओंकार नाम है सो पितृपुत्र के सम्बन्ध के समान है और यह नाम परमेश्वर को छोड़ के दूसरे का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं उन में से ओंकार सब से उत्तम नाम है। इसलिये—

तृतीय वृत्तियाम

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥

योo पाo १ सूo २८ (भूo पृo १६८)

(अर्थ) इस ही नाम का जप अर्थात् स्मरण और उस ही का अर्थविचार सदा करना चाहिये। जिससे कि उपासक का मन एकाग्रता प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो, जिस से उस के हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेमभक्ति सदा बढ़ती जाय। जैसा कहा भी है कि—

"स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्
स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशत इति,,

[अर्थ] स्वाध्याय [ओं मन्त्र के जप] से योग को और योग से जप को सिद्ध करे। तथा जप और योग इन दोनों के बल से परमात्मा का प्रकाश योगी के आत्मा में होता है। यह मन को एकाग्र करने का तीसरा उपाय है ॥

आगे योगशास्त्रानुसार प्रणव जाप का फल कहा जाता है।

प्रणव जाप का फल।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥

यो० पा० १ सू० २६ [भू० पृ० १६६–१७०]

[अर्थ] तब परमेश्वर का ज्ञान और विघ्नों का अभाव भी हो जाता है ॥

अर्थात् उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और अन्तराय अर्थात् पूर्वोक्त अविद्यादि क्लेशों तथा रोगरूप विघ्नोंका नाश हो जाता है ॥

सारांश यह है कि प्रणव के जप और प्रणव के अर्थ को विचारने से तथा प्रणववाच्य परमेश्वर के चिन्तन से योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है। क्योंकि जो मनुष्य परमात्मा के उत्कृष्ट नाम प्रणव का भक्ति से जप करता है उस को परमात्मा पुत्र के तुल्य प्रेम करके उस के मन को अपनी ओर आकर्षण कर लेता है। अतएव समाधि की सिद्धि प्राप्त करने के लिये प्रणवका जप और उसके वाच्य परमेश्वरका चिन्तन अर्थात् उस परमात्मा का वारंवार स्मरण और ध्यान उपासक योगी को अवश्य करना चाहिये। तब उस योगी को उस अन्तर्यामी परमात्मा का सम्पूर्ण ज्ञान जैसा कि सर्वव्यापक, आनन्दमय अद्वितीय, आदि है, वैसा ही यथार्थता से होजाता है ॥

१ नव योगवल।

अगले सूत्र में उन विघ्नों का कथन है कि जो समाधि साधन में विघ्नकारक हैं, अर्थात् चित्त को एकाग्र नहीं होने देते।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।

योे० पा० १ सू० ३० [भू० पृ० १६६-१७०]

ये विघ्न नव प्रकार के हैं जो क्रमशः नीचे लिखे हैं। ये सब एकाग्रता के विरोधी हैं और रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न होते और चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं ॥

(१) व्याधि = शरीरस्थ धातुओं तथा रस को विषमता [बिड़ने वा न्यूनता वा अधिकता] से ज्वरादि अनेक रोगों तथा पीड़ाओं के होने से जो शरीर में विकलता होती है उसको व्याधि कहते हैं। यह शारीरिक विघ्न है, इससे चित्त व्याकुल होकर "ध्यानयोग" नाम समाधिसाधन में तत्पर नहीं रह सकता क्योंकि उस समय अस्वास्थ्य होता है ॥ १ ॥

(२) स्त्यान = सत्य कर्मों में अप्रीति, दुष्टकर्म का चिन्तन करना अथवा कर्म रहित होने की इच्छा करना स्त्यान कहाता है । इस विघ्न से चित्त चेष्टारहित वा कुचेष्टारत हो जाता है ॥ २ ॥

(३) संशय = जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे, उस का यथावत् ज्ञान न होना संशय कहाता है। जो दोनों कोटि का खण्डन, करने वाला उभयकोटिस्पृक् ज्ञान हो। कभी कहे कि यह ठीक है, कभी कहे दूसरा ठीक है। यह इस प्रकार से नहीं है, यह इस प्रकार से नहीं है अर्थात् जिससे दो विषयों में भ्रम होता है कि यह करना उचित है या वह करना उचित है । योग मुझे

सिद्ध होगा या नहीं। ऐसे दो प्रकार के भ्रमजन्य ज्ञानों का धारण करना संशय कहाता है ॥ ३ ॥

(४) प्रमाद = समाधिसाधनों के ग्रहण में प्रीति और उन का यथावत् विचार न होना प्रमाद कहाता है। इस विघ्न में मनुष्य सावधान नहीं रहता और योग के साधनों अर्थात् उपायों का चिन्तन नहीं करता और उदासीन हो जाता है ॥ ४ ॥

(५) आलस्य = शरीर और मन में प्राप्त करने की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना अर्थात् शरीर या चित्त के भारीपन से चेष्टारहित नाम अप्रयत्नवान् हो जाना आलस्य कहाता है ॥ ५ ॥

(६) अविरति = विषयसेवा में तृष्णा का होना। अर्थात् अविरति उस वृत्ति को कहते हैं कि जिसमें चित्त विषय के संसर्ग से आत्मा को मोहित या प्रलोभित कर देता है ॥ ६ ॥

(७) भ्रान्तिदर्शन = उलटे ज्ञान का होना। जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ बुद्धि करना तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वरभाव तथा आत्मा में अनात्मा और अनात्मा में आत्मा का भाव करके पूजा करना अथवा जैसे सीप में चांदी का ज्ञान होना भ्रान्तिदर्शन कहाता है इसको अविद्या भी कहते हैं॥७॥

(८) अलब्धभूमिकत्व = समाधि का प्राप्त न होना। अर्थात् किसी कारण से समाधियोग का भूमि प्राप्ति न कर सकना ॥८॥

(९) अनवस्थितत्व = समाधि की प्राप्ति हो जाने पर भी उस में चित्त का स्थिर न रहना ॥ ९ ॥

ये सब विघ्न चित्त की समाधि होने में विक्षेपकारक हैं; अर्थात् उपासनायोग केशत्रु हैं इनको-योगमल=योग के मल योगप्रतिपक्षी=योग के शत्रु और-योगान्तराय=योग के विघ्न भी कहते हैं।

योगमलजन्य विघ्नचतुष्टय

अगले सूत्र में उक्त नव योगमलों के फलरूप दोषों का वर्णन है अर्थात् किस २ प्रकार के विघ्न इन मलों से मनुष्य को प्राप्त होते हैं।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाविक्षेपसहभुवः ॥

यो० पा० १ सू० ३१ (भू० पृ० १६६-१७०)

वे विघ्न ये हैं कि—

(१) दुःख=तीन प्रकार के दुःख हैं एक आध्यात्मिक, दूसरा आधिभौतिक, तीसरा आधिदैविक, यह समाधि-साधन की प्रथम विक्षेपभूमि हैं।

(क) मानसिक वा शारीरिक रोगों के कारण जो क्लेश होते हैं वे आध्यात्मिक दुःख कहाते हैं सो अविद्या, राग, द्वेष, मूर्खता आदि कारणों से आत्मा और मन को प्राप्त होते हैं।

(ख) दूसरे प्राणियों अर्थात् सर्प, व्याघ्र, वृश्चिक, चोर शत्रु आदि से जो दुःख प्राप्त होते हैं, वे आधिभौतिक दुख कहाते हैं और प्रायः रजोगुण और तमोगुण से इनकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् जब कोई मनुष्य रज वा तम की प्रधानता में अन्य प्राणियों को सताता है तो वे

सताये गये प्राणी पीड़ित होकर सताने वाले मनुष्य का नाश करने वा बदला लेने को उद्यत होकर अनेक दुःख पहुंचाने का यत्न करते हैं ॥ [ग] आधिदैविक दुःख वे कहाते हैं जो मन और इन्द्रियों की चंच- लता वा अशान्ति तथा मन की दुष्टता तथा अशुद्धता आदि विकारों से अथवा अतिवृष्टि, अनवसरवृष्टि, अनावृष्टि अति शीत, अतिउष्णता, महामारी आदि दैवाधीन कारणोंसे प्राप्त होते हैं॥१॥

[२] दौर्मनस्य = मनका दुष्ट होना अर्थात् इच्छाभङ्गआदि बाह्य वा आभ्यन्तर कारणों से मन का चंचल हो कर किसी प्रकार क्षोभित [अप्रसन्न] होना, यह समाधि की दूसरी विक्षेपभूमि है ॥२॥

[३] अङ्गमेजयत्व = शरीर के अवयवों का कम्पन होना, यह समाधियोग की तीसरी विक्षेपभूमि है, इस का लक्षण यह है कि जब शरीर के सब अंग कांपने लगते हैं, तब आसन स्थिर नहीं होता। अस्थिर आसन होने से मन नहीं ठहरता और मन की चंचलता के कारण ध्यानयोग यथार्थ नहीं होता और ध्यान ठीक न लगने से समाधि प्राप्त नहीं होती ॥३॥

[४]श्वासप्रश्वास = श्वास प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेश उत्पन्न होकर चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं। बाहर के अपान वायु के भीतर लेजाना श्वास कहाता है और भीतर के प्राण वायु को बाहर निकाल कर फेंकना प्रश्वास कहाता है। श्वास प्रश्वास चौथी विक्षेपभूमि है ॥ २॥

इस सूत्रान्तर्गत "विक्षेपसहभुवः" वाक्य का यह अर्थ है कि ये दोष विक्षेप के साथ उत्पन्न होते हैं अर्थात् ये क्लेश

विक्षिप्त और अशान्त चित्त वाले मनुष्य को प्राप्त होते हैं कि जिसका मन वश में न रहे। समाहित (सावधान) और शान्त चित्त वाले को नहीं होते।

ये सब समाधियोग के शत्रु हैं, इस कारण इनको रोकना वा निवृत्ति करना आवश्यक है। इनके निवारण करने की विधि अगले सूत्र में कही जाती है।

चतुर्थ वृत्तियाम।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ यो० पा०१ सू०३२

पूर्व सूत्रोक्त उपद्रवमय विघ्नों को निवारण करनेका मुख्य उपाय यही है कि एक तत्व का अभ्यास करे अर्थात् जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है, उसी में प्रेम रखना और सर्वदा उसही की आज्ञापालन में पुरुषार्थ करना चाहिये क्योंकि यही एक इन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है। अन्य कोई उपाय नहीं। इस लिये सब मनुष्यों को उचित है कि अच्छे प्रकार प्रेम और भक्तिभाव के उपासनायोग (ध्यान-योग) में नित्य पुरुषार्थ करें, जिससे वे सब विघ्न दूर हो जावें यह चित्त के निरोध का चौथा उपाय है।

पंचम वृत्तियाम।

जिस भावना, से उपासना करने वाले का व्यवहारों में अपना चित्त शुभकारी और प्रसन्न करके एकाग्र करना उचित है, यह उपाय अगले सूत्र में कहा है।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुख दुःख पुण्या-
पुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥
यो० पा० १ सू० ३३ (भू० पृ० १६६-१७०)

(अर्थ) प्रीति, दया, प्रसन्नता और त्याग की; सुखी दुःखी पुण्यात्मा और पापियों में भावना (धारणा) से चित्त प्रसन्न होता है।

अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं उन सबके साथ मैत्रीभाव (सौहार्द, बन्धुभाव सहानुभूति आदि) का वर्त्ताव रखना, दुःखियों पर दयानाम कृपादृष्टि रखना, पुण्यात्माओं के साथ हर्ष और पापियों के साथ उपेक्षा (उदासीनता) अर्थात् न तो उनके साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना वा यथा सम्भव उनके संग से दूर रहना। सारांश यह है कि सुखयुक्त ऐश्वर्यशाली जनों से प्रीति करना किन्तु ईर्ष्या न करे। दुःखियों के दुःख देख कर उनका हास्य न करे वरन दुःख दूर करने का उपाय सोचे। पुण्यात्मा साधुजनों को देखकर प्रसन्न हो, द्वेष करके उनके छिद्र न खोजे। अथवा दम्भादि दुष्टता के भाव से उनके कर्मों का अनुमोदन भी न करे और न शत्रु भाव माने।

इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है। यह चित्त के सावधान होने का पाचवां उपाय है।

यह पांच प्रकार का "वृत्तियाम" कहा जिस से कि चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है।

प्राणायाम का सामान्य वर्णन।

चित्त का निरोध (एकाग्र) करना ही मुख्य योग है, जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है। सो चित्त के एकाग्र करने के पांच उपाय पूर्व कहे हैं; छठा उपाय अगले सूत्र में कहा जाता है। जो योग की सम्पूर्ण क्रियाओं में प्रधान है, इसही को प्राणायाम कहते हैं।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥

योगस्य पा० १ सू० ३४ (स० प्र० समु० ३ पृ० ४०)

अथवा प्राणनामक वायु को (प्रच्छर्दन) वमनवत् बलपूर्वक बाहर निकालने तथा पुनः अपाननामक वायु को भीतर ले जाने से चित्त की एकाग्रता होती है। अर्थात् जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न जल बाहर निकल जाता है, वैसे ही भीतर के प्राणवायु को अधिक प्रयत्न से (बलपूर्वक) बाहर फेंक कर सुखपूर्वक यथाशक्ति (जितना बन सके इतनी देर तक) बाहर ही रोक देवे। जब बाहर निकालना चाहे तब मूलनाड़ी को ऊपर खींच रक्खे। तब तक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो, तब धीरे २ भीतर वायु का लेके पुनरपि ऐसे ही करता जाय। जितना सामर्थ्य और इच्छा हो। इसी प्रकार वारंवार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, तथा मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये। जैसे मनुष्य गोता मार कर ऊपर आता है फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में वारंवार मग्न करना चाहिये और मन में "ओ३म्" इस मन्त्र का जाप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन स्थिरता और पवित्रता होता है।

प्राणायाम चार है। उनकी यथावत् सविस्तर सम्पूर्ण विधि चतुर्विध प्राणायाम के प्रसंग में आगे कही है, किन्तु जिज्ञासु को बोध कराने के लिये उनका संक्षेप से यहां भी कथन किया जाता है। वे चार प्रकार के प्राणायाम ये हैं:—

(१) एकतो " बाह्यविषय " अर्थात् प्राण को बाहर ही अधिक रोकना।

(२) दूसरा " आभ्यन्तर विषय " अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाय, उतना रोक कर प्राणायाम किया जाता है।

(३) तीसरा " स्तम्भवृत्तिप्राणायाम " अर्थात् एक ही बार जहां का तहां प्राण को यथाशक्ति रोक देना।

(४) चौथा "बाह्याभ्यन्तराक्षेपी प्राणायाम" अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे, तब उससे विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे ? तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय। ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करे तो दोनों की गति रुक कर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियों के स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्मविषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य के शरीर में वीर्य वृद्धि का प्राप्त होकर स्थिर बल पराक्रम और जितेन्द्रियता होती है और सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में वह मनुष्य समझ कर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे।

(स० प्र० ४०—४१ ((भू० पृ० १७१—१७२

सम्प्रति प्राणायामों के अनुष्ठानसम्बन्धी क्रियाओं के विषय में लोगों को अनेक भ्रम हैं और ऊटपटांग अस्तव्यस्त रोगकारक क्रियाएं प्रचलित हैं। अतएव इस विषय के स्पष्टीकरणार्थ ग्रन्थकार को पुनरुक्ति अभीष्ट है। इस ही आशय से प्रकरणानुकूल यहां भी कुछ कथन किया गया, तथा आगे भी मुख्य विषय मे सविस्तर व्याख्या की जायगी। क्योंकि

इस ग्रन्थ के निर्माण की आवश्यकता का मूलकारण प्राणायामों की कपोल कल्पना ही है, जिस को दूर करना ग्रंथकार का मुख्य उद्देश्य है।

अथाष्टाङ्गयोगवर्णनम् ।

आगे उपासनायोग (ध्यानयोग) के आठ अंगों का वर्णन है, जिन के अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। जैसा कि अगले सूत्र में कहा है॥

अष्टाङ्गयोग का फल ।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥
(यो० पा० २ सू० २८ (भू० पृ० १७१—१७२)

[अर्थ] योग के जो आठ अंग हैं, उन के साधन करने से मलिनता का नाश [ज्ञानदीप्ति] ज्ञान का प्रकाश और विवेकख्याति की वृद्धि होती है॥

योग के उक्त आठों अंगों के नाम अगले सूत्र में गिनाये हैं। यथाः—

योग के आठों अङ्ग

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ यो० पा० २ सू० २९ (भू०पृ० १७१-१७२)

[अर्थ] [१] यम, [२] नियम, [३] आसन, [४] प्राणायाम, [५] प्रत्याहार, [६] धारणा, [७] ध्यान, [८]

समाधि, ये आठ ध्यानयोग के अंग हैं। इनमें से प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि तो योग के साधक हैं। अतएव प्राणायामादि अन्तरंग साधन कहाते हैं। और यम, नियम तथा आसन, ये तीन परम्परा सम्बन्ध से योग में सहायता देते हैं। यथा यम और नियम से चित्त में निर्मलता तथा योग में रुचि बढ़ती है और आसन के जीतने के पश्चात् प्राणायाम स्थिर होता है। अतः यमादियोग के परम्परा से उपकारक हैं किन्तु साक्षात् समाधि के साधन नहीं हैं इस कारण यमादि योग के बहिरङ्ग साधन कहाते हैं। इन आठों अंगों का सिद्धान्तरूप फल संयम है॥

(१) यम ५ प्रकार के

अब इन सब अंगों के लक्षण क्रमशः कहे जाते हैं॥

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः

योο पाο २ सूο ३० [भूο पृο १७१-१७२]

[अर्थ] [१] अहिंसा, [२] सत्य, अस्तेय, [४] ब्रह्मचर्य और [५] अपरिग्रहः, ये पांच यम कहाते हैं, ये यम उपासनायोग के प्रथम अंग है। नीचे पांचों के लक्षण लिखे हैं॥

[१] अहिंसा = सब प्रकार से सब काल में सब प्राणियों के साथ वैरभाव छोड़कर प्रेम प्रीति से वर्त्तना, अर्थात् किसी काल में किसी प्रकार से किसी प्राणी के साथ शत्रुता का सा काम न करना और किसी का अनिष्टचिन्तन भी कभी न करना।

अहिंसा, शेष चार यमों का मूल है। क्योंकि अहिंसा के सिद्ध करने के लिये ही सत्यादि किये जाते हैं॥

हिंसा सब अनर्थों का हेतु है। अन्य जीवों के शरीरों का प्राणघातरूप हत्या करने या अनेक प्रकार के दुःख देने के प्रयोजन से जो चेष्टा या क्रिया की जाती है, वह हिंसा के अभाव को अहिंसा कहते हैं। अहिंसा में सब प्रकार की हिंसा निवृत्ति हो जाती है। इसही कारण प्रथम अहिंसा का प्रतिपादन इस सूत्र में किया गया है॥

ब्रह्मप्राप्ति की आकांक्षा रखने वाला योगी जैसे बहुत से व्रतादि नियमों का धारण करता जाता है, वैसे ही प्रमाद से किये हुए हिंसा के कारण सब पापों से निवृत्त होकर निर्मल रूप वाली अहिंसा को धारण करता है॥ १॥

(२) सत्य = जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने। जिस से कि मन और वाणी यथार्थ नियम से रहे। अर्थात् जैसा देखा, अनुमान किया वा सुना हो, अपने मन और वाणी से वैसा ही प्रकाशित करना। और जिस किसी को उपदेश करना हो तो निष्कपट, निर्भ्रान्ति ऐसे शब्दों में करना, जिस से उस का अपने हित और अहित का यथार्थ बोध हो जाय, वह वाक्य निरर्थक न हो। सब प्राणियों के उपकार के लिये कहा गया हो, न कि उन के विनाश के लिये और जो वाक्य कहना हो उस की परीक्षा सावधान मन से कर के यथार्थ कहना "सत्य" कहाता है॥ २॥

(३) अस्तेय = पदार्थ वाले की आज्ञा के बिना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना। इस ही को चोरी त्याग भी कहते हैं। यथार्थ सत्य शास्त्र विरुद्ध निषिद्ध या अन्याय की रीति से किसी पदार्थ को ग्रहण न करना, प्रत्युत उस की इच्छा भी न करना "अस्तेय" कहाता है

(४) ब्रह्मचर्य = गुप्तेन्द्रिय (उपस्थेन्द्रिय) का संयम नाम निरोध कर के वीर्य की रक्षा करना, विद्या पढ़ने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहना। पच्चीसवें वर्षसे लेकर अड़तालीस वर्ष पर्यन्त विवाह करना। वेश्यादि परस्त्री तथा परपुरुष आदि का त्यागना अर्थात् स्त्री व्रत वा पतिव्रतधर्म का यथावत् पालन करना, सदा ऋतु गामी होना विद्या को ठीक पढ़ कर सदा पढ़ते रहना ॥ ४ ॥

(५) अपरिग्रह = विषय और अभिमानादि दोषों से रहित होना अर्थात् भोग्य साधनकी सामग्रीरूप भोग्य पदार्थों तथा विषयों का संग्रह करने, फिर उन की रक्षा करने पश्चात् उन के नाश में सर्वत्र हिंसारूप दोष देख कर जो विषयों वा अभिमानादि दोषों का त्यागना, अर्थात् विषयों का जो दोष दृष्टि से त्यागना है; उसे "अपरिग्रह कहते हैं ॥ ५ ॥

यमों का ठीक२ अनुष्ठान करने से उपासना योग (ध्यान योग) का बीज बोया जाता है आगे नियमोंका वर्णन करते हैं

ध्यान योग का दूसरा अङ्ग नियम है। यह भी वक्ष्यमाण सूत्रानुसार पांच प्रकार का है।

(२) नियम ५ प्रकार के

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

यो० पा० २ सूत्र ३२ (भू० पृ० १७२-१७३).

(१) शौच = शौच पवित्रता को कहते हैं। सो दो प्रकार का है। एक बाह्यशौच दूसरा आभ्यन्तर शौच ॥

(क) बाह्यशौच (बाहर की पवित्रता) मट्टी जलादि से शरीर स्थान, मार्ग, वस्त्र, खान, पान, आदि को शुद्ध रखने से होता है ॥

(ख) और आभ्यन्तरशौच (भीतर की शुद्धि) धर्माचरण, सत्यभाषण, विद्याभ्यास, विद्वानों का संग, तथा मैत्री मुदिता आदि से अन्तःकरण के मलों को दूर करने आदि शुभ गुण कर्म स्वभाव के आचरण से होता है १

(२) सन्तोष = सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ कर के प्रसन्न रहना और दुःखमें शोकातुर न होना संतोष कहाता है। किन्तु आलस्य का नाम सन्तोष नही है। अर्थात् निज पुरुषार्थ और परिश्रम करने से जो कुछ थोड़ा वा बहुत पदार्थ अपनी उदरपूर्ति वा कुटुम्ब पालनादि निमित्त प्राप्त हो, उस ही में सन्तुष्ट रहना। निर्वाह योग्य पदार्थों के प्राप्त हो जाने पर अधिक तृष्णा न करना और अप्राप्ति में शोक भी न करना ॥२॥

(३) तपः = जैसे सोने को अग्नि में तपा कर निर्मल कर देते हैं वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण (शुभगुणकर्म स्वभाव का धारण पालन) रूप तपसे निर्मल कर देना तप कहाता है। तथा सुख दुःख, भूख प्यास सरदी गरमी, मानापमान आदि द्वन्दों का सहन करना तथा कृच्छ्रचान्द्रायण, सान्तपन आदि व्रतों का करना तथा स्थिर निश्चल आसन से एक नियत स्थान में ध्याना-वस्थित मौनाकार वृत्ति से नित्यप्रति नियम पूर्वक नियत समय तक दोनों संध्या वेलाओं में योगाभ्यास करना "तप" कहाता है ॥ ३ ॥

(४) स्वाध्याय = मोक्षविद्याविधायक वेदादि सत्यशास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना, ओंकार के अर्थ विचार से ईश्वर का निश्चय करना कराना और प्रणव का जप करना ४

(५) ईश्वरप्रणिधान = ईश्वर में सब कर्मों का अर्पण कर देना। जिस को भक्ति योग भी कहते हैं। अर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण प्राण आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्व-द्रव्योंका ईश्वर के लिये समर्पण करना ईश्वर प्रणिधान कहाता है। द्वितीय वृत्तियाम में ईश्वर प्रणिधान का कथन हो चुका है। आगे इस की विधि और फल कहते हैं॥

श्लोक—शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा,
स्वस्थःपरिक्षीणवितर्कजालः।
*संसारबीजक्षयमीक्षमाणः,
स्यान्नित्यमुक्तोमृतभोगभागी ॥ १ ॥

---

*टिप्पण—संसार का बीज है अविद्या। अर्थात् अविद्या जन्य पाप कर्मों की ओर झुके हुए जीव अज्ञानान्धकार से अच्छादित और कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकशून्य होकर बारम्बार अपने कर्मों के फलों को भोगते हुए अनेक योनि (शरीर) धारण करते और छोड़ते रहते हैं। इसी प्रकार जन्म, मरण जरा व्याधि सुख, दुःख, पाप, पुण्य, नरक, स्वर्ग, रात्रि, दिन सृष्टि, प्रलय आदि संसारचक्र का प्रवाह चलता रहता है। इस संसार के बीज रूप अविद्या का ज्ञान चक्षु से अनुसन्धान करके जो क्षय (नाश) कर देता है, वही (अविद्या मृत्युतीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते) अविद्या के स्वरुप का ज्ञाता मृत्युका उल्लंघन कर के विद्या विज्ञान द्वारा अमृत (मोक्ष) को भोगता है।

योग शास्त्र के व्यासदेवकृत भाष्य का यह श्लोक है। इस का अर्थ यह है कि खट्वादि शय्या तथा आसन पर लेटा तथा बैठा हुआ तथा मार्ग चलता हुआ स्वस्थ अर्थात् एकाग्र चित होकर (अर्थात् ईश्वर के चिन्तन वा प्रणव के जाप में ध्यानावस्थित होकर) कुतर्क विवादादि जाल से निवृत हो* कर संसारके बीज का नाश ज्ञानदृष्टि द्वारा देखता वा जानता हुआ पुरुष अमृत भंग का भागी नित्यमुक्त हो जाता है। अर्थात सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा ईश्वर के चिन्तवन और उस की आज्ञा पालन में तत्पर रहकर अपना सर्वस्व ईश्वर को समर्पित कर देने को ईश्वर प्रणिधान कहते हैं (ऐसा तपोनुष्ठानकर्ता ही मोक्षसुख को प्राप्त कर लेता है।

यमों के फल।

अब पांचों यमों के यथावत् अनुष्ठान के फल लिखे जाते हैं।

(१) अहिंसाप्रष्ठियां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥१॥

यो० पो० २ सू० ३५ [मू० पृ० १७२]

[अर्थ] जब अहिंसाधर्म निश्चय होजाता है, अर्थात् जब योगी क्रोधादि के शत्रु अहिंसा की भावना करके उसमें संयम करता है, तब उसके मन से वैरभाव छूट जाता है, किन्तु उसके सामने वा उसके संग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है॥

(२) सत्यप्रष्ठियां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥२॥

[यो० पा० २ सू० ३६ [मू० पृ० १७२]

[अर्थ] सत्याचरण का ठीक २ फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता और

करता है, तब वह जो जो काम करता और करना चाहता है, वे २ सब सफल होजाते हैं ॥

(३) अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥३॥

यो० पा० २ सू० ३७ [भू० पृ० १७३]

[अर्थ] जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की दृढ़ प्रतिज्ञापूर्वक अभ्यास करके सर्वथा चोरी करना त्याग देता है, तब उस को सब उत्तम २ पदार्थ यथायोग्य, प्राप्त होने लगते हैं। चोरी उसको कहते हैं कि मालिक की आज्ञा के विना उसकी चीज़ को अधर्म और कपट से वा छिपा कर ले लेना ॥

(४) ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ४ ॥

यो० पा० २ सू० ३८ (भू० पृ० १७३—१७४)

(अर्थ) ब्रह्मचर्य सेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थ इन्द्रिय का संयम रक्खे, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता रहे विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे और परस्त्रीगमनादि व्यभिचार को मन कर्म वचन से त्याग देवे, तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है—एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है।

(५) अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ५ ॥

यो० पा० २ सू० ३९ (भू० पृ० १७३—१७४)

(अर्थ) अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयाशक्ति से बच कर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब "मैं कौन हूं, कहां से आया हूं और मुझको क्या करना चाहिये, अर्थात् क्या २ काम करने से मेरा कल्याण होगा" इत्यादि शुभगुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है।

येही पांच यम कहाते हैं। इन का ग्रहण करना उपासकों को अवश्य चाहिये। परन्तु यमों का नियम सहकारी कारण हैं, जो कि उपासना का दूसरा अंग कहाता है और जिसका साधन करने से उपासक लोगों का अत्यन्त सहाय होता है। सो भी पांच प्रकार का पूर्व कहा जा चुका है, उसका फल क्रमशः आगे कहते हैं।

नियमों के फल।

(१) शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सापरैरसंसर्गः ॥ १ ॥

यो० पा० २ सू० ४० (भू० पृ० १७३-१७४)

(अर्थ) पूर्वोक्त दो प्रकार के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उसके सब अवयव बाहर भीतर से मलिन ही रहते हैं, तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सबके शरीर मल आदि से भरे हुवे हैं। इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच करके सदा अलग रहता है। इसका फल यह है कि —

(२) किंच सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रिय जयात्म दर्शनयोग्यत्वानि च ॥ [यो० पा० २ सू० ४१]

(अर्थ) शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है ॥ २ ॥

(३) सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ यो० पा २ सू० ४२

(अर्थ सन्तोष (तृष्णाक्षयतुष्टि) से जो सुख मिलता है वह सब से उत्तम है और उसी को मोक्षसुख कहते हैं ॥ ३ ॥

(४) कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४ ॥

यो० पा० २ सू० ४३ [भू० पृ० १७३-१७४]

(अर्थ) तप से अशुद्धिक्षय होने पर शरीर और इन्द्रियाँ दृढ़ होकर रोगरहित रहते हैं ॥ ४ ॥

(५) स्वाध्याय दिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ५ ॥

योः पाः २ सूः ४४

(अर्थ) स्वाध्याय से इष्टदेवता जो परमात्मा है उसके साथ संप्रयोग [साक्षा] होता है, फिर ईश्वर के अनुग्रह का सहाय अपने आत्मा की शुद्धि सत्याचरण पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है ॥५॥

(६) समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।६। योःपाःसूः४५

[अर्थ] ईश्वरप्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है, जैसा कि द्वितीय वृत्तियाम में पूर्व कहा गया है ॥ ६ ॥

आगे उपरोक्त यम नियमों को सिद्ध करने की सरल युक्ति कहते हैं ॥

यम नियमों के सिद्ध करने की सरल युक्ति ।

यम नियमों के साधन की सरल विधि यह है कि सदैव सत्व रज तम इन तीन गुणों का अहर्निश अर्थात् निरन्तर रात दिन के क्षण२ में ध्यान रक्खे । जब कभी रजो गुणी व तमोगुणी कर्मों के करने का संकल्प मन में उठे, तभी उन को जान ले, तथा वहां का वहीं रोक भी दे । इस प्रकार अपने मन को ऐसे संकल्प विकल्पों से हटा कर सत्वगुण में स्थित कर दें। ऐसा अभ्यास करने से समाधि पर्यन्त सिद्ध हो जाते हैं। ध्यानयोग का यही प्रथम और मुख्य साधन है । आगे गुणत्रय

की व्याख्या मनुस्मृति के प्रमाण से की जाती है। (देखो सत्यार्थप्रकाश पृ० २५०—२५३ समुल्लास ६ का अन्त)

[क] गुणत्रय के लक्षण।

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥१॥

सत्व रज तम इन तीन गुणों में से जो गुण जिस के देहमें अधिकता से वर्त्तता है, वह गुण उस जीव को अपने सदृश कर लेता है॥ १॥

सत्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्।
एतद्व्याप्तिमदेतेषाँ सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २ ॥

जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्व, जब अज्ञान रहे तब तम और जब रागद्वेष में आत्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिये ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त हो कर रहते हैं॥ २॥

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत्।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्वं तदुपधारयेत् ॥ ३ ॥

उन का विवेक इस प्रकार करना चाहिये कि जब आत्मा में प्रसन्नता' मन प्रसन्न, प्रशान्त के सदृश शुद्ध भानयुक्त वर्ते, तब समझना कि सत्वगुण प्रधान और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं॥ ३॥

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः।
तद्रजोऽप्रतिघं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ ४ ॥

जब आत्मा और मन दुःख संयुक्त, प्रसन्नता रहित, विषय में इधर उधर गमन आगमन में लगे, तब समझना कि रजोगुण प्रधान और सत्वगुण तथा तमोगुण अप्रधान है॥ ४॥

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत्॥ ५॥

जब मोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फँसा हुआ आत्मा और मन हो, जब आत्मा और मनमें कुछ विवेक न रहे विषयों में आसक्त और तर्क वितर्क रहित जानने के योग्य न हो तब निश्चय समझना चाहिये कि इस समय मुझमें तमोगुण प्रधान और सत्वगुण तथा रजोगुण अप्रधान हैं॥ ५॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥६॥

अब इन तीनों गुणों के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट फलोदय को पूर्णभाव से कहते हैं॥ ६॥

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्विकं गुण लक्षणम्॥७॥

जो वेदों का अभ्यास, धर्मानुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह, धर्मक्रिया और आत्माका चिन्तन होता है यही सत्वगुण का लक्षण है॥ ७॥

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम्॥ ८॥

जब रजोगुण का उदय, सत्व और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है, तब आरम्भ में रुचिता, धैर्यत्याग, असत् कर्मों का

ग्रहण निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति होती है, तभी समझ-
ना कि रजोगुण प्रधानता से मुझ में वर्त्त रहा है। ८।

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।

याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ९ ॥

जब तमोगुण का उदय और सत्व, रज का अन्तर्भाव होता है तब अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता है। अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य का नाश, क्रूरता का होना, नास्तिक्य (अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा न रहना) भिन्न २ अन्तःकरण की वृत्ति और एकाग्रता का अभाव और किन्हीं व्यसनों में फसना तथा भूल जाना होवे, तब तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानने योग्य है ॥ ९ ॥

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जते।

तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ १० ॥

तथा जब अपना आत्मा जिस कर्म को करके वा करता हुआ और करने की इच्छा से, लज्जा, शङ्का और भय को प्राप्त होवे, तब जानो कि मुझ में तमोगुण प्रवृद्ध है ॥ १० ॥

येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम्।

न च शोचत्यसम्पत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ११ ॥

जिस कर्म से इस लोक में जीवात्मा पुष्कल प्रसिद्धि चाहता है, दरिद्रता होने में भी चारण, भाट आदि को दान देना नहीं छोड़ता, तब समझना कि मुझसे रजोगुण प्रबल है ॥ ११ ॥

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जते चाचरन्।

येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्वगुणलक्षणम् ॥ १२ ॥

जब मनुष्य का आत्मा सब से जानने को अर्थात् विद्यादि गुणों को ग्रहण करना चाहे, गुण ग्रहण करता जाय, अच्छे

कर्मों में लज्जा न करे और जिस-कर्म-से आत्मा प्रसन्न होवे अर्थात् धर्माचरण में ही रुचि रहे, तब समझना कि मुझ में सत्त्वगुण प्रबल है।

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।

सत्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां. यथोत्तरम् ॥१३॥

तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थसंग्रह की इच्छा और सत्वगुण का लक्षण धर्मसेवा करना है, परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण. से सत्वगुण श्रेष्ठ है ॥१३॥ इस पिछले श्लोक में संक्षेप से सारांश कहा गया है। देखो मनुस्मृति अध्याय ॥ १२ ॥

(ख) गुणत्रय की सन्धियाँ।

ये इन तीनों गुणों के स्थूल (मोटे) लक्षण हैं। प्रथम इन लक्षणों को ध्यानयोगद्वारा पहिचानना चाहिये॥

जिस प्रकार दिन और रात्रि में सन्धि लगती है, इस ही प्रकार इन गुणों में सन्धियां लगा करती हैं। जैसा कि उपर्युक्त श्लोकों से विदित होता है कि ये तीनों गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर सदा रहते हैं। किन्तु एक गुण तो प्रधान रहता है, शेष दो गौणभाव में वर्त्तमान रहने वाले गुणों का अन्तर्भाव होता है। प्रधानगुण कार्य करता है अर्थात् जीव उस ही गुण के कार्यों में प्रवृत्त होता है. जिस का वर्त्तमान उसके देह में प्रधान से होता है और शेष दो २ गुण दबे रहते हैं। इस प्रकार कभी, सत्व, कभी रज और कभी तम शरीर में प्रधान होता रहता है। एक गुण की प्रधानताके पश्चात् जब दूसरे की प्रधानता होती रहती है इस उलट फेर को ही इन गुणों की सन्धियां जानो। यह विषय सूक्ष्म

है, अतः इनका पहिचान लेना भी सूक्ष्म नाम कठिन है। ध्यानयोग से इन सन्धियों के विवेक को भी सिद्ध करना चाहिये। जो गुण प्रधान होने वाला होता है तब प्रथम उस का प्रबल वेग होता है, जो उस से पूर्व प्रधान गुण के साथ सन्धि नाम संयोग करके उसको दबा लेता है, तभी इस प्रधान हुये वेगवान् गुणसम्बन्धी संकल्प विकल्प मन और आत्मा के संयोग से उठते हैं। मुमुक्षु को उचित है कि उक्त सन्धि के लगते ही उसको पहिचानने और यदि तमोगुण वा रजोगुण इस सन्धि के समय प्रधान होता जान पड़े तो उस सन्धि को वहीं का वहीं रोक कर लगने न दे और सत्व को प्रधान करके उस के आश्रय से सात्विकी कर्म में प्रवृत्त हो जाय। जिससे कि रज तम के संकल्प उठने भी न पावें। यदि सन्धिज्ञान न होने के कारण अशुभ संकल्प उठ भी खड़ा हो तो उस संकल्प को ही शीघ्र जहां का तहां रोक ले, जिस से कि वह संकल्प रुक कर वाणी से तो प्रकाशित न हो। ऐसा अभ्यास करने से मुमुक्षु का कल्याण होता है। इसका विधान वासनायाम में आगे भी किया जायगा॥

इस प्रकार सन्धियों का परिज्ञान हो जाने पर यम नियम का साधन पूर्णतया सिद्ध हो जाता है, जब तक इन गुणों की सन्धियां नाम अन्तर्भाव और प्रधानता का यथावत् ज्ञान नहीं होता, तब तक यम नियम का साधन पूर्णतया सिद्ध नहीं होता। गुणत्रय और उनकी सन्धियों का पहिचान लेना ही योग की प्रथम सीढ़ी है और यम नियम के अनुष्ठान की सिद्धि है कि जिसको सिद्ध कर लेने से उपासनायोग का बीज बोया जाता है। इस प्रथम सीढ़ी का ज्ञान हुए बिना योग को कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता है॥

(ग) चित्त की ५ अवस्था।

आगे चित्त की अवस्थाओं का वर्णन करते हैं—

क्षिप्तम्मूढम्विक्षिप्तमेकाग्रन्निरुद्धमिति चित्तभूमयः ॥

व्यासदेव कृत यो० भा० सू० १

(अर्थ) क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध, ये पांच चित्त की भूमियां अर्थात् अवस्था हैं। इनमें से प्रथम की तीन योगबाधक हैं और शेष दो योगसाधक हैं। इनका ज्ञान भी ध्यानयोगादि समाधिपर्यन्त योगाङ्गों का भली भांति सिद्ध होना कठिन है। आगे इन अवस्थाओं के लक्षण कहते हैं॥

(१) क्षिप्त = जिस अवस्था में चित्त की वृत्तियां अनेक सांसारिक विषयों में गमन करती हैं, उसको "क्षिप्तावस्था" कहते हैं। इस अवस्था में चित्त की वृत्ति किसी एक विषय पर स्थिर नहीं रहती अर्थात् एक विषय को छोड़, दूसरे तीसरे चौथे आदि अनेक विषयों को ग्रहण करती और छोड़ती रहती है।१।

(२) मूढ़ = जिस में चित्त मूर्खवत् होजाय अर्थात् जब मनुष्य कृत्याकृत्य को भूल कर अचेत रहे। ऐसी असावधान अवस्था को 'मूढ़ावस्था' जानो।२।

(३) विक्षिप्त = जिस में चित्त व्याकुल वा व्यग्र हो जाता है, उसको "विक्षिप्तावस्था" कहते हैं।३।

(४) एकाग्र = जब चित्त विषयान्तरों से अपनी वृत्तियों को हटाकर किसी एक विषय में सर्वथा लगादे, जैसे उपासकयोगी केवल परमात्मा के ध्यान और चिन्तन से अतिरिक्त अन्य सब विषयों से अपने मन को हटा

कर प्रणव के जाप में ही लगा देता है ऐसी ध्याना-वस्थित अवस्था को 'एकाग्रावस्था' कहते हैं। ४।

(५) निरुद्धं = निरुद्धावस्था उसको कहते हैं कि जिसमें चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियां चेष्टारहित होकर मनुष्य को अपने आत्मा नाम जीवात्मा का ज्ञान प्राप्त होता है। किन्हीं आचार्यों का ऐसा मत भी है कि निरुद्धावस्था में आत्मज्ञान तथा परमात्मज्ञान दोनों ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान होते ही तत्क्षण परमात्मा का भी यथार्थज्ञान हो जाता है, क्योंकि परमात्मा ज्ञान का भी ज्ञान है। इनमें से चार वृत्तियों में सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का संसर्ग रहता है, परन्तु पांचवीं निरुद्धावस्था में गुणों के केवल संस्कारमात्र रहते हैं। इनमें से क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्तावस्थाओं में योग नहीं होता, क्योंकि चित्त की वृत्तियां उन अवस्थाओं में सांसारिक विषयों में लगी रहती हैं। एकाग्रावस्था में जो योग होता है, उसको संप्रज्ञातयोग वा सम्प्रज्ञातसमाधि कहते हैं और जो निरुद्धावस्था में योग होता है, उसको असम्प्रज्ञातयोग वा असम्प्रज्ञातसमाधि कहते हैं।

(घ) चित्त के तीन स्वभाव।

चित्त का तीन प्रकार का स्वभाव है। एक प्रख्या, दूसरा प्रवृत्ति और तीसरा स्थिति।

(१) प्रख्या = दृष्ट वा श्रुत विषयों का विचार।

(२) प्रवृत्ति = फिर उक्त विषयों के साथ सम्बन्ध करना।

(३) स्थिति = पश्चात् उनही विषयों में स्थिति करना, संलग्न हो जाना वा फंस जाना।

प्रख्या अर्थात् "विषयविचार" सत्व, रज, तम गुणों के संसर्ग से तीन प्रकार का है। यथाः-

(१) जब चित्त अधिक सत्वगुण से युक्त होता है, तब केवल ईश्वर का चिन्तन करता है॥

(२) जब वही एक चित्त अधिक तमोगुणयुक्त होता है, तब अधर्म, अज्ञान और विषयाशक्ति का चिन्तन करता है।

(३) और जब रजोगुण में चित्त अधिक हो जाता है, तब धर्म और वैराग्य का चिन्तन करता है।

जो ज्ञानशक्ति परिणाम से रहित और शुद्ध होती है वह सत्वगुणप्रधान होती है। अर्थात् उसमें तमोगुण और रजोगुण का अन्तर्भाव हो जाता है, परन्तु जब चित्त इस वृत्ति से भी उपरत (विरक्त) हो जाता है, तब इसका भी त्याग कर केवल शुद्धसत्वगुण के संस्कार के आश्रय से रहता है, उसी संस्कार शिष्टदशा को निर्विकल्पसमाधि वा असम्प्रज्ञातसमाधि कहते है।

असम्प्रज्ञात समाधि का अर्थ यह है कि जिस में ध्येय (ध्यान करने योग्य ईश्वर) के अतिरिक्त किसी विषय का भाग न हो।

आगे योग के तृतीय अंग आसन का कथन है।

—:o:—

(३) आसन की विधि ।

*तत्र स्थिरसुखमासनम् ।

यो० पा० २ सू० ४६ (भू० पृ० १७५-६७६)

*(अर्थ) जिसमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो उस को आसन कहते हैं। अथवा जैसी रुचि हो, वैसा आसन करे, अर्थात् जिस आसन से अधिक देर तक सुख पूर्वक सुस्थिर निश्चल बैठ सके, उस ही आसन का अभ्यास करे। सिद्धासन सब आसनों में सरल और श्रेष्ठ है। आसन ध्यानयोग का तीसरा अंग है।

आगे भगवद्गीता के अनुसार आसन की विधि कहते हैं॥

१ योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १ ॥

२ शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् । २ ।
तत्रैकाग्रंमनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्याऽऽसने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये । ३ ।

---

*टिप्पण—आसन के सुस्थिर होने से जब शीतोष्ण अधिक बाधा नहीं करते, अंगों का कम्पन नहीं होता, तभी चित्त की वृत्तियों का निरोध, मन इन्द्रिय और आत्मा की स्थिति परमेश्वर में होकर समाधियोग प्राप्त होता है। आसन गुदगुदा होने से नूतन योगी अधिक देर तक बैठने का अभ्यास कर सकता है, अतएव शरत्काल में ऊपर से ऊर्णासन का कम्बल तथा अन्य ऋतुओं में कुछ वस्त्र बिछा कर सुख से बैठे॥

३ समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।४।
(भ० गी० अ० ६ श्लोक० १०-११-१२-१३)।

१ एकान्त गुप्त स्थान में अकेला बैठा हुआ, चित्त और आत्मा को वश में करने वाला और परमात्मा के चिन्तवन से अतिरिक्त अन्य विषय वासनाओं से रहित तथा अन्य पदार्थों में ममता रहित योगी निरन्तर एक रस अपने आत्मा को समाहित करके परमात्मा के ध्यान में युक्त करे ॥ १ ॥

२ ऐसे स्थान में कि जहां की भूमि, जल, वायु शुद्ध हो और जो न तो बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा हो, वहां नीचे कुशा का आसन, उस के ऊपर मृगछाला बिछा कर उस पर एकाग्र मन से चित्त और इन्द्रियों की वृत्तियों का निरोध कर के निश्चल दृढ़ आसन पूर्वक स्वयं बैठ कर अपनी आत्मा की शुद्धि के लिये ध्यान योग द्वारा परमात्मा के चिन्तवन में तत्पर होवे ॥ २-३ ॥

३ और अपने धड़, शिर और गर्दन को अचल और सीधा धारण किये हुए अपनी नासिका के अग्रभाग में ध्यान ठहरा कर स्थिर हो कर बैठे और इधर उधर किसी दिशा में दृष्टि न करे ॥ ४ ॥

दृढ़ आसन का फल

❀ ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ यो० पा० २ सूत्र ४७

❀ इस को महाराज भोज तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने पृथक सूत्र माना है, परन्तु व्यासदेव जी ने नहीं माना किन्तु अगले सूत्र के भाष्य में मिला दिया है।

(अर्थ) जब आसन दृढ़ होता है, तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता और सरदी गर्मी अधिक बाधा करती है।

(४) प्राणायाम क्या है।

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

यो० पा० २ सू० ४८ (भू० पृ० १७५-१७३)

(अर्थ) आसन स्थिर होनेके पश्चात् श्वास और प्रश्वास दोनों की गति के अवरोध को "प्राणायाम,, कहते हैं॥

अर्थात्—जो वायु बाहर से भीतर को आता है, उस को श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है, उस को प्रश्वास कहते हैं। उन दोनों को जाने आनेके विचार से रोके नासिका का हाथ से कभी न पकड़े, किन्तु ज्ञान से ही उन के रोकने को प्राणायाम कहते हैं॥

अब योगविद्या का प्रधान विषय जो प्राणायाम है, जिस से आगेकी धारणा, ध्यान, समाधि, और संयम नामक संपूर्ण मुख्य क्रियाएं सिद्ध हो जाने पर साक्षात् परमात्मा के साथ योग प्राप्त होता है। तथा जीव मुक्ति में निःश्रेयस और आनन्द भोगता है, उस की सम्पूर्ण विधि कहेंगे। प्राणायामादि क्रियाएं इसी कारण योग के अन्तरङ्ग साधन हैं और प्राणायाम अन्तरङ्ग साधनों की प्रथम श्रेणी वा मूल है।

प्राणायाम करने से पूर्व अगले वेदमन्त्र द्वारा ईश्वर से प्रार्थना करनी उचित है॥

प्राणायाम विषयक प्रार्थना।

ओं—प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे

चित्तं च मऽआधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ यजु० अ० १८ मं० २

(अर्थ) मे+प्राणः+च मेरा+हृदयस्थ जीवन मूल+और कण्ठ देश में रहने वाला पवन (प्राण वायु तथा उदानवायु) मे+अपानः+च मेरा+नाभि से नीचे को जाने और नाभि में ठहरने वाला पवन (अपानवायु) मे+व्यानः च मेरे शरीर की सन्धियों में व्याप्त+और धनञ्जय जो शरीर के रुधिर आदि को बढ़ाता है, वह पवन (व्यानवायू और धनञ्जय वायु) मे+असुः+च=मेरा नाग आदि प्राण का भेद+ और अन्य पवन में+चित्त+च=मेरी स्मृति अर्थात् सुधि रहनी+ और बुद्धि मे+आधीतं+च मेरा अच्छे प्रकार किया हुआ निश्चितज्ञान+और रक्षा किया हुआ विषय मे+वाक+च= मेरी वाणी+और सुनना मे+मनः—च मेरी संकल्प विकल्प रूप अन्तःकरणकी वृत्ति+और अहंकार वृत्ति मे+चक्षुः—च मेरा चक्षु. जिस से कि मैं देखता हूँ, वह नेत्र+और प्रत्यक्ष प्रमाण मे+श्रोत्रं+च मेराकान, जिस से कि मैं सुनता हूं+ और प्रत्येक विषय पर वेद का प्रमाण मे+दक्षः च=मेरी चतुराई+और तत्काल भान होना मे+बलं+च= "तथा , मेरा बल+और पराक्रम—"ये सब,, यज्ञेन कल्पन्ताम्=धर्म के अनुष्ठान में+समर्थ हो ॥

(भावार्थ) मनुष्य लोग साधनों के सहित अपने प्राण आदि पदार्थों को धर्म के आचरण में संयुक्त करें ॥

आगे चार प्रकारके प्राणायाम का विधान अधिक विस्तार पूर्वक स्पष्ट करके कहते हैं, क्योंकि यही मुख्य क्रिया है; जिस

की परिपक्क दशा.(परिणाम) ही आगे आने वाली सब क्रियाएं हैं ॥

अथ चतुर्विधप्राणायामव्याख्यास्यामः

प्राणायाम चार प्रकार का होता है। उस का सविस्तार विधान अगले दो सूत्रों में किया है। प्रथम सूत्र ४६ में तीन प्राणायामों की और दूसरे सूत्र ५० में चौथे प्राणायाम की विधि कही है। योगाभ्यासकी सब क्रिया ध्यान से ही की जाती है, इस बात का सदा ध्यान रखना उचित है ॥

सतु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशका-
लसंख्याभिः परिदृष्टोदीर्घसूक्ष्मः ॥
बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः ।
यो० पा० २ सू० ४६ ५०

(अर्थ) यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है (१) बाह्य विषय वा प्रथम प्राणायाम, (२) आभ्यन्तर विषय वा द्वितीय प्राणायाम, (३) स्तम्भवृत्ति वा तृतीय प्राणायाम और ४ बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी वा चतुर्थ प्राणायाम, जो बाहर भीतर रोकने से होता है ॥

इन चारों का अनुष्ठान इस लिये है कि चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे।

ये चारों प्राणायाम किसी एक देश में संख्या द्वारा काल का नियम करने के कारण दीर्घ और सूक्ष्म दो दो प्रकार के हैं तथा देश काल और संख्या इन तीन उपलक्षणों करके त्रिविध भी कहे जाते हैं यथा देशोपलक्षित प्राणायाम (१) कालोपलक्षित प्राणायाम (२) और संख्योपलक्षित प्राणायाम ३

अर्थात् प्राणवायु को, नासिकादेश से बाहर निकाल कर

प्रथम प्राणायाम, अपानवायु को बाहर से भीतर लाकर नाभि देश में भर कर दूसरा प्राणायाम, समानवायु को नाभि और हृदय के मध्यवर्ती अवकाश में स्तम्भन करके-तीसरा प्राणायाम और प्राण अपान को नासिका में ठहरा कर चौथा प्राणायाम किया जाता है। सो आरम्भ में थोड़ी देर तक ही किया जा सकता है, अतः सूक्ष्म प्राणायाम कहाता है। अभ्यास बढ़ाने से अधिक देर तक जब किया जाय व दीर्घ प्राणायाम कहाता है। चारों प्राणायाम कहाता है। चारों प्राणायामों में इन तीन प्राणों से ही काम लिया जाता है॥

प्रत्येक प्राणायाम देशोपलक्षित इस लिये कहा जाता है, कि वह अपने२ नियत देश में ही किया जाता है तथा प्रत्येक को कालोपलक्षित इस कारण कहते हैं कि इस का अभ्यास एक नियत काल तक किया जाता है और संख्योपलक्षित प्राणायाम इस लिये कहते हैं कि प्रणायाम करते समय "ओम्," के जाप की संख्या की जाती है और इस संख्या द्वारा ही काल का प्रमाण भी किया जाता है॥

स्मरण रहे कि द्वितीय तृतीय और चतुर्थ प्राणायाम तथा उन की धारणा के लिये केवल एक२ पूर्वोक्तस्थान ही नियत है किन्तु प्रथम प्राणायाम की धारणा अनेक स्थानों में की जाती है। यथा—हृदय, कण्ठकूप जिह्वामूल जिह्वाका मध्य जिह्वाग्र नासिकाग्र त्रिकुटी (भ्रूमध्य) ब्रह्माण्ड दोनों होठों से लगे दांतों के बीच में जहां जिह्वा लगाने से तकार बोला जाता है-वहां जिह्वा लगा कर। प्राणवायु हृदय में ठहरता है अतः हृदय से ऊपर के देशों में ही प्रथम प्राणायाम की धारणाएं हो सकती हैं अर्थात् नाभि आदि हृदय से नीचे के स्थानों में नहीं हो सकती॥

ध्यान रक्खो कि प्रथम ब्रह्माण्ड में, द्वितीय भ्रूमध्य में और तृतीय नासिकाग्र में इन तीन मुख्य स्थानों में क्रमशः धारणा किये बिना प्रथम प्राणायाम सिद्ध नहीं होसकता। अन्य देशों में जो प्रथम प्राणायाम की धारणा की जाती है, वह केवल ध्यान ठहराने का अर्थात् चित्त की एकाग्रता सम्पादन करने का अभ्यास करने के हेतु से की जाती है, परन्तु उससे प्राणायाम सिद्ध नहीं होता। प्रथम प्राणायाम सिद्ध तभी होता है, जब कि पूर्वोक्त क्रम से प्रथम और द्वितीय स्थानों की धारणा पक्की हो जाने पर नासिका के अग्रभाग वाली तीसरी धारणा परिपक्व होने के पश्चात् जब प्राणवायु का बाहर निकलना विदित होने लगता है। अनेक स्थानों में धारणा करने से प्राणयोगी के वश में भी हो जाते हैं अर्थात् योगी जहां चाहता है वहां प्राण को ले जाकर ठहरा सकता है। प्राण वश में होने से मन भी एकाग्र होता है॥

चतुर्विध प्राणायाम की संक्षिप्त सामान्य विधि॥

(१) "बाह्यविषय" नामक "प्रथम प्राणायाम" की विधि यह है कि जब भीतर से बाहरको श्वास निकाले, तब उसको बाहर ही रोक दे॥ १॥

(२) "आभ्यन्तर विषय" नामक "द्वितीय प्राणायाम" की विधि यह है कि जब बाहर से श्वास भीतर को आवे, तब उसको जितना रोक सके उतना भीतर ही रोकदे॥२॥

(३) "स्तम्भवृत्ति" नामक "तृतीय प्राणायाम" करने में न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर ले जाय किन्तु जितनी देर सुख से हो सके, उसको जहां का तहां ज्यों का त्यों एक दम रोकदे॥ ३॥

(४) "बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी" नामक "चतुर्थ प्राणायाम" की विधि यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे तब बाहर ही कुछ कुछ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर जावे तब उस को भीतर ही थोड़ा थोड़ा रोकता रहे ॥ ४ ॥

आगे क्रमपूर्वक प्रत्येक प्राणायाम की विशेषविधि का विस्तार से स्पष्ट २ वर्णन करते हैं ॥

प्रथम प्राणायाम की विस्तृत विशेष की व्याख्या ।

आरम्भ में प्रथम प्राणायाम की साधनरूप पूर्वोक्त तीन देश की धारणा पक्की करनी पड़ती है। अर्थात् प्रथम ब्रह्माण्ड में, फिर त्रिकुटी (भ्रूमध्यदेश) में, पश्चात् नासिका के अग्रभाग में, । जब यह तीसरी धारणा परिपक्व हो जाती है, तब नासिकाग्र में ध्यान ठहराने के साथ ही प्राणवायु स्वतः बलपूर्वक बाहर निकलने लगता है तभी जानो कि प्रथम प्राणायाम सिद्ध हो गया। उक्त तीनों देशों में एक ही रीति से धारणा की जाती है, सो विधि नीचे लिखी है। सो दो प्रकार की है। (१) आरम्भ की युक्ति को धारणा की विधि जानो और (२) अन्तिम युक्ति को प्राणायाम की विधि जानो।

प्रथम प्राणायाम की आदिम विधि ।

जिसको प्रथम प्राणायाम की धारणा की विधि भी कहते हैं। आसन की पूर्वोक्त विधि के अनुसार प्रथम स्थिरता से बैठ कर जिह्वा के अग्रभाग को उलटकर तालु में लगादे, फिर हृदय में ठहरने वाले प्राणवायु का ध्यान द्वारा ऊपर को ओर

आकर्षण करके ब्रह्माण्ड में स्थापित करे और मूलनाड़ी को ऊपर खींच रक्खे। फिर उसही देश (ब्रह्माण्ड) में चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों तथा पञ्चज्ञानेन्द्रियों की दिव्य शक्तियों को भी लगादे और मन ही मन में प्रणव (ओ३म् महामन्त्र) का जप भी वहीं (ब्रह्माण्ड में) शीघ्र २ एक रस करने लगे। और अपने आत्मा को सर्वथा इस मन्त्र के अर्थसहित जप में तत्पर करदे। इस प्रकार प्रातः सायं दोनों सन्धिवेलाओं में नियमपूर्वक एक एक घंटे भर निरन्तर अभ्यास करते २ जब प्राणवायु की उष्णता तो त्वचा से और ओं शब्द श्रवणेन्द्रिय से उसी (ब्रह्माण्ड) देश में होने लगे, तब न्यून से न्यून तीन मासपर्यन्त अभ्यास करके ब्रह्माण्ड देश वाली प्रथम धारणा पक्की करले। फिर उक्त रीति से भ्रूमध्य में दूसरी धारणा और नासिकाग्र में तीसरी धारणा भी परिपक्व करले। जब नासिकाग्र में भी शब्दस्पर्श द्वारा प्राणवायु अच्छे प्रकार विदित होने लगेगा, तब प्राणवायु नासिका के बाहर निकलने लगता है, परन्तु बाहर ठहरता कम है और भी घबराने लगता है, तब बाहर अधिक ठहराने के लिये नीचे लिखी रीति से अभ्यास करे।

प्रथम प्राणायाम की अन्तिम विधि।

"प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य" इस पूर्वोक्त योगसूत्र के प्रमाण से जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न जल बाहर निकल जाता है, उसही प्रकार प्राणवायु को बल से बाहर फेंक कर बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे और मूलनाड़ी को ऊपर खींच रहे। जब प्राण के बाहर निकलने से घबराहट होने पर सहन न हो सके, तब उसे धीरे धीरे भीतर लेकर

त्रिकुटी और ब्रह्माण्ड में क्रमसे थोड़ी थोड़ी देर ठहरता हुआ हृदयदेश में ले जाय, फिर बाहर निकाले और भीतर ले जाय अर्थात् जितना सामर्थ्य और इच्छा हो, उतनी देर तक बारंबार इसही प्रकार अभ्यास करे। इस विधि से अभ्यास करते करते प्राण बाहर अधिक ठहरने लग जाता है। निरन्तर नित्य प्रति नियमपूर्वक अतन्द्रता से पुरुषार्थपूर्वक अभ्यास करने से प्राण योगी के वश में हो जाते हैं।

प्रथम प्राणायाम की आदिम विधि सर्वत्र प्रधान है। अर्थात् सम्पूर्ण योगाभ्यास की क्रियाओं में (प्राणायामादि समाध्यन्त) यह विधि एक ही रीति से की जाती है क्योंकि जिन जिन देशों में धारणा की जाती है उन २ देशों में ही ध्यान और समाधि भी होती हैं, परन्तु इतना भेद है कि जो जो देश जिस जिस प्राण का है, वहां वहां उस २ प्राण से ही काम लिया जा सकता है। दूसरे इस बात का भी ध्यान रहे का जिह्वा को उलट कर तालु में लगाना जिससे कि प्राण सीधा ऊपर ही को जाय तथा मूलनाड़ी को ऊपर खींच रखना, ये दो क्रिया केवल प्रथम प्राणायाम से ही सम्बन्ध रखती हैं, अन्य प्राणायामों में इनका कुछ काम नहीं। अतएव दुबारा स्पष्ट करके फिर वही विधि इस निमित्त लिखी जाती है कि जिससे कोई सन्देह न रहे।

प्रथम प्राणायाम की सम्पूर्ण विस्तृत विधि (पुनरुक्त)

(१) प्रथम आसन दृढ़ करे, फिर—

‡(२) जिह्वा को उलटकर तालु में लगावे और जिस देश में धारणा करनी हो, वहां अगली सब क्रिया करे।

(३) किसी एक देश में ध्यान को ठहरावे।

*(४) उसी देश में ध्यानद्वारा प्राणवायु को लेजाकर ठहरा दे।

(५) मूलनाड़ी को ऊपर की ओर आकर्षित करे।

(६) वहीं देश में चित्त की वृत्तियाँ और सब ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियों को ध्यानयोगद्वारा ठहरा कर परमेश्वर की उपासना के अतिरिक्त अन्य किसी विषय में न जाने दे।

(७) प्रणव का मानसिक (उपांशु) जाप ईश्वर पर लक्ष्य करे।

(८) प्रणव के जप में संख्या करके काल का अनुमान करे और अभ्यासद्वारा कालकी वृद्धि उत्तरोत्तर प्रतिदिन करे।

*(९) प्राण वायु को बाहर निकालने के अर्थ हृदय देश से उठाकर, प्रथम मूर्द्धा (ब्रह्माण्ड) में, फिर त्रिकुटी में, फिर नासाग्र में स्थापित कर २ के एक २ धारणा का अभ्यास करे।

*(१०) फिर प्राणवायु को भीतर ले जाते समय उलटी क्रम से अर्थात् नासाग्र से भृकुटी में, भृकुटी से ब्रह्माण्ड में और ब्रह्माण्ड से हृदय में एक २ स्थान में थोड़ी २ देर ठहरा २ कर हृदय में स्थापित करदे।

(११) और अपने आत्मा को परमात्मा में लगा दे।

इस विधि में ग्यारह अंग हैं, इन सबका प्रयोजन नीचे लिखा जाता है—

---

*जिस देश में धारणा करे वहां उस देशसम्बन्धी वायु से ही काम लेना चाहिये।

*जहां २ ऐसा चिन्ह है वे क्रियायें केवल उन आत्माओं में ही उपयोगी हैं कि जो प्रथम नादाभ्यास को सिद्ध करने के हेतु की जाती हैं।

प्रथम प्राणायाम के समस्त ग्यारहों अंगों का क्रमशः प्रयोजन ।

(१) आसन का प्रयोजन=आसन विषयके टिप्पणमें देखो।

(२) जिह्वा को तालुमें लगाने के दो प्रयोजन हैं। अर्थात्-

(१) सात छिद्रों में होकर बाहर निकलने के स्वभाव वाले हृदय देशस्थ प्राणवायु का कण्ठदेशस्थ मार्ग जिह्वा द्वारा रोक देने से प्राण वायु सीधा ऊपर को ब्रह्मांड में ही सरलता से जाता है और नासिका के अतिरिक्त अन्य इन्द्रिय (छिद्र) द्वारा बाहर नहीं निकलने पाता, क्योंकि इन्द्रियों की शक्तियां मन के साथ ही साथ ऊपर को चली जाती हैं।

(२) दूसरा यह भी प्रयोजन है कि यदि जिह्वा इस प्रकार टिकाई न जाय तो हिलती रहे वा ओं शब्द का उच्चारण ही करने लगे, तो जिह्वा की चेष्टा होती रहने से मन का निरोध, ध्यान धारणा वा समाधि कुछ भी सिद्ध न हो सके।

उक्त दो प्रयोजनों से जिह्वा के अग्रभाग को उलटकर तालु में लगा देना अति उचित है कि जिससे धारणा करने के स्थान में ध्यान ठहर जाय।

ध्यान एक प्रकार की विद्युत (बिजुली) है, जिसके आकर्षण से मन और मनके साथ उसकी प्रजारूप सब इन्द्रियों की शक्तियां स्वतः वहीं चली जाती हैं कि जहां ध्यान ठहराया जाता है। अतः हठयोग सम्बन्धी षण्मुखी मुद्रा करके छिद्रों के रोकने की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती। सूर्य का जो सम्बन्ध किरणों से है, वही मन का इन्द्रियों के साथ है अतः जैसे किरणें सूर्य के साथ ही साथ रहती हैं, इसी प्रकार जहां मन जाता है वहां इन्द्रियां उसके साथ ही चली जाती हैं।

इस प्रथम प्राणायाम में वाणी, श्रोत्र और त्वचा; इन तीन इन्द्रियों की शक्तियां अपने २ विषयों का बोध (ज्ञान) कराती हैं और वाणी की शक्ति प्रधानता से मन के साथ संयुक्त होती हैं।

ईश्वरप्रणिधान अर्थात् समर्पण (भक्ति-योग) की पूर्ण विधि।

अपने मन इन्द्रिय और आत्मा के संयोग से परमेश्वर की उपासना ध्यानयोग द्वारा करने में कठोपनिषद् का प्रमाण नीचे लिखा जाता है। दूसरे वृत्तियाम की विधि यही है।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

कठ० उ० अ० १ व० ३ मं० १३ (स० प्र० पृ० १२६-१२७)

(अर्थ) बुद्धिमान् संन्यासी (वा योगी) वाणी और मन को अधर्म से रोके, उनको ज्ञान और आत्मा में लगावे उस ज्ञानस्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप परमात्मा के आधार में स्थिर करे। अब इस ही विषय को अथर्ववेद के प्रमाण से कहते हैं। यही द्वितीयवृत्ति-याम की विस्तृत विशेष विधि है और प्राणायाम में अति उपयोगी है।

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।
योगं प्रपद्ये क्षेमञ्च क्षेमं प्रपद्ये योगञ्च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु॥

अथर्व का० १९ अनु० १ व० ८ मं० २ (भू० पृ० १६०)

(अर्थ) हे परमैश्वर्ययुक्त मङ्गलमय परमेश्वर! आप की कृपा से हम लोगों को ध्यानयोगयुक्त उपासनायोग प्राप्त हो

तथा उससे हमको सुख भी मिले। इसी प्रकार आपकी कृपा से दश इन्द्रियें दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल, इन अट्ठाईस मङ्गलकारक तत्वों से बने हमारे शरीर (अर्थात् हमारा सर्वस्व); भद्र = कल्याण-मय कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होकर उपासनायोग का सदा सेवन करें, तथा हम भी उस योग के द्वारा रक्षा को और रक्षा से योग को प्राप्त हुआ चाहते हैं, इस लिये हम लोग रात्रि दिन आप को नमस्कार करते हैं। इति समर्पणम्॥

इस मन्त्र से-प्रार्थना करके योगाभ्यास में सदा प्रवृत्त होना चाहिये क्योंकि ईश्वर की सहायता बिना योग सिद्ध नहीं होता अर्थात् उक्त अट्ठाईसों शर्मों के सहयोग से ही उपासना योग सिद्ध होता है॥

[१] वाणी जब उलट कर स्थिर करदी जाती है, तब उस की शक्ति मन में स्वतः लय हो जाती है।

(२) व्यान वायु के साथ मन का संयोग न होने देने से मन की शक्ति बुद्धि में लय हो जाती है। सम्प्रज्ञातसमाधि प्राप्त होने पर।

(३) जब प्रकृति का आधार छोड़ कर जीव अपने स्वरूप में स्थित होता है, तब बुद्धि की शक्ति जीव में लय हो जाती है। असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होने पर॥

(४) जब जीवात्मा को निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है, तब वह स्वयं परमात्मा के आधारमें हो जाता है। उस ही को निर्विकल्प (निर्बीज) समाधि भी कहते हैं॥

इस मन्त्र से जो अपना सर्वस्व परमेश्वर का समर्पण कर के उपासनायोग के सिद्ध होजाने के अर्थ प्रार्थना की गई, उस का अभिप्राय यही है कि जब हम लोग वस्तुतः प्रेमभक्ति श्रद्धा और विश्वास, पूर्वक अपना सर्वस्व अर्थात् अपने शरीर के

अट्ठाईसों तत्त्व ईश्वर की उपासना में ही समर्पित कर दें, तब ही हमारा कल्याण होगा। सारांश यह है कि इन्द्रियादि तत्वों को अपनी२ कर्म चेष्टाओं तथा विषयों से पृथक् करके जब जीवात्मा अपने उक्त अट्ठाईस तत्वयुक्त सर्वस्व के साथ ध्यान योग द्वारा उपासना योग-में प्रवृत्त होता है, तो मानों हमारे शरीरों के समस्त अंग परमात्मा के ही चिन्तन में तत्पर हो गये। मन की एकाग्रता तथा निरुद्धावस्था में ऐसा ही होता है। यथा—

दृढ़ निश्चलासन से सुस्थिर होकर तथा जिह्वा को तालुमें लगा कर सब कर्मेन्द्रियों की चेष्टाओं का निरोध हो जाता है मानो वे सब इन्द्रियां जीवात्मा की आज्ञासे उस के हितकारी उपासना योग की सिद्धि और मन की एकाग्रता और निर्विघ्नता सम्पादन करने के हेतु अपने निज धन्धे छोड़ २ अपने राजा की सेवा में एक चित्त से निमग्न हैं। इस प्रकार पांचों कर्मेन्द्रियां धारणा के देश में मन के साथ रहती है॥

पांच ज्ञानेन्द्रियां भी मन के आधीन हैं। वे सब मन की एकाग्रता और निरुद्धावस्थाओं में अपनी २ बाह्य चेष्टाएं छोड़ देती हैं। परन्तु उन की दिव्य शक्तियां भीतर ही भीतर उस स्थान में कि जहां ध्यान द्वारा मनकी स्थिति होती है, अपनी अपनी सहायता करती हैं॥

(क) यथा--वाणी को तालु में लगा लेने से उसकी बाह्य चेष्टा रुक जाती है, परन्तु धारणा के देश में मन के सहयोग से उस की दिव्य शक्ति 'ओम्' मन्त्र का जाप करने लगती है। अतः यह वाणी की शक्ति की विद्यमानता का प्रत्यक्ष प्रमाण है उस समय जिज्ञासु को उचित है कि वहां ध्यान और मन को एकत्र रक्खे। यदि जिह्वा में ध्यान और उस के साथ मन

आजायगा तो वाणी हिलने वा ओम का उच्चारण भी करने लगे तो आश्चर्य नहीं ॥

(ख) ध्यानरूपी विद्युतसे सब ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान होता है सो चक्षु वाला ज्ञान भी ध्यान के साथ धारणा के स्थान में चला जाता है। वहां ध्यान से जो ज्ञान होता है वह चक्षुका ही कार्यरूप ज्ञान है।

(ग) त्वचा से प्रत्यक्ष उष्णता का स्पर्श होता है।

(घ) ओम् पद्के जाप का श्रवणरूप शब्द ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है।

(ङ) जिह्वा की ज्ञान शक्ति का काम रस का आस्वादन करना है, सो मन की एकाग्र वा निरुद्धावस्था में जब जीवात्मा अपने इष्ट देव सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा के चिन्तवन में तदाकार वृत्ति से ध्यानावस्थित होकर तत्पर और तन्मय होता है, तब उस को एक प्रकार के अकथनीय आनन्द का अनुभव वा आस्वादन होता ही है।

अतः चार ज्ञानेन्द्रियोंका तो प्रत्यक्ष ज्ञान धारणाके स्थान में होता। घ्राणेन्द्रियों का वहां कुछ काम नहीं, परन्तु स्वभाव से सब इन्द्रियां मन के साथ और मन ध्यान के साथ रहता है, इस लिये घ्राणेन्द्रिय भी वहीं रहती हैं ॥

चमकदर्शन (रोशनी) का निषेध

चक्षु इन्द्रिय के ज्ञान का कथन ऊपर किया गया है, सो वह कदापि न समझना चाहिये कि किसी प्रकार का उजेला (रोशनी) तारे पटबोजने (जुगनू आदि का दर्शन वा चमक दिखाई देती होगी। यह बात ब्रह्मविद्या से अनभिज्ञ लोगोंकी अविद्या जन्य, प्रमादयुक्त, मिथ्याभ्रमात्मक विश्वास जनक, कपोलकल्पित कल्पनामात्र है। ब्रह्मविद्या वेदोक्त सत्यविद्या है

अत: ब्रह्मविद्या विधायक वेदादि शास्त्रों में जहां २ ज्ञान के प्रकाश का वर्णन है. वहां२ नेत्र से दीखने वाली चमक वा रोशनी नहीं है, प्रत्युत जीवात्माका वह स्वभाविक गुण है. जिस से ज्ञानस्वरूप परमेश्वर पहचाना जाता है। अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति का मुख्य साधन ज्ञान है ॥

ऊपर दश इन्द्रियों के काम कहे, आगे दश प्राणों के नाम गिनाये जाते हैं।

दश प्राण ये हैं कि—(१) प्राण, (२) अपान, (३) समान, (४) उदान, (५) व्यान, (६) नाग, (७) कूर्म, (८) कृकल (९) देवदत्त और (१०) धनञ्जय ॥

ग्यारहवां प्राण सूत्रात्मा नामक एक और भी है कि जिस का इस विषय में उक्त वेदोक्त मन्त्र से कथन नहीं किया गया

इन में से प्राणवायु सब से प्रधान है। अन्य सब प्राण इसके आधीन हैं। अर्थात् जब तक देह में प्राणवायु रहता है, तब तक अन्य प्राण भी अपने २ नियत कर्मों को करते रहते हैं। ये सब प्राण उपासनायोग में नियुक्त जीवात्मा के शरीर की रक्षा करते हैं. पूर्वकथनानुसार प्राण अपान और समान इनसे चार प्राणायाम भी किये जाते हैं। परन्तु अन्य प्राणों का प्राणायामों में कुछ काम नहीं लिया जाता। प्राणायाम करने के समय सब प्राणों की गति सूक्ष्म हो जाती है ॥

अब तक वेदमन्त्रोक्त १० इन्द्रिय, १० प्राण. इन २० कल्याणकारक तत्वों का कथन हुआ । शरीर के शेष आठ शस्त्रों का कथन आगे करते हैं। वे ये हैं—

(१) मन, (२) बुद्धि- (३) चित्त, (४) अहंकार, (५) विद्या, (६) स्वभाव, (७) शरीर और (८) बल।

(१) मन से परमात्मा के परम उत्कृष्ट नाम ओ३म् का अर्थसहित मनन (जप) किया जाता है।

(१) बुद्धि स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करती हुई तथा उत्तरोत्तर विशाल और निर्मल होती हुई परमात्मा के ज्ञान को भी प्राप्त कराती है।

(३) चित्त से परब्रह्मपरमात्मा का चिन्तन (स्मरण) किया जाता है।

(४) अहंकार से जीवात्मा को सविकल्पसमाधिपर्यन्त अपने ध्यातापने का बोध रहता है।

(५) विद्या से जीव का अविद्यान्धार दूर होकर परमात्मा के संग में अमृतरूप मोक्षानन्द प्राप्त होता है।

(६) स्वभाव भी योग का साधन है। अर्थात् जब मनुष्य अपने दुष्ट स्वभाव का त्याग करके उत्तम कर लेता है, तब उसके दुष्टकर्म उत्तरोत्तर क्षय होते जाते हैं। तभी योग को सिद्ध कर सकता है।

(७-८) शरीर और बल से अत्यन्त पुरुषार्थ जब मनुष्य करता है, तब ही उसका फलरूप मुक्ति प्राप्त करता है। अतएव शारीरिक उन्नतिद्वारा शरीर को नैरोग्य पराक्रमयुक्त और आलस्यरहित रखना चाहिये।

इस प्रकार देहस्थ अट्ठाईसों तत्व उपासनायोग में जीवात्मा की सहायता करते हैं।

(३) एक देश में ध्यान ठहराने का प्रयोजन।

चित्त की एकाग्रता करना है और इस की विधि मुण्डक उपनिषत् में इस प्रकार कही है।

चित्त की एकाग्रता का विधान् अलंकाररूप में।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यम् शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ १ ॥
द्वितीय मुण्डक खण्ड २ मं० ४

(अर्थ) प्रणव नाम परमेश्वरवाचक ओम् शब्द ही उस परमात्मारूपी लक्ष्य के बींधने के लिये मानो धनुष है। जीवात्मा ही मानो वाण है और वही ब्रह्म (परमात्मा) मानो निशाना है।

उस ब्रह्मरूपी लक्ष्य को अप्रमादी होकर अर्थात् चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का उनके विषयों से सर्वथा रोककर केवल परमात्मा के ही ध्यान* में ठहरा कर और जीवात्मा स्वयं

---

* टिप्पणी—ध्यान, ध्येय विना नहीं ठहरता। अतः ध्येय पदार्थ अवश्य कुछ होना चाहिये। ध्येय पदार्थों में शब्द सब से स्थूल है। अर्थात् प्राण, मन, इन्द्रियादि सूक्ष्म ध्येय पदार्थों की अपेक्षा ज्ञान के आगे शब्द स्थूल नाम आकार वाला जाना जाता है। इस विषय में दृष्टान्त है कि जैसे पुत्र अपने पिता को जब पुकारता है, तब पिता पहचान लेता है कि यह मेरे पुत्र की वाणी है। यदि शब्द का आकार न होता अर्थात् शब्द स्थूल न होता, तो इन्द्रियजन्य ज्ञानद्वारा ग्रहण न किया जाता। अतएव प्रथम शब्द को ध्येय पदार्थ स्थापित करे, तब ध्यान तो शब्द को ध्येय करता है. कान उस शब्द को सुनता है अर्थात् ओ३म् के मानसिक जप का शब्द उस ध्यान करने के स्थान में सुनाई पड़ता है। "ओम्" पद के साथ तथा जीव और ईश के साथ पिता पुत्र के सम्बंध का भाव यहां सर्वथा घटता है॥

लक्ष्य में लगे हुवे बाण के समान और तदाकारवृत्ति वाला होकर बींधे। भूलकर भी अपने चित्त और ध्यान को डिगने न दे। अर्थात् जैसे तीर निशाने में वार पार प्रविष्ट हो जाता है, इस ही प्रकार ओंकाररूपी धनुष को तानकर जीवात्मा स्वयमेव उक्त धनुष में बाणरूप होकर परमेश्वररूपी निशाने में प्रवेश करके तन्मय होकर उस परमात्मा के ध्यान में मग्न होजावे। जैसा अगले मन्त्र में भी कहा है।

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता।
लोकिनश्च। तदेतदक्षरब्रह्म स प्राणस्तदुवाङ्मनः।
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्यविद्धि॥

मुण्डक २ खण्ड - मन्त्र २

हे (सोम्य) प्रियशिष्य शौनक! तुम निश्चय करके जानो कि जो ब्रह्म ज्योतिःस्वरूप है, जो परमाणुओं से भी अति ही सूक्ष्म है, जिसमें पृथिवी सूर्य चन्द्रादि सब लोक लोकान्तर तथा उनमें बसने वाले मनुष्यादि प्राणी स्थित हैं, यह वही अविनाशी ब्रह्म है, वही ब्रह्म प्राणिमात्र का जीवन हेतु है। यही ब्रह्म वाणी और मन का निमित्त कारण है। वही ब्रह्म सदा एकरस रूप से विद्यमान रहता है और अमर है। उसही को ध्यानयोग से वेधना चाहिये अर्थात् उस ही की ओर वारंवार अपना मन लगाना चाहिये।

ध्याता ध्यान ध्येय आदि त्रिपुटियां

ध्यानयोग वह साधन है कि जिसके द्वारा जीव अपने स्वरूप को जान कर परमात्मा के स्वरूप को भी विचार लेता है और मुक्त हो जाता है।

अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता होने के लिये जीव को उचित है कि प्रकृतिजन्य स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों को क्रमशः ध्येय कर करके जाने। सो "ध्यानयोग" की धारणा और ध्यान से उन सब पदार्थों का ज्ञान होता है।

उक्त धारणा और ध्यान में तो ध्याता, ध्यान और ध्येय; इन तीन पदार्थों की विद्यमानता रहती हैं, परन्तु समाधि में जब जीवात्मा अपने को भी भूल जाता है और परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द में मग्न हो जाता है तब ध्याता, ध्यान और ध्येय, इन तीनों का भेदभाव कुछ नहीं रहता और इस समाधि अवस्था को ही विद्या वा विज्ञान तथा सापेक्षता से धारणा और ध्यान को अविद्या वा कर्मोपासना जानो। क्यों कि ये (धारणा और ध्यान) बाह्य और आन्तरिक क्रिया-विशेष के नाम हैं, विज्ञानविशेष के नहीं। परन्तु ये परमात्मा के तत्वरूप यथार्थस्वरूप का ज्ञान प्राप्त होने के साधन हैं॥

(१) ध्यान करने वाला जीवात्मा ध्याता कहाता है।

[२) जिस प्रयत्न वा चेष्टा द्वारा मन आदि साधनों से ध्येय पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसको ध्यान क्रिया कहते हैं॥

(३) जिसका ध्यान किया जाता है,उसको ध्येय कहतेहैं।

ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय,—इस त्रिपुटियों को भी उपरोक्त प्रमाणे जानो।

(४) प्राण आदि वायु के आकर्षण का प्रयोजन तथा उसको ऊपर चढ़ाने और नीचे

उतारने की कथा।

ध्यान एक प्रकार की विद्युत (बिजुली) है। जैसे चुम्बक पत्थर लोहे को खींच लेता है, इसही प्रकार ध्यान प्राणों को खींच कर ऊपर को चढ़ा और नीचे को उतार ले जाता है। अर्थात् जहां ध्यान ठहराया जायगा उसही स्थान पर प्राण अवश्य जाता है। प्राणों को चढ़ाने वा उतारने के लिये अन्य कोई चेष्टा, युक्ति क्रिया वा प्रयत्न कुछ भी नहीं करना पड़ता जैसे प्रथम कह चुके हैं कि ध्यान के साथ मन और मन के साथ 'समर्पण इन्द्रियों की शक्तियां स्वतः उस देश में चली जाती हैं, जहां कि ध्यान ठहराया जाता है। वैसे ही प्राण भी स्वतः वहीं चले जाते हैं। जब मनुष्य की इच्छानुकूल वा अ-ज्ञान और प्रमाद से ध्यान हट जाता है तब मन और इन्द्रि-यादि के सदृश प्राण भी हट जाते हैं अर्थात् ऊपर को चढ़ जाते हैं वा नीचे को उतर जाते हैं। प्राणों के चढ़ाने तथा उतारने के विषय में लोग ऐसे धोखे में पड़े हुवे हैं कि उनके भ्रम का एकाएकी हटा देना कठिन है। सबको आजकल ऐसा विश्वास है कि प्राण चढ़ा लेने के उपरान्त उनका उतारना कठिन है अर्थात् यदि उतारने की क्रिया ज्ञात न हो तो मनुष्य मर भी जाता है। यह मूर्खों की सी कथा (कहानी) सर्वथा झूंठी है, इस में कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिये। इसलिये स्पष्टता से यहां इस विषय का कथन कर देना अत्यावश्यक जान पड़ा कि जिससे भोले मनुष्य कभी ठगे न जा सकें। ऐसे २ संशयों का यथावत् निवारण तभी हो सकता है, जब कि कोई किसी आप्त योगाभ्यासी विद्वान् से उपदेश लेकर कुछ दिन स्वयं अभ्यास करके परीक्षा और अनुभव न ले। ब्रह्म-

विद्याविधायक वेदादिसच्छास्त्रानुकूल सुपठित ग्रन्थों,स्वामी दयानन्दसरस्वतीकृतग्रन्थों तथा इस ध्यानयोग नामक ग्रन्थानुकूल शिक्षा पाने वालों को इस विषय की यथार्थता का पूर्ण निश्चय और निर्णय हो सकता है।

प्राण आदि वायु के आकर्षण करने का प्रयोजन मन की एकाग्रता करना ही है॥

(५) मूलनाड़ी को ऊपर की ओर आकर्षण करने का अभिप्राय।

मूलेन्द्रिय (मूल की नाड़ी) रबड़ की नली के समान एक पोली नाड़ी प्राणों के संचार (आने जाने) का मार्ग है। जब ध्यान ऊपर स्थित होजाता है, तब यह (मूल की नाड़ी) प्राणवायु से जो ध्यान के साथ ही ऊपर को चला जाता है, भर जाने के कारण स्वतः सीधी ऊपर को इस प्रकार खिंच जाती है, जैसे कि रबड़ की नली फूंक (वायु) से भरी जाने पर सतर (सीधी) खड़ी हो जाती है। मूलेन्द्रिय को सुषुम्णा नाड़ी भी कहते हैं। जो पैरों से लेकर मस्तक में होती हुई त्रिकुटी (भ्रूमध्य) में इडा और पिङ्गला के साथ मिल जाती है। जहां ये तीनों नाडियां मिलती हैं, इस त्रिकुटीनामक स्थान को त्रिवेणी भी कहते हैं। कि 'मूलेन्द्रिय को खींचे रखना' इस कथन का आशय यही है कि ध्यान को * प्रथम

---

* प्रथम प्राणायाम की धारणा के मुख्य तीन ही स्थान हैं। ब्रह्माण्ड, त्रिकुटी और नासिकाग्र, इन तीन स्थानों को ही यहां समझना चाहिये। उनमें भी प्रधान नासिकाग्र जानो। वहां ध्यान ठहराने से प्राण बाहर निकलता है और मूलेन्द्रिय तनी रहती है॥

प्राणायाम की धारणा के स्थान में दृढ़तापूर्वक टिकाये रखना, जिससे कि यह नाड़ी भी तनी हुई रहे और प्राणवायु अधिक देर तक उस समय बाहर ठहर सके, जब कि नासिकाग्र में धारणा करके प्रथम प्राणायाम किया जाता है। अर्थात् मूलेन्द्रिय के खिंचे रहने से ही प्राण नाक के बाहर अधिक ठहर सकता है। यही अभिप्राय इस क्रिया का है॥

(६) चित्त और इन्द्रियादि को ध्यान के स्थान में स्थिर रखने का अभिप्राय।

चित्त और मन इन दोनों में इतना सूक्ष्म और अल्प भेद है कि जिस को अभेद सा मान कर दोनों को एक ही प्रायः मानते हैं और एक के स्थान में दूसरे पद का ग्रहण भी इसी आशय से होता ही है। यह भेद ध्यानयोग का अभ्यास करते२ जब चित्त और मन के स्वरूप का निर्मल बुद्धिद्वारा बोध होता है, तब ही यथावत् जाना जाता है। अतः यहां भी चित्त और मन इन दोनों पदों से एक ही अभिप्राय जानना चाहिये॥

अब न्यायशास्त्रानुसार मन का स्वरूप कहते हैं।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम् ॥

न्या० अ० १ आ० १ सू० १६ (स० प्र० समु० ३ पृ० ६०)

(अर्थ) जिस से एक काल में दो पदार्थों का ग्रहण नहीं होता उस को मन कहते हैं।

अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों का रूपदर्शन आदि अपने २ विषयों के साथ सम्बन्ध रहते हुये भी एक कालमें अनेक

ज्ञान उत्पन्न नहीं होते, इस से अनुमान होता है कि प्रत्येक इन्द्रिय का सम्बन्धी अव्यापक कोई दूसरा सहकारी कारण अवश्य है, कि जिसके संयोग से तो ज्ञान होता है और संयोग न रहने से ज्ञान नहीं होता है। ज्ञानग्रहण के उस अव्यापक सहकारी कारण को मन कहते हैं।

इन्द्रिय, जिनके कारण नहीं, ऐसे स्मृति आदिकों का कोई कारण अवश्य मानना चाहिये। इस प्रमाण से भी मन सिद्ध होता है।

प्रथम प्राणायाम से मन के स्वरूप का यथार्थज्ञान होता है।

ज्ञानयोगपद्यादेकं मनः ॥

इस न्यायशास्त्र के सूत्र का भी यही आशय है कि मन से एक कालमें अनेक ज्ञान नहीं होते, अतएव यह भी सिद्ध होता है कि मन एक ही है, इसी लिये मन को अव्यापक कहा।

चित्त चंचल है, क्योंकि वह विषयान्तर में शीघ्र २ गमन करता है, अर्थात् मन अनेक संकल्प उठाता और छोड़ता हुआ चिरकाल एक विषय में स्थिर रहता, जब तक कि उपाय न किया जाय, उस का उपाय यही है कि मन (चित्त) की जो प्रमाणादि अनेक वृत्तिया हैं, उनको पूर्व कहे हुए उपायों के अनुसार ध्यान द्वारा शरीर के किसी एक देश में स्थिर करके के ध्यान और तन को डिगने न दे, ध्यान के डिगते ही मन अपनी वृत्तियोंमें और इन्द्रियां विषयों में फंसने लगती हैं और ध्येय पदार्थ को छोड़ देती हैं। अतएव मन के रोकने के लिये ध्यान का दृढ़ करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। अर्थात् ध्यान योग ही समाधि योग नामक उपासना योग का तथा ब्रह्म और मोक्ष प्राप्ति का मुख्य उपाय है। चित्त तथा इन्द्रियादि को ध्यान ठहराने के स्थान में स्थिर करने का अभिप्राय वा प्रयोजन यह है कि समाधि योग सिद्ध हो जावे।

(७) प्रणवका मानसिक (उपांशु) जाप शीघ्र२ एकरस करनेका अभिप्राय

इस विषय में तीन अङ्ग हैं। (क) मानसिक जाप (ख) शीघ्र२ जाप (ग) एक रस जाप।

(क) मानसिक जाप का अभिप्राय वाणी का संयम करना मात्र है, जिस का प्रयोजन जिह्वा को तालु में लगाने के विषय में कह दिया गया है। वाणीके संयम से चित्त (मन) एकाग्र होता है।

(ख) चित्त चञ्चल है, जब उस के चाञ्चल्य से ओ३म् पद के शीघ्र२ जाप में सहयोग लिया जाय तो सम्भव है कि ध्येय पदार्थ के अतिरिक्त अन्य विषय में प्रवृत्त न हो सके। यही "शीघ्र२ जाप का प्रयोजन है कि चित्त जपरूप एक काम में ही लगा रहे।

(ग) मन के स्थिर करने के लिये काल का नियम करना आवश्यक है। जैसे क्षण निमेषादि कल्पान्त अनेक काल की अवधि वा संज्ञा हैं, इस ही प्रकार एक वार 'ओ३म्' कहने में जो समय लगता है, उसको इस विषय में एक काल की सूक्ष्म से सूक्ष्म अवधि मान कर ओं मन्त्र के उच्चारण की संख्या प्राणायाम करते समय की जाती है। सो जितनी गिनती तक ओम् कहते२ मन अन्य किसी संकल्प वा विषयमें न जाय, तब तक जानो कि जाप एक रस हुआ। एक रस जाप करने का अभ्यास इस प्रकार बढ़ाना चाहिये कि जब जप करते २ मन अन्य विषय को ग्रहण करने लगे तो उस का ध्यान रख कर फिर १ से गणना करने का आरम्भ कर दे यथा-ओं १ ओं २ ओं ३ ओं ४ ओं ५००००० ओं १०० इस प्रकार पहली वार

यदि ५ तक गणना करने के उपरान्त मन चलायमान हो यथा हो तो दूसरी बार जब नए शिरेसे गिनने लगे तो प्रतिज्ञा कर ले कि इसप्रकार न्यूनसेन्यून ६ गिनने पर्यन्त तो मनको डिगने न दूंगा और ध्यान रखकर इस प्रतिज्ञाके अनुसार जप करने लगे इस रीति से एकरस जप करने का अभ्यास बढ़ता जाता है, प्रमाणादि ५ वृत्तियां तथा क्षिप्त मूढ़ और विक्षिप्त. इन तीन मन की अवस्थाओं में मन एक रस नहीं रहता.इस लिये ध्यान योग से उक्त अवस्थाओं और वृत्तियों का निवारण करना उचित है।

आवरणलयता तथा निद्रावृत्तियों के स्वरूप के जानने की आवश्यकता

मन के एक रस न रहने के दो विघ्नरूप कारण अर्थात् आवरण और लयता वृत्तियां भी हैं। ये दोनों निद्रावृत्ति के पूर्व रूप वा भेद है। ध्यानयोग से इन तीनोंके स्वरूपका ज्ञान और उपासना समय में इन का निवारण उपासक को करना उचित है, क्यों कि विना पहिचाने निद्रादि वृत्तियां जीती नहीं जा सकती। आसन दृढ़ नहीं होता। और निद्रावश मनुष्य थोड़ी देर भी अच्छे प्रकार एकाग्र चित्त से नहीं बैठ सकता और उपासना करते समय निद्रा आती भी शीघ्र ही है और अचानक आकर मनुष्य को अचेत कर देती है, क्योंकि निद्रा के उक्त पूर्वरूपों की गति अति सूक्ष्म है। निद्रा के ज्ञान होने से मनुष्य को अपने सोने तथा जागने का भी ज्ञान हो जाता है, अर्थात् वह जान लेता है कि अब निद्रा आगई और अब चली गई। जैसे अर्जुन ने निद्रा को जीत लिया था, इस ही प्रकार सब कोई अभ्यास करने से निद्रा को जीत सकते हैं।

चित्तकी पांच वृत्तियों में से निद्रा भी एक वृत्ति है। जैसे अन्य वृत्तियों का ज्ञान हो जाता है, इस ही प्रकार निद्रावृत्ति का ज्ञान हो जाने में किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं करना चाहिये।

निद्रा नाम सोते समय में जीवात्मा और मन की स्थिति

मनुष्य जब सोता है, तब जीवात्मा लिङ्गदेह में प्रवेश कर जाता है और मन सब इन्द्रियों सहित पूर्णानाड़ी में प्रवेश कर के शान्त होजाता है कि जैसे कछुआ अपने सारे अङ्गों को भीतर सकोड़ लेता है और बाहर चंचलता से चलने वाला नाग अपने बिल में जाकर शान्त हो बैठता है॥

निद्रा के पहिचानने की विधि)

जब दिन और रात्रि के काम धन्धों से निश्चिन्त हो कर मनुष्य सोने लगे, तब त्रिकुटी में ध्यान लगा कर निद्रा के आने का ध्यान रक्खे और उस के स्वरूप के जानने का प्रयत्न करे। सोते समय जहां ध्यान लगा कर मनुष्य सोता है, जागते समय उस ही स्थान पर ध्यान लगा हुआ जागता है।

इत्यादि प्रकार से विघ्न कारक चित्त की वृत्तियों का ज्ञान प्राप्त करके उन को हटाते रहने से प्रणव का मानसिक एकरस जाप होना सम्भव है, अन्यथा असम्भव है।

प्रणव जाप की विधि।

[८] प्रणवके जापमें संख्या करके कालका अनुमान करे

ओम के जप करने की यह विधि है कि ध्यानरूपी बिजुली द्वारा मन तथा उस की संपूर्ण वृत्तियां और ज्ञानेन्द्रियों की दिव्य शक्तियां आदि सब को एक देश में ठहरा कर संयम करे और उस ही स्थान में मौन व्रत पूर्वक मन ही मन में तदाकार

वृत्तिसे परमेश्वरमें अपने आत्मा को लगा कर ओम् का जाप करे, तब साङ्गोपाङ्ग जाप पूर्ण होता है। जहां २ धारणा की जाती है वहां २ सर्वत्र इस ही विधि से जाप किया जाता है, अन्यथा जाप खण्डित समझा जाता है।

प्रणव के जप में संख्या करने का कुछ अङ्ग तो प्रथम कह चुके हैं शेष यहां कहते हैं।

जितने कालमें एक बार ओम् कहा जाता है एक सिकण्ड उतनी ही देर में व्यतीत होता है. इस अनुमान से ६० बार एक एक ओम् का मानसिक उच्चारण करनेमे एक मिनट होता है। एक घण्टे में ६० मिनट और ३६०० सिकण्ड होते हैं। अतः एक घण्टे भर के प्रमाण से उपासना करने वाले मनुष्य को उचित है कि एक आवृत्ति में ६० तक ओं जपे, ऐसी ६० आवृत्तियां करने में पूरा घण्टा हो जाता है, ओं की गणना मन ही मन में करना चाहिये, किन्तु हाथ की अंगुलियों पर नहीं।

संख्या करने का प्रयोजन प्रथम कह दिया गया है।

प्रथम प्राणायाम की नासिकाग्र वाली तृतीय धारणा के परिपक्व हो जाने पर जब प्राणवायु बाहर निकलने लगता है, तब घबराहट हो कर प्राण झट भीतर चला जाता है, उस को नासिका के बाहर अधिक ठहरने का अभ्यास उत्तरोत्तर क्रमशः वहाँ तक बढ़ाना चाहिये कि जितनी देर में ५०० बार ओं कह सके, उतनी देर प्राण बाहर ठहरा रहे। फिर ओं के स्थान में व्याहृतिमन्त्रों से अभ्यास करे अर्थात् आदि में इतनी देर प्राण बाहर ठहरावे कि जितनी देर में ओं सहित सप्त व्याहृतिमन्त्रों को न्यून से न्यून तीनवार पढ़ सके, फिर २१ बार इन मन्त्रों को एक बार में पढ़ सकने तक का अभ्यास बढ़ावे और इस को एक एक प्राणायाम समझे। पश्चात् ऐसे

ऐसे तीन प्राणायाम एकबार में कर सकने का अभ्यास करे, अन्त में २१ प्राणायाम कर सकने की योग्यता प्राप्त करले।

जितनी देर प्राण बाहर ठहर सके, उसको एक प्राणायाम कहते हैं।

ओम् का जाप १ मात्रा से वा दो मात्रा से अथवा सम्पूर्ण ३ मात्रा से

प्रणव का जाप करने वाले पुरुष को यदि उस के अर्थ का विचार वा ज्ञान न हो तो जानो कि वह एक मात्रा से ओ३म् को जपता है। यदि अर्थविचारसहित जपे तो जानो कि वह २ मात्राओं से ओ३म् का जप करता है और जो उस आनन्द स्वरूप परमात्मा के सन्मुख और उस ही के आधार और आनन्द के प्रकाश में निमग्न होकर जपे तो जानो कि वह ओं का जाप उस की तीनों मात्राओं से करता है।

[९] ब्रह्माण्डादि तीन स्थान की धारणाओं का प्रयोजन

प्रथम प्राणायाम सिद्ध करने के लिये नासिका के बाहर प्राण वायु को लाकर खड़ा करना होता है, जहां आरम्भ में एक साथ कदापि नहीं आ सकता। अतः तीन स्थान की धारणारूप तीन श्रेणी का क्रम रक्खा है। सो प्रथम तो प्राणको सीधा ब्रह्माण्ड में लाना ही कठिन है, फिर भृकुटी में फिर नाकके बाहर तो अति कठिनता से निकलता और ठहरता है।

[१०] प्राण वायु को भीतर ले जाते समय क्रम से तीन स्थानों में थोड़ी २ देर ठहराये हुवे हृदय में ले जाकर स्थापित कर देने का अभिप्राय

यह है कि प्राण उपासक के वश में होकर इच्छानुकूल जहां चाहो वहां ठहरा सके।

[११] और अपने आत्मा को परमात्मा में लगा देने से पापोंका नाश होकर मोक्ष प्राप्त होता है ॥

नासिकाग्र में धारणा करते२ जब प्रथम प्राणायाम सिद्ध होजाने पर प्राण वायु बाहर निकलता अच्छे प्रकार विदित होने लगे, तब प्राण को बाहर अधिक ठहराने के लिये ओं की संख्या बढ़ा२ कर जब अच्छे प्रकार एक रस ५०० बार ओं कहने तक प्राण बाहर ठहरने लगे तब वक्ष्यमाण सप्त व्याहृति मन्त्रों को उच्चारण करके प्राणायाम करना चाहिये। वे मन्त्र नीचे अर्थ सहित लिखे जाते हैं, इन सबसे ईश्वर ही के गुणों का कीर्तन और प्रार्थना होती है।

ओम् तथा व्याहृति का, अर्थ

(१) ओं भूः=हे प्राणाधार परमेश्वर ! आप मेरी रक्षा कीजिये।

(२) ओं भुवः=हे दुःखविनाशक परमेश्वर ! आप मेरी रक्षा कीजिये।

(३) ओं स्वः=हे मोक्षानन्दप्रद परमेश्वर ! आप मेरी रक्षा कीजिये।

[४) ओं महः=हे सब के बड़े गुरु परमेश्वर ! आप मेरी रक्षा कीजिये।

[५) ओं जनः=हे जगत्पिता परमेश्वर ! आप मेरी रक्षा कीजिये।

(६) ओं तपः=हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! आप मेरी रक्षा कीजिये।

(७) ओं सत्यम्=हे अविनाशी परमेश्वर ! आप मेरी रक्षा कीजिये।

योग द्वारा ऊर्ध्वरेता होने में वेदाज्ञा ।

ऋग्वेद अ० ४० । अ० १ । व० ३३ । मं० ५ । म० २ । सू० ३२ ।

एवा हि त्वामृतुथा यातयन्तं मघा विप्रेभ्यो
ददतं शृणोमि । किन्ते ब्रह्माणो गृहते सखायो
ये त्वाया निदधुः काममिन्द्र । १२ । ३३ । १ । २॥

पदार्थः—हे [इन्द्र] परमैश्वर्ययुक्त ! विद्या और ऐश्वर्य से युक्त पति की कामना करती हुई मैं (हि) निश्चय से (विप्रेभ्य.) बुद्धिमान् जनों के लिये (मघा) धनों को (ददतम्) देने और (ऋतुथा) ऋतु ऋतु के मध्य में (यातयन्तम्) संतान के लिये प्रयत्न करते हुए (त्वाम्) आप को (एवा) ही (शृणोमि) सुनती हूं और (ते) आप के (ये) जो (ब्रह्माणः) चार वेद के जानने वाले (सखायः) मित्र हैं, वे (त्वाया) आप में (किम्) क्या (गृहते) ग्रहण करते और किस [कामम्] मनोरथ को [निदधुः] धारण करते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थः—स्त्री, ऋतु२ के मध्य में जाने की कामना वाला है वीर्य जिसका, ऐसे 'ऊर्ध्वरेता' अर्थात् वीर्य को वृथा न छोड़ने वाले ब्रह्मचर्य को धारण किये हुए उत्तम स्वभाव वाले और विद्यायुक्त उत्तम यशवाले जन को पतिपने के लिये स्वीकार करें । उस के साथ यथावत् वर्त्ताव करके पूर्ण, मनोरथ वाली और सौभाग्य से युक्त होवे ॥ १२ ॥ मनोहवन बिजुली होता है । योगी लोग इसे अब भी बिजली द्वारा सिखाते हैं । मनोहवन का मन्त्र—

पुरा त्वा मन्द्रं दिव्यं सुवृक्तिं प्रयति यज्ञे अग्निमध्वरे
दधिध्वम् । पुरउक्थेभिः स हि नो विभावा स्वध्वरा
करति जातवेदाः ॥ १ ॥

अष्टक ४। अध्याय ५। वर्ग ११। मण्डल ६ । अनुवाक् १ सूक्त १०।

पदार्थः—हे मनुष्यो ! आप लोग (वः] आप लोगों के [प्रयति] प्रयत्न से साध्य [अध्वरे] अहिंसनीय [यज्ञे] संगतिस्वरूप यज्ञ में [उक्थेभिः] कहने के योग्यों से [पुरः] प्रथम [मन्द्रम्] आनन्द देने वाले वा प्रशंसनीय [दिव्यम्] शुद्ध [सुवृक्तिम्] उत्तम प्रकार चलते हैं, जिस से उस [अग्निम्] विद्युतादिरूप रूप अग्नि को [दधिध्वम्] धारण करिये और जो [हि] निश्चय कर के [विभावा] विशेष करके प्रकाशक [जातवेदाः] प्रकट हुओं को जानने वाला [नः] हम लोगों का [पुरः] प्रथम [स्वध्वरा]उत्तम प्रकार अहिंसा आदि धर्मों से युक्त [करति] करे [सः] वही हम लोगोंसे सत्कार करने योग्य है ॥ १ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे यज्ञ करने वाले यज्ञ में अग्नि को प्रथम उत्तम प्रकार स्थापित कर के उस अग्नि में आहुति देकर संसार का उपकार करते हैं, वैसे ही आत्मा के आगे परमात्मा को संस्थापित करके और प्रयत्न उस के उपदेश से जगत् का उपकार करो ॥ १ ॥

इमम् षु वो अतिथिमुषर्बुधं विश्वासां विशां पतिमृञ्जसे गिरा । वेतीद्दिवो जनुषा कच्चिदा शुचिर्ज्योक्चिदत्ति गर्भो यदच्युतम् ॥ १ ॥

पदार्थः—हे विद्वान् ! जिस कारण से आप (इमम्) इस (विश्वासाम्) सम्पूर्ण (विशाम्) मनुष्य आदि प्रजाओं के (पतिम्) पालक (अतिथिम्) अतिथि के समान वर्त्तमान (उषर्बुधम्) प्रातःकाल में जागने वाले को (ऋञ्जसे) सिद्ध करते हैं-(गर्भः) अन्तस्थ के समान जो (उ) तर्कनासहित

(दिवः) पदार्थबोध की (जनुषा) उत्पत्ति से (शुचेती) अच्छे प्रकार व्याप्त होता (इत) ही है तथा (कत्) कभी (चित्) भी (यत्) जो (शुचिः) पवित्र (अच्युतम्) नाश से रहित वस्तु को (ज्योक्) निरन्तर (अत्ति) भोगता है (आ) आज्ञा करता है, वह विद्वान् होता है ॥ १ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे अतिथि सत्कार करने योग्य है, वैसे ही पदार्थ विद्या जानने वाला सत्कार करने योग्य है. जो सबके अन्तस्थ नित्य बिजुली की ज्योति को जानते हैं, वे अभीप्सित सुखको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः प्राणायामः ।

अब "आभ्यन्तरविषय प्राणायाम" नामक दूसरे प्राणायाम की विशेषविधि विस्तारपूर्वक कहते हैं ।

(विधि) नाभि के नीचे ध्यान लगाकर अपानवायु उदर में भरे, जब नाभि से लेकर कण्ठ तक भर जाय तब जल्दी से ध्यान को कण्ठ में लाकर अपानवायु बन्द करदे । जब जी घबराने लगे तब धीरे २ ध्यान के साथ छोड़ दे । पुनः इसी प्रकार अपानवायु भरे और जितनी देर सहन कर सके, उतनी देर बन्द कर रक्खे । जब जी का घबराना न सहा जाय तब ध्यानद्वारा धीरे २ छोड़दे । इस विधि से बारंबार अपानवायु भरे और थोड़ी देर रोक कर छोड़दे । और प्रथम प्राणायाम में कही विधि से ओं मन्त्र का जप करे और उसकी संख्या द्वारा अपानवायु को उत्तरोत्तर अधिक देर बन्द कर रखने का अभ्यास प्रतिदिन बढ़ता जाये ।

दूसरे प्राणायाम के तीन उपलक्षणों के कारण तीन नाम और भी हैं । यथा—

(१) कुम्भक प्राणायाम (२) पूरक प्राणायाम और (३) रोचक प्राणायाम ।

इस प्राणायाम को कुम्भक इस लिये कहते हैं कि कुम्भ नाम घड़े का है और मनुष्य के देह में नाभि से लेकर कण्ठ-देश पर्यन्त जहां योगी जन अपानवायु को भरते हैं, वह अवकाश एक प्रकार के घड़े की आकृति के सदृश है। तथा उदर नाम पेट को अलंकार की रीति से लोकभाषा में घड़ा कहते भी हैं।

इसही प्रणायाम को पूरक इस कारण से कहते हैं कि जैसे घड़े में जल भरा जाता है, वैसे ही इसके अनुष्ठान में नाभि से कंठपर्य्यन्त का अवकाश अपानवायु से पूरित किया जाता है। रेचन नाम छोड़ने या निकाल देने का है, जो अपानवायु उदर में भरकर थोड़ी देर वहां थाम कर छोड़ या निकालदी जाती है, इस कारण इस ही प्राणायाम का तीसरा नाम रेचक भी रक्खा गया।

इस विषय को अच्छे प्रकार न जानने वाले लोग ऐसी भूल में पड़े हैं कि इस एक प्राणायाम के तीन भिन्न २ नाम होने के कारण से तीन भिन्न २ प्राणायाम बनाते हैं।

प्रथम तथा द्वितीय प्राणायामविषयक कठोपनिषद् का प्रमाण।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥

कठ० वल्ली ५ मन्त्र ३

[भाष्य] जो मनुष्य योगाभ्यास के अनुष्ठान में प्रथम प्राणायाम करते समय—

[प्राण-ऊर्ध्वं-उन्नयति] हृदयस्थ प्राणवायु को ऊपर अर्थात् ब्रह्माण्ड में आकर्षण करता है [चढ़ा ले जाता है]

और दूसरा प्राणायाम करते समय—

(अपानं-प्रत्यक्-अस्यति) गुदा द्वारा चलने वाले अपान-वायु को उदर में (घड़े की सी आकृति वाले पेट में अर्थात् वक्ष अवकाश में कि जो नाभिदेश से लेकर कण्ठदेशपर्यन्त के विस्तृत आकाश में) भरता है।

(मध्ये-आसीनम्) नाभि और कण्ठदेश के मध्य में अन्तःकरणान्तर्गत दशांगुल अवकाश में विराजमान (तं-वामनम्) उस प्रशस्य नित्यशुद्धप्रकाश स्वरूपयुक्त जीवात्मा को—

(विश्वे देवाः) सम्पूर्ण व्यवहारसाधक इन्द्रियां

[उपासते] सेवन करते हैं।

इस मन्त्र में प्रथम तथा द्वितीय प्राणायाम की विधि कही है। इसमें यह बात भी सिद्ध की है कि योगाभ्यास करते समय सम्पूर्ण इन्द्रियां जीवात्मारूप राजा की सेवा=चाकरी में प्रजा की नाईं तत्पर रहती हैं तथा [अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि०] इस अथर्ववेद की श्रुति से भी यही बात सिद्ध है, अर्थात् प्रार्थना यही की गई है कि हे परमात्मन् ! हमारे अट्ठाइसों शुभ उपासना का सेवन करें। योगाभ्यास करते समय प्रथम उक्त वेदमन्त्र द्वारा इसी प्रकार प्रार्थना सबको करनी उचित है और इस प्रार्थना के अनुसार ही अपना वर्तमान रक्खे अर्थात् अपना सर्वस्व परब्रह्म परमात्मा को समर्पित करदे और वेदोक्तधर्मयुक्त [निष्काम कर्म] में सदा तत्पर रहे।

अथ तृतीयः प्राणायामः ।

अब " स्तम्भवृत्ति प्राणायाम " नामक तृतीय प्राणायाम की विशेष विधि विस्तारपूर्वक कहते हैं।

(क्रिया) जब तीसरा प्राणायाम करना चाहे, तब न तो प्राणवायु को भीतर ले जाय, किन्तु जितनी देर सुखपूर्वक हो

सके, उन प्राणों को जहां का तहां, ज्यों का त्यों एक दम [एक साथ] रोकदे।

(विधि) उपर्युक्त क्रिया की विधि यह है कि-प्राणवायु के ठहरने का स्थान जो हृदयदेश है और अपानवायु के ठहरने का स्थान जो नाभिदेश है, इन दोनों स्थानों के मध्यवृत्ति अवकाश में स्थित समानवायु के आधार में स्तम्भवृत्ति से ध्यान को लगादे अर्थात् ध्यान से समानवायु को पकड़कर थाम ले। जब मन घबराने लगे, तब ध्यान ही से उसको छोड़दे। पुनः बारबार इसही प्रकार करे, अर्थात् सुखपूर्वक जितनी देर हो सके उतनी २ देर बारंबार अभ्यास करे, ध्यानद्वारा स्तम्भवृत्ति से प्राण और अपान दोनों जहां के तहां रुक जाया करते हैं। योग की सम्पूर्ण क्रिया सर्वत्र ध्यान से ही की जाती है। इस बात का उपासक को सर्वदा स्मरण रहे। अतएव अनेक बार यह उपदेश उपयोगी स्थलोंमें किया गया है।

स्तम्भन, खड़ा वा बन्द करना, तथा पकड़ और थाम लेना, ये पर्यायवाची शब्द स्तम्भवृत्ति के अर्थ हैं।

अथ चतुर्थः प्राणायामः।

अब "बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी प्राणायाम" नामक चतुर्थ प्राणायाम की विशेषविधि विस्तारपूर्वक कहते हैं।

(विधि) समान्य विधि इस प्राणायाम की पूर्व यह कही गई है कि "जब श्वास भीतर से बाहर को आवे तब बाहर ही कुछ २ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर आवे तब उस को भीतर ही थोड़ा २ रोकता रहे"

अर्थात् जब प्राणवायु भीतर से बाहर निकलने लगे तब उस से विरुद्ध उस को न निकलने देने के लिये अपानवायु

को बाहर से भीतर ले और जब वह (अपानवायु) बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राणवायु के धक्का देकर अपानवायु की गति को भी रोकता जाय।

इस प्रकार एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करे तो दोनों प्राणों की गति रुककर वे प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रिय भी स्वाधीन होजाते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़ कर बुद्धि ऐसी तीव्र, सूक्ष्मरूप होजाती है कि बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है, इस से मनुष्य के शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल पराक्रम और जितेन्द्रियता होती है। फिर वह मनुष्य सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर सकता है। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे। देखो योगसूत्र "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य,, इस ग्रन्थ के पृ० ११२ में तथा सत्यार्थप्रकाश समु० ३ पृ० ४० में वही विधि यहां ज्यों की त्यों पुनरुक्त है।

चौथे प्राणायाम की संक्षिप्त विधि का विस्तार।

"ऊपर से लावो प्राण और नीचे से लाओ अपान और दोनों का युद्ध नासिका में कराओ"

अर्थात् हृदय देश में ठहराने और भीतर से बाहर जाने का स्वभाव वाले प्राणवायु को ऊपरकी ओर चढ़ाकर ब्रह्माँड में होकर भ्रूमध्य में ला कर, त्रिकुटी के तले स्थापित करो और नाभि के नीचे ठहरने और बाहर से भीतर आने के स्वभाववाले अपानवायुको बाहर से लाकर नासिका के छिद्रों के भीतर लेकर स्थापित करो। अब दोनों को धक्का देकर एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करके लड़ाई कराओ। अर्थात् न

तो प्राण को बाहर निकलने दो और न अपान को भीतर जाने दो। इस प्रकार विरुद्ध क्रिया करने से दोनों प्राण वश में हो जाते हैं। इस प्राणायाम को करते समय मन इन्द्रियादिकों को त्रिकुटी में ध्यान द्वारा स्थिर करो।

अब भगवद्गीता के अनुसार चौथे प्राणायाम की विधि लिखते हैं:—वक्ष्यमाण श्लोकों में प्राणायाम और प्रत्याहार ये दोनों योगक्रिया आ गई हैं।

> स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
> प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥१॥
> यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
> विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्तएव सः ॥२॥

भ० गी० अ० ५ श्लोक० २७–२८

(बाह्यान्—स्पर्शान्—बहिः कृत्वा) बाह्य इन्द्रियों के विषयों का त्याग कर, अर्थात् चित्त की उन वृत्तियों को कि जो इन्द्रिय गोलकों के द्वारा बाहर निकलकर तथा चारों ओर फैलकर अपने२ रूपादि विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त होकर मनको चलायमान कर देती हैं विषयों से हटा कर और उन सम्पूर्ण वृत्तियों को भीतर की ओर मोड़कर

(चक्षुः—च—एव—भ्रुवोः—अन्तरे—कृत्वा) और दोनों भृकुटियों के मध्य त्रिकुटीनामक देश में चक्षु आदि इन्द्रियों सहित मन को अर्थात् ध्यान को स्थिर करके

(नासाभ्यन्तरचारिणौ—प्राणापानौ—समौ—कृत्वा) नासिका के छिद्रों द्वारा ही संचार करने (आने जाने) का स्वभाव रखने वाले प्राण और अपान दोनों वायुओं को (समीकृत्वा) समान करके, अर्थात् एक दूसरे के सम्मुख (सामने)-

विरुद्धपक्ष में स्थापित करके, परस्पर विरुद्ध क्रिया करने वाला अर्थात् बाहर निकलने के स्वभाव वाले प्राण को बाहर न निकलने देने वाला तथा भीतर आने के स्वभाव वाले अपान को भीतर न आने देने वाला

(यः—मुनिः) जो कोई मननशील योगी और ब्रह्मका श्रेष्ठ उपासक

(यतेन्द्रियमनोबुद्धिः—मोक्षपरायणः) इन्द्रिय, मन और बुद्धिको जीतनेवाला और निरन्तर मोक्षमार्गमें ही तत्पर और

(विगतेच्छाभयक्रोधः) इच्छा, भय और क्रोध से रहित होता है

(सः—सदा—मुक्त—एव) वह सदा मुक्त ही है।

चतुर्थ प्राणायाम भगवद्गीता का दूसरा प्रमाण।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति॥

भ० गी० अ० ४ श्लो० २६

(अन्वयः) अपरे नियताहाराः प्राणायामपरायणाः प्राणापानगतीरुद्ध्वा प्राणान् प्राणेषु जुह्वति॥

"अत्र प्रश्नः—अपरे ते केन विधिना प्राणान् प्राणेषु जुह्वति? उत्तरम्—अपाने प्राणं जुहवति तथा प्राणे अपानं जुहवति"

(* अर्थ) युक्ताहारविहारपूर्वक अपने मन और शरीर को नैरोग्य और शान्त रखने वाले तथा प्राणायामों के अनुष्ठान में तत्पर रहने वाले अन्ययोगाभ्यासीजन प्राणवायु तथा अपानवायु इन दोनों की गति को रोककर प्राणों में प्राणों का हवन करते हैं "इस विषय में प्रश्न आया कि वे अन्ययोगीजन किस विधि से प्राणों में प्राणों का हवन करते हैं ?" उत्तर यह है कि अपान में प्राण का हवन करते हैं तथा प्राण में अपान का हवन करते हैं ॥

इन प्राणों के युद्धरूपी देवासुर संग्राम में दोनों प्राणों के परमाणुओं का ऐसा संगम हो जाता है कि मानो जल और दुग्ध के संमेलन करने से उनके परमाणुओं का संयोग होकर अर्थात् दोनों आपस में रल मिलकर अन्योन्य सायुज्य से लय हो गये हों ।

---

* टिप्पण—भगवद्गीता के चतुर्थाध्याय के इस उन्तीसवें श्लोक के साथ इससे पूर्व के श्लोकों की संगति है । जहां प्रथम से ज्ञपयोग, तपोयोग, अग्निहोत्रादि कर्मयोग में तत्पर धर्मनिष्ठ जनों का वर्णन किया गया है कि कोई किसी प्रकार और कोई किसी प्रकार धर्म मार्ग में प्रवृत्त हैं । वहां यह भी कथन है कि योगाभ्यास में तत्पर अन्य योगीजन प्राणों में प्राणों का हवन करते हैं. अर्थात् गार्हपत्याग्नि आहवनीयाग्नि और दक्षिणाग्नि इन तीन अग्नियों के अग्निहोत्रादि होम को संन्यासाश्रम में त्याग कर निरग्नि होकर उक्त होमादि कर्म के स्थान में प्राणों में प्राणों का होम करते हैं ॥

अर्थात् इस चौथे प्राणायाम की क्रिया को ही प्राणों में प्राणों का लय करना वा प्राणों में प्राणों का हवन करना कहते हैं।

इस चतुर्थ प्राणायाम को ही शतपथ ब्राह्मण के वक्ष्यमाण प्रमाणानुसार प्राणों की लड़ाई देवासुरसंग्राम भी कहते हैं, क्योंकि प्राण धक्का देकर अपान की गति को जीतकर उसे भीतर नहीं आने देता, इसी प्रकार अपान भी प्राण को बाहर निकलने नहीं देता।

श्री व्यासदेव मुनि तथा महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती सम्पादित चारों प्राणायामों की विधि।

प्राणायामों की क्रिया के विषय में अनेक भ्रमजन्य विश्वास लोक में सम्प्रति हो रहे हैं- अतएव श्री व्यासदेव कृतनिर्मित योगभाष्य के अनुसार जिसको कि श्री भगवान् स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने स्वमन्तव्य सिद्धान्तरूप से स्वप्रणीत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में आवश्यकतानुकूल निज टिप्पणसहित प्रतिपादन किया है। मैं फिर इस विषय को स्पष्टतया प्रकाशित करने के हेतु नीचे लिखता हूं। इस विषय में प्रवेश करने से पूर्व अच्छे प्रकार समझ लेना उचित है कि प्राणायाम किसको कहते हैं। सो पूर्वोक्त पातञ्जल योगसूत्र में कह दिया गया है कि—

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

दृढ़ासन पूर्वक निश्चल निष्कम्प सुखपूर्वक स्थित होकर श्वास और प्रश्वास की गति के रोकने को प्राणायाम कहते

हैं। अर्थात् शरीरस्थ वायु (प्राणों) के सञ्चार को रोक कर उन प्राणों) को अपने वश में कर लेना प्राणायाम कहाता है। इस सूत्र पर श्रीव्यासदेवजी अपने भाष्य में कहते हैं कि—

सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः। कौष्ठ्यस्य वायोर्निस्सारणं प्रश्वासस्तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः। व्या० दे० भा० ॥

जब कोई योगाभ्यास करने को उपस्थित हो तो प्रथम अपना आसन जमा ले, तदनन्तर अर्थात् आसन सिद्ध हो जाने के पश्चात् जो बाहर के वायु का आचमन करना (पीना वा भीतर ले जाना) है, उसको तो श्वास कहते हैं और कोष्ठ (पेट) में भरे हुवे वायु के बाहर निकालने को प्रश्वास कहते हैं। इस प्रकार श्वास के भीतर आने और प्रश्वास के बाहर निकलने की जो दो प्रकार की गतियाँ हैं, उन दोनों चालों का रोकना रूप जो प्राणसंचार का अभाव है, वही प्राणायाम कहाता है इस भाष्य के टिप्पणरूप भाष्य में श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का भी कथन ऐसा ही है कि—

आसने सम्यक्सिद्धे कृते बाह्याभ्यन्तरगमनशीलस्य वायोर्युक्त्या शनैःशनैरभ्यासेन जयकरणमर्थात् स्थिरीकृत्य गतनभावकरणं प्राणायामः॥ (भू० पृ० १७५)

आसन अच्छे प्रकार सिद्ध हो जाने के उपरान्त बाहर भीतर आने जाने का स्वभाव रखने वाले वायु का युक्तिपूर्वक धीरे धीरे अभ्यास करके जय (वश) में कर लेना अर्थात् उस वायु को स्थिर करके उसकी गति (चाल वा संचार) का अभाव करना प्राणायाम कहाता है। इन दोनों महर्षियों के कथन में चारों प्राणायामों का संक्षिप्त सामान्य वर्णन किया

गया है आगे फिर चारों की विधि दो योगसूत्रों में जो कही है, सो यह है कि—

सतु वाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टोदीर्घसूक्ष्मः। वाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥

परन्तु वह (प्राणायाम) चार प्रकार का होता है। एक तो "वाह्यविषय" दूसरा "आभ्यन्तरविषय" तीसरा 'स्तम्भवृत्ति' और चौथा "वाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी"।

इन चारोंमें नियतदेश का नियम, काल और संख्याका परिमाण, (परिदृष्टः) अर्थात् जिस प्राणायाम और उसकी धारणा के लिये जो२ स्थान नियत है, उस २ में जितनी देर होसके उतनी देर तक ओ३म् महामन्त्र की मानसिक उच्चारणपूर्वक संख्या करके ध्यान को चारों ओरसे समेटकर उसी एकस्थानमें ज्ञानदृष्टिद्वारा दृढ़ता से ठहरा कर श्वास प्रश्वास की गति को रोकना चाहिए (दीर्घसूक्ष्मः) उक्त रीति से जो कोई (यथा नूतन योगी) थोड़ी देर ही प्राणायाम कर सके तो उसको सूक्ष्म प्राणायाम जानो और जो कोई कृताभ्यास योगी अधिक समय तक प्राणों की गति का अवरोध कर सके उसको दीर्घ प्राणायाम जानो।

"सतु वाह्याभ्यन्तर०" इस सूत्र में तीन प्राणायामों की विधि है, उसपर व्यासदेव जी का भाष्य आगे लिखते हैं।

यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स वाह्यः॥ १॥

यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तर॥ २॥

तृतीयस्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति यथा तप्तन्यस्तमुपले जलं सर्वतःसंकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति॥ व्या० दे० भा०॥

जहां (जिस प्राणायाम में) प्रश्वासपूर्वक (प्राणवायु की) गति का अभाव हो, उसको " बाह्यविषय " (प्रथम) प्राणायाम कहते हैं ॥ १ ॥

जहां श्वासपूर्वक (अपानवायु की) गति का अभाव हो, उसको "आभ्यन्तरविषय" (द्वितीय) प्राणायाम कहते हैं ।२।

तीसरा स्तम्भवृत्ति प्राणायाम कहाता है, जिसमें श्वास और प्रश्वास दोनों की गति का अभाव (सकृत्प्रयत्नात्) एक दम वायु को जहां का तहां ज्यों का त्यों एक ही वार में ध्यान को झट से दृढ़ करके ज्ञानदृष्टि द्वारा प्रयत्न करके एक साथ ही रोक कर किया जाता है। इसमें दृष्टान्त है कि जैसे तपते हुये गरम पत्थर पर डाला हुआ जल सब ओर से संकुचित होता [सुकड़ता] जाता है। इसी प्रकार श्वास और प्रश्वास [अपान और प्राण वायु] दोनों की गति का एक साथ अभाव किया जाता है।

जल का स्वभाव फैलने का है। अर्थात् जहां गिरता है। वहां पर फैल कर अपना प्रवेश किया चाहता है, परन्तु जब गरम पत्थर पर गिरता है, तब तनिक भी नहीं फैलने पाता, प्रत्युत फैलने के स्थान में गिरते के साथ ही सिकुड़ने लगता है। इसही प्रकार वायु का स्वभाव गति [विचरना] है, किन्तु स्तम्भवृत्ति प्राणायाम करते समय ध्यान ठहराने के साथ ही दोनों प्राण जहां के तहां एक ही साथ तत्क्षण रोके जाते हैं।

ऊपर कही विधि में सर्वत्र ध्यान ठहरा कर ज्ञानदृष्टिद्वारा प्राणायाम करना बताया गया है, न कि अँगुलियों से नकसोरे दबा कर या अन्य प्रकार श्वास खींच कर। इस विषय का भी प्रमाण श्रीमान् स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की बताई हुई विधि में आगे कहते हैं।

बालबुद्धिभिरङ्गुल्यंगुष्ठाभ्यां नासिकाछिद्रमवरुद्ध्य प्राणायामाः । क्रियते सखलु शिष्टैस्त्याज्य एवास्ति, किन्त्वत्र बाह्याभ्यन्तराङ्गेषु शान्तिशैथिल्ये सम्पाद्यसर्वाङ्गेषु यथावत् स्थितेषु सत्सु बाह्यदेशं गतं प्राणं तत्रैव यथाशक्ति संरुध्य प्रथमोबाह्याख्यः प्राणायामः कर्त्तव्यः ॥ १ ॥ तपोपासकैर्योबाह्याद्देशादन्तः प्रविशति तस्याभ्यन्तर एवयथाशक्ति निरोधः क्रियते स आभ्यन्तरोद्वितीयः सेवनीयः ॥२॥एवं बाह्याभ्यान्तराभ्यामनुष्ठिताभ्यां द्वाभ्यां कदाचिदुभयोर्युगपत्संरोधो यः क्रियते सस्तम्भवृत्तिस्तृतीयः प्राणायामोऽभ्यसनीयः ॥ ३ ॥ भू० पृ० २७५

बालबुद्धि अर्थात् प्राणायाम की क्रिया और योगविद्या में अनभिज्ञ लोग अंगुलियों और अंगूठे से नकसोरों को बन्द करके जो प्राणायाम किया करते हैं, यह रीति विद्वानों को अवश्यमेव छोड़ देनी चाहिये । किन्तु चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों तथा मन और इन्द्रियों की चंचलता और चेष्टा को शिथिल करके (रोक कर) अन्तःकरण को रागद्वेषादि दुराचारों से हटा कर तथा बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों और अङ्गोंमें शान्ति और शिथिलता (निश्चलता) सम्पादन करके, सब अङ्गों को यथावत् स्थित करके अर्थात् सुख से सुस्थिर आसन पूर्वक बैठ कर, बाहर निकले हुए प्राण वायु को वहीं (बाहर ही) यथा शक्ति (जितनी देर हो सके उतनी देर) रोक कर प्रथम नामबाह्य प्राणायाम किया जाता है ॥ १ ॥

तथा बाहर से जो (अपान) वायु देह के भीतर प्रवेश करता है, इस का जो उपासक (योगी) जन भीतर ही यथा

शक्ति निरोध करते है, इस विधि से सेवनीय दूसरा अर्थात् आभ्यन्तर प्राणायाम कहाता है ॥ २ ॥

इस प्रकार दोनों बाह्य और आभ्यन्तर प्राणायामों का अनुष्ठान (सीख कर पूर्ण अभ्यास) करके प्राण और अपान दोनों वायुओं का जब कभी जो (युगपत्संरोधः) एक दम से अच्छे प्रकार निरोध किया जाता है सो तीसरा स्तम्भवृत्ति नामक प्राणायाम उक्त विधि से ही अभ्यास करने योग्य है।

आगे चौथे प्राणायाम की विधि कहते हैं।

देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्टः आक्षिप्तः तथा आभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट आक्षिप्त उभयथा दीर्घसूक्ष्मः तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामस्तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मश्चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति यः प्राणायाम उभयाक्षेपी स चतुर्थो गद्यते ॥ व्या० भा०

("बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः") यह जो योगदर्शन का चतुर्थ प्राणायाम विषयक पूर्वोक्त सूत्र है, उस पर श्रीयुत व्यासदेवजीने भाष्य करने में चारों प्राणायामों का भेद पृथक् पृथक् दर्शाकर चतुर्थ प्राणायाम में जो विलक्षणता जताई है। सो आगे कहते हैं कि—

बाह्यविषयनामक प्रथम प्राणायाम में तो देश, काल और संख्या करके परिदृष्ट 'प्राणवायु' बाहर फेंका जाता है और आभ्यन्तर विषय नामक दूसरे प्राणायाम में देश, काल और संख्या करके परिदृष्ट 'अपानवायु' भीतर को फेंका जाता है (उभयथा दीर्घ-

सूक्ष्मः) काल और संख्या के परिमाण से दोनों प्राणायाम दीर्घ तथा सूक्ष्म होता है (तत्पूर्वकः) ये दोनों प्राणायाम क्रम पूर्वक अभ्यास करते२ (भूमिजयात्) जब अच्छे प्रकार परिपक्क हो जाय, अर्थात् प्रथम प्राणायाम तो अपनी नासिका भूमिमें जब पक्का हो जाय फिर दूसरे प्राणायाम का अभ्यास भी जब नाभि भूमि में परिपक्क हो जाय, इस क्रम से जब दोनों प्राणायाम की क्रिया सीख कर पक्का अभ्यास हो जावे तब प्राण और अपान इन दोनों की गति के अभाव (रोकने) से चतुर्थ प्राणायाम किया जाता है।

तीसरे और चौथे प्राणायामों में भेद यह है कि प्राणवायु का विषय नासिका और अपान का विषय नाभि चक्र है, इन दोनों विषयों का लक्ष्य वा विचार किये विना ही आरम्भ करनेके साथ तीसरे प्राणायाम में एक बार ही दोनों प्राणों की गति गति का अभाव किया जाता है और देश, काल, संख्या से परिदृष्ट दीर्घ सूक्ष्म यह (तीसरा) प्राणायाम भी होता है किन्तु चौथे प्राणायाम में प्रथम तो क्रम पूर्वक प्रथम और द्वितीय प्राणायामों की भूमियों में अभ्यास परिपक्क करना होता है, पश्चात् श्वास और प्रश्वास (अपान और प्राण) इन दोनों के विषयों (नाभि और नासिका नामक भूमियों) का लक्ष्य करके (उभयाक्षेप पूर्वकः) प्राण को बाहर की ओर और अपान को भीतर की ओर फेंकते हुये दोनों की गति को रोकना होता है। अतः जो उभयाक्षेपी * प्राणायाम है उसी

---

* टिप्पणी - चौथे प्राणायाम को उभयाक्षेपी इस विधिसे करनी होती है कि इस में प्राण को बाहर निकालने और अपानको भीतर लेने की दोनों क्रियाएं जो एक दूसरे के विरुद्ध है, की जाती हैं और दोनों प्राणों में धक्कमधक्का संग्राम तुल्य होता है।

को चतुर्थ प्राणायाम कहते है। इस चौथे प्राणायाम में यही विशेषता है ॥

चतुर्थ प्राणायाम के विषय में श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की विधि आगे कहते हैं ॥

तद्यथा—यदोदराद्बाह्यदेशं प्रति गन्तुं प्रथमक्षणे प्रवर्त्तते तं संलक्ष्य पुनः बाह्यदेशं प्रत्येव प्राणाः प्रक्षेप्तव्याः पुनश्च यदा बाह्याद्देशादाभ्यन्तरं प्रथममागच्छेत्तमाभ्यन्तर एव पुनः२ यथाशक्ति गृहीत्वा तत्रैव स्तम्भयेत्स द्वितीय एवं द्वयोरेतयोः क्रमेणाभ्यासेन गत्यभावः क्रियते सः चतुर्थः प्राणायामः ॥ (भू० पृ० १७५, १७६)

यस्तु खलु तृतीयोऽस्ति स नैव बाह्याभ्यन्तराभ्यासस्यापेक्षां करोति किन्तु यत्र यत्र देशे प्राणो वर्त्तते तत्र तत्रैव सकृत्स्तम्भनीयः (भू० पृ० १७६)

(आश्चर्य दर्शन)

यथा किमप्यद्भुतं दृष्ट्वा मनुष्यश्चकितो भवति तथैव कार्यमित्यर्थः ॥ (भू० पृ० १७६)

(तद्यथा—) उस चतुर्थ प्राणायाम की क्रिया इस विधि से करनी होती है कि जब प्रथम प्राणायाम करते समय प्रथम क्षण में पेट से बाहर को जाने के लिये जो प्राणवायु प्रवृत्त होता है, उस को (संलक्ष्य=यह व्यासदेव जी के भाष्य में कहे 'परिदृष्टः' पद का अर्थ है कि-अच्छे प्रकार लक्ष्य कर लेने के उपरान्त नासिका के बाहर वाले देश की ओर प्राणों को फेंकना (अर्थात् मवनवत् बलपूर्वक बाहर निकालना) चा-

हिये। यह तो प्रथम प्राणायाम की सी विधि हुई। तदनन्तर जब नासिका के बाहर वाले देश से भीतर नाभि की ओर आने लगे तब प्राणों को भीतर की ओर आने के प्रथम क्षण में ही भीतर को ग्रहण करके बारम्बार यथा शक्ति (जितनी देर सुख पूर्वक होसके उतनी देर) प्राणों को (अपानवायु) को भीतर ही रोकता रहे। यह दूसरे प्राणायाम की विधि हुई इस प्रकार जब क्रमशः इन दोनों प्राणायामों को अभ्यास करते२ परिपक्क कर ले तब प्राण और अपान इन दोनों प्राणों की गति के अभाव नाम रोकने के लिये जो क्रिया की जाती है, वही चौथा प्राणायाम है।

परन्तु तीसरा जो प्राणायाम है वह बाह्यविषयनामक-प्रथम तथा आभ्यन्तर विषयनामक दूसरे प्राणायामों के अभ्यास करने की अपेक्षा नहीं करता प्रत्युत जिस २ देश में जो २ प्राण वर्त्तमान है उस २ को वहां का वहीं (सकृत्) एकदम झट से रोक देना चाहिये। अर्थात् तीसरे प्राणायाम करते समय न तो प्राण को बाहर निकालने और न अपान को भीतर लेने की क्रिया करनी होती है। अतएव प्रथम और दूसरे प्राणायामों को सीखने और अभ्यास करने की कुछ अपेक्षा इस तीसरे प्राणायाम में नहीं होती, अर्थात् प्रथम और दूसरा प्राणायाम सीखे विना भी तीसरा प्राणायाम सिखाया जा सकता है। परन्तु चौथा प्राणायाम विना प्रथम और द्वितीय प्राणायामों के सीखे कदापि नहीं सीखा जा सकता। यही तीसरे और चौथे प्राणायामों में विलक्षणता है॥

जिन दो योगी महानुभावों की उपदिष्ट प्राणायाम की क्रिया ऊपर लिखी हैं, उन दोनों की विधियों में चौथे प्राणायाम की क्रिया के उपदेश में पूर्व के तीनों प्राणायामों का

वर्णन भी पाया जाता है. सो इस अभिप्राय से है कि चारों प्राणायामों का भेद अच्छे प्रकार जनाया जाकर इन की विधियों में भ्रम न पड़े, क्योंकि प्राण और अपान इन दो प्राणों की ही गति के रोकने का प्रयत्न चारों में है ॥

आश्चर्य दर्शन से चकित होकर योग के सिद्ध होने का निश्चय ।

(यथा किनष्यद्भु तं०) जिस प्रकार कोई अद्भुत वार्ता देखकर मनुष्य चकित हो जाता है, ऐसा तीव्र और प्रबल पुरुषार्थ इन प्राणायामों के अभ्यास करने में करना उचित है। अभिप्राय यह है कि चौथे प्राणायाम के सिद्ध होजाने के पश्चात् जब निरन्तर (अनध्यायरहित) अधिक २ देर तक समाधि का अनुष्ठान करते २ कुछ काल व्यतीत होता है तो मनुष्य को अपने जीवात्मा का ज्ञान होता है, तब चकित होकर बड़ा आश्चर्य सा उत्पन्न होता है. जिस का वाणीद्वारा मनुष्य कुछ कथन नहीं कर सकता। तत्पश्चात् शीघ्र ही परमात्मा को भी वह मनुष्य विचार लेता है तब तो अत्यन्त ही विस्मय में मनुष्य रह जाता है। अतः उपरोक्त संस्कृत वाक्य से स्वामी जी का यही आशय है कि ऐसा प्रबल प्रयत्न करे जिस से आत्मा और परमात्मा को जानकर मोक्ष प्राप्त हो। जीवात्मा भी एक अद्भुत पदार्थ है, जिसको अपना ज्ञान जब होता है, तब अति विस्मित होता है । जैसा अगली श्रुति में कहा है—

ओं—न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम् ।
अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीतं विनश्यति ।

ऋ०अ०२। अ०४। व० ६। मं० १। अ० सू० १६०। मं० १।

(अर्थ) हे+मनुष्याः=हे मनुष्यो यत्+अन्यस्य+सञ्चरे-ण्यं= सम्यक्त्वनितुं ज्ञातुं योग्यम)+चित्तम्=(अन्तःकरणस्य स्मरणात्मिकांवृत्तिम् +उत+आधीतम्=आ समन्तात्+धृतम् जो+ औरों को+ अच्छे प्रकार से जानने योग्य+चित्त अर्थात् अन्तःकरण की स्मरणात्मिका वृत्ति+और+सब ओर धारण किया हुआ विषय न+अभि-वि-नश्यति=नहीं विनाश को प्राप्त होता न+"अद्य—भूत्वा" + नूनम् + अस्ति " आज होकर" + निश्चित रहता है नो+श्वः—"च"=और न अगले दिन निश्चित् रहता है। तत्+अद्भुतम्+तत्+अद्भुतम्+कः+वेद उस+आश्चर्यस्वरूप के समान वर्त्तमान को+कौन+जानता है।

(भावार्थ) जो जीवरूप होकर उत्पन्न नहीं होता और न उत्पन्न होकर विनाश को प्राप्त होता है नित्य आश्चर्य गुण कर्म स्वभाव वाला अनादि चेतन है; उसका जानने वाला भी आश्चर्यरूप होता है अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही आश्चर्यस्वरूप है।

देवासुरसंग्राम।

सत्य शास्त्रों के अनुकूल जो देवासुरसंग्राम की कथा है, वह निरुक्त तथा शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों में रूपकालंकार से याथातथ्यतः वर्णन की गई है। वहां वास्तविक देव और असुरों का विवेचन करते समय मनुष्य का मन और ज्ञान इन्द्रियां देवता माने गये हैं। मनको राजा तथा इन्द्रियों को उसकी सेना मानी है और प्राणों का नाम असुर रक्खा है, उनमें राजा प्राण और अपानादि अन्य प्राण उसकी सेना में गिनाये हैं। इनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हुआ करता है मन का विज्ञानबल बढ़ने से प्राणों का निग्रह (पराजय) और

प्राणों को प्रबलता प्राप्त होने से मन आदि का निग्रह (पराजय) हो जाता है। यह उक्त कथा का आशय है।

ईश्वर, प्रकाश के परमाणुओं से मन पंचज्ञानेन्द्रिय, उनके परस्पर संयोग तथा सूर्य आदि को रचता है। जो प्रकाश के परमाणुओं वा ज्ञानरूपी प्रकाश से युक्त होने के कारण सुर [देव] कहाते हैं और अन्धकार के परमाणुओं से पांच कर्मेन्द्रिय दश प्राण और पृथिवी आदि लोकों को रचता है। जो प्रकाशरहित होने के कारण असुर कहाते हैं; उनका परस्पर विरोध रूप युद्ध नित्य होता है।

देवसंज्ञक मन तथा इन्द्रियगण प्राणादि असुरों को जीत कर इनको अपने वश में करके अपना काम लेते हैं। किन्तु मृत्यु समय प्राण जिनको यम भी कहते हैं, प्रबल हो जाते हैं। तब ये ही यम गण मन इन्द्रिय आदि सहित जीवात्मा को उसके कर्मानुसार जिस २ स्थान में जाने का वह भागी होता है, वहां ले जाते हैं।

[भू० पृ० २८७-२९०]

वीर्याकर्षक प्राणायाम अर्थात् ऊर्ध्वरेता होने की विधि

योगमार्ग में प्रवृत्ति रखने वाले जिज्ञासुओं के कल्याणार्थ दो प्राणायाम आगे और भी कहे जाते हैं, इनमें से एक का नाम "वीर्याकर्षक वा वीर्यस्तम्भक प्राणायाम" और दूसरे का नाम "गर्भस्थापक प्राणायाम" जानो। उनकी विधि और फल क्रमशः नीचे लिखते हैं।

वीर्याकर्षक प्राणायाम।

(सामान्य विधि) प्रथम नाभि में ध्यान ठहरा कर

ध्यान से ही अपानवायु को दक्षिण नासाछिद्र द्वारा उदर में भरे और कुछ देर अर्थात् जितनी देर सुखपूर्वक हो सके उतनी देर वहीं ठहरा कर वामनासारन्ध्र से धीरे २ बाहर निकाल कर जितनी देर सुख पूर्वक हो सके बाहर भी रोके। दूसरी बार वामनासारन्ध्र द्वारा उसी प्रकार भरे, रोके और दक्षिण नासिकाछिद्र से बाहर छोड़दे। इतनी क्रिया को एक प्राणायाम जानकर ऐसे क्रम से कम सात प्राणायाम करने से वीर्य का स्तम्भन और आकर्षण होने से वीर्य वृथा क्षय नहीं होता।

[विशेषविधि] यह कोई नियम नहीं कि प्रथम दाहिने ही नथने से भरे और बायें से छोड़े, किन्तु नियम यह है कि किसी एक नथने से भरे और दूसरे से छोड़े। अतः अपान वायु को भरते समय प्रथम नाभि में ध्यान ठहरा कर एक नथन से [अपान वायु को] उदर में भरे, फिर शीघ्रता से ध्यान से ही दोनों नथनों को बन्द करदे और जितना सामर्थ्य हो उतनी देर वहीं रोककर दूसरे नथन से धीरे धीरे बाहर निकाल दे। जब तक कामदेव का वेग और इन्द्रिय शान्त न हो, तब तक यही क्रिया बारंबार करता रहे। जब शान्त हो जाय तब भी कुछ देर इस प्राणायाम को करता रहे, जिससे वीर्य ऊपर चढ़ जाने से शेष न रहने पावे।

(फल) इस प्राणायाम के करने से प्रदर और प्रमेहादि से दुःखित स्त्री पुरुष का रज और वीर्य लघुशंका द्वारा बाहर निकल जाया करता है और जिसके कारण वे प्रतिदिन निर्बल होते जाते हैं वह (रज, वीर्य) क्षय न होकर धातुक्षीण रोग जाता है। अथवा जब कभी अकस्मात् कामोद्दीपन होकर तथा स्वप्नावस्था में सोते समय स्वप्न द्वारा रज वा वीर्य स्खलित होजाने की शंका हो तो सावधान और सचेत होकर

झटपट उठकर तत्काल ही इस प्राणायाम के कर लेने से वीर्य अपने ठहरने के स्थान ब्रह्माण्ड में आकर्षित होकर ऊपर चढ़ जाता है और इन्द्रिय शान्त होकर कामदेव का वेग शान्त हो जाता है और उपासक योगी ऊर्ध्वरेता होता है। इस प्रकार सुरक्षित वीर्य की वृद्धि होकर शरीर में बल, पराक्रम, आरोग्य, धैर्य और बुद्धि की वृद्धि होती है।

यह प्राणायाम वह सिद्ध कर सकता है कि जिसने प्रथम और द्वितीय प्राणायाम सिद्ध कर लिये हों।

(परीक्षा) वीर्य चढ़ जाने की परीक्षा इस प्रकार की जाती है कि प्राणायाम कर चुकने पर उस ही समय लघुशंका करने में तार न आवे तो जानो कि वीर्य का आकर्षण भली भांति हो गया।

जब स्त्री पुरुष के एकान्त सहवास आदि समयों में कामोद्दीपन अवसर हो, उस समय भी इस प्राणायाम को करने से कामदेव का वेग रुककर इन्द्रिय शान्त और वीर्य का आकर्षण होता है।

इस प्राणायामकी क्रियामें अपान वायु वीर्यका स्तम्भनकर के बाहर नहीं निकलने देता और प्राण वायु उतरे हुये वायुको ब्राह्माण्ड में चढ़ा ले जाता है। अतएव इसके दो नाम हैं। वीर्याकर्षक प्राणायाम तथा वीर्यस्तम्भक प्राणायाम।

गर्भस्थापक प्राणायाम।

अर्थात्

गर्भाधान विधि।

वीर्यप्रक्षेप के समय पुरुष प्राणवायु को धीरे ढीला छोड़े और स्त्री अपान वायु का आकर्षण बल पूर्वक करे, यही गर्भ स्थापन का प्राणायाम है।

परन्तु जो स्त्री और पुरुष दोनों जने प्राणायामादि योग-क्रिया को जानते हों वेही इसप्रकार गर्भाधानक्रिया कर सकते हैं अन्य नहीं।

इस विधि से गर्भस्थापन करने पर यदि तीन ऋतुकालों में भी गर्भस्थिति न हो तो जो स्त्री वा पुरुष रोगी हों वह अच्छे वैद्य से अपने रोग का निदान और चिकित्सा करावें। वन्ध्या स्त्री का कुछ भी उपाय नहीं हो सकता।

(फल) इस प्राणायाम के करने से योगमार्ग में प्रवृत्त और सन्तानोत्पत्ति के अभिलाषी गृहस्थी जिज्ञासु की ऋतुदानक्रिया व्यर्थ नहीं जाती, अर्थात् गर्भस्थिति अवश्य होती है अतः उसके शरीर का वीर्य अनेक वार वृथा क्षीण न होने से पराक्रमादि यथावत् बने रहते हैं और उसके संसार और परमार्थ दोनों साथ २ सिद्ध होते चले जाते हैं।

इस विषय की विस्तृत विधि स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत संस्कारविधि में-देखो।

ओं-या जामयो वृष्ण इच्छन्तिशक्तिं नमस्यन्तीर्जानते गर्भमस्मिन्। अच्छा पुत्रं धेनवो वावशाना महश्चरन्ति बिभ्रतं वपूंषि ॥

ऋ० अ०३। अ०४। व०२। मं०३। अ०५। सू० ५७। मन्त्र ३।

(अर्थ) याः*नमस्यन्तीः*(ब्रह्मचारिण्यः)

जामयः*(प्राप्तचतुर्विंशतिवर्षा युवतयः)

जो*सत्कार करती हुई*चौवीस वर्ष की अवस्था को प्राप्त युवती ब्रह्मचारिणी स्त्रियां

वृष्णे=(वीर्यसेचनसमर्थाय प्राप्तचत्वारिंशद्वर्षाय ब्रह्मचारिणे)*इच्छन्ति वीर्यसेवन में समर्थ चालीस वर्षकी आयु को

प्राप्त ब्रह्मचारी के लिये सामर्थ्य की इच्छा करती है—और अस्मिन्*गर्भम्"धत्तु"*जानते इस संसार में *गर्भ के धारण करने को * जानती हैं।

"ताः-पतीन्+चावशानः

"वे-पतियों को,, कामना करती हुई

धेनवः—"वृषभान्-इव,,+महः+वपूषि+

बिभ्रतम्+अच्छ*+चरन्ति

विद्या और उत्तम शिक्षायुक्त वाणियों के सदृश वर्त्तमान गौएं जैसे वृषभों का वले+बड़े पूज्य+रूप वाले शरीरों को* धारण और पोषण करने वाले *अच्छ* पुत्र को ग्रहण करतीहैं।

भावार्थः—वे ही कन्याएँ सुख को प्राप्त होती हैं कि जो अपने से दुगुनी विद्या और शरीर, बल वाले अपने सदृश प्रेमी पतियों की उत्तम प्रकार परीक्षा करके स्वीकार करती हैं। वैसे ही पुरुष लोग भी प्रेमपात्र स्त्रियों को ग्रहण करते हैं, वे ही परस्पर प्रीतिपूर्वक अनुकूल व्यवहार से वीर्यस्थापन और आकर्षण विद्या को जान, गर्भ को धारण, उसका उत्तम प्रकार पालन, सब संस्कारों को करके बड़े भाग्य वाले पुत्रों को उत्पन्न कर अतुल आनन्द और विजय को प्राप्त होते हैं, इस से विपरीत व्यवहार से नहीं।

प्राणायामों का फल।

अगले दो सूत्रों में पूर्वोक्त चतुर्विध प्राणायामों का फल कहा है।

ततःक्षीयते प्रकाशावरणम्।

धारणासु च योग्यता मनसः॥

यो० पा० २ सूत्र ५१-५२ (१७७)

(अर्थ) इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का ढकने वाला आवरण जो अज्ञान है, वह नित्यप्रति नष्ट होता जाता है और ज्ञान का प्रकाश धीरे धीरे बढ़ता जाता है । ५१ ।

इस अभ्यास से यह भी फल होता है कि परमेश्वर के बीचमें मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्षपर्यन्त उपासनायोग और ज्ञानकी योग्यता बढ़ती जाती है तथा उससे व्यवहार और परमार्थका विवेक भी बराबर बढ़ता रहता है ।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां च यथामलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषः प्राणस्य निग्रहात् ॥

(अर्थ) जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्ण आदि धातुओं कामल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं,वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल होजाते हैं ।

प्राणाय "ध्यानयोग" का चौथा अङ्ग है ।

आगे प्राणायाम का फल श्रुतिप्रमाणद्वारा कहते हैं ।

ओम्—अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्था अमृतो ग्रहाभ्याम् । सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान । य०अ० १६म०६०

[अर्थ] "यथा" ग्रहाभ्याम्*"सह"

जैसे ग्रहण करने हारों के साथ

सरस्वती*बदरैः*उपवाकैः*जजान

प्रशस्त विज्ञानयुक्त स्त्री*बेरों के समान+सामीप्यभाव किया जाय जिनसे उन कर्मों से+उत्पत्ति करती है ।

[* अच्छा = अच्छ अत्र संहितायामिति दीर्घः]

"तथा,, वीर्याय नसि प्राणस्य अमृतः पन्था:

"इसी प्रकार,, जो वीर्य के लिये नासिका में प्राण का नित्यमार्ग "था,,

मेषः१ अविः२ न ३स्पानम् ४ नस्यानि ५ वर्हि"उपयुज्यते,, दूसरे से स्पर्द्धा करने वाला १ और जो रक्षा करता है उसके २ समान, सब शरीर में व्याप्त वायु ३ नासिका के हितकारक धातु और ४ बढ़ाने द्वारा ५ उपयुक्त किया जाता है ॥

भावार्थः—जैसे धार्मिक न्यायाधीश प्रजा की रक्षा करता है, वैसे ही प्राणायामादि से अच्छे प्रकार सिद्ध किये हुये प्राण, योगियों को सब दुःखों से रक्षा करते हैं। जैसे विदुषी माता विद्या और अच्छी शिक्षा से अपने सन्तानों को बढ़ाती है वैसे ही अनुष्ठान किये हुये योग के अङ्ग योगियों को बढ़ाते हैं।

प्राणायाम करने से पूर्व इस चार प्रकार की वाणी को जानना आवश्यक है। जैसा कि निम्नलिखित मन्त्र में उपदेश है।

बभ्राजा सीमनदतीरदब्धा दिवो यह्वीरवसाना अनग्नाः। सना अत्र युवतयः सयोनीरेकं गर्भन्दधिरे सप्त वाणीः ॥ ६ ॥

अ० २। अ० ८। व० १३। मं० ३। अ० १। सू० ६

पदार्थः—हे मनुष्यो! जैसे विद्वान् [सप्त वाणीः] सात वाणियों को [सीम्] सब ओर से [बभ्राज] प्राप्त होता है, वैसे [अत्र] यहां [अनदतीः] अविद्यमान अर्थात् अतीव सूक्ष्म जिन के दन्त [अदब्धाः] अहिंसनीय अर्थात् सत्कार करने योग्य [दिवः] देदीप्यमान [यह्वीः] बहुत विद्या और गुण स्वभाव से युक्त [अवसानाः] समीप में ठहरी हुई [अनग्नाः] सब ओर से आभूषण आदि से ढकी हुई [सनाः] सनातनवाली [सयोनीः]

समान जिनकी योनि अर्थात् एक माता से उत्पन्न हुई सगी वे [युवतयः] प्राप्त यौवना स्त्री [एकम्] एक अर्थात् असहायक [गर्भम्] गर्भ को [दधिरे] धारण करती हैं, वे सुखी क्यों न हों। ६।

भावार्थः—जो समान रूप स्वभाव वाली स्त्रियां अपने समान पतियों को अपनी इच्छा से प्राप्त होकर परस्पर प्रीति के साथ सन्तानों को उत्पन्न कर और उनकी रक्षा कर उनको उत्तम शिक्षा दिलाती हैं, वे सुखयुक्त होती हैं। जैसे परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, कर्मोपासना, ज्ञानप्रकाश करनेवाली तीनों मिलकर और सात वाणी सब व्यवहारों को सिद्ध करती हैं, वैसे ही विद्वान् स्त्री पुरुष, धर्म काम और मोक्ष को सिद्ध कर सकते हैं। ६॥

पृक्षो वपुः पितुमान्नित्य आशये द्वितीयमासप्तशिवासु मातृषु। तृतीयमस्य वृषभस्य दोहसे दश प्रमतिं जनयन्त योषणः ॥ २ ॥

ऋग्वेद अ० २ अ० २ व० ८ मं० १ अ० ६२१ सू० १४१

पदार्थः—[नित्य.] नित्य [पितुमान्] प्रशंसित अन्नयुक्त मैं पहिले [पृक्षः] पूंछने कहनेयोग्य [वपुः] सुन्दररूप का [आशये] आशय लेता अर्थात् आश्रित होता हूं [अस्य] इस [वृषभस्य] यज्ञादि कर्मद्वारा जल वर्षाने वाले का मेरा [द्वितीयम्] दूसरा सुन्दर रूप [सप्त शिवासु] सात प्रकार की कल्याण करने [मातृषु] और मान्य करने वाली माताओं के समीप [आ] अच्छे प्रकार वर्त्तमान और [तृतीयम्] तीसरा [दशप्रमतिम्] दश प्रकार उत्तम मिति जिस में होती हैं, उस सुन्दररूप को [दोहसे] कामों की परिपूर्णता के लिये [योषणः] प्रत्येक व्यवहारों को मिलाने वाली स्त्री [जनयन्त] प्रकट करती हैं। २।

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

जो मनुष्य इस जगत में सात प्रकार के लोकों में ब्रह्मचर्य से प्रथम गृहाश्रम से दूसरे और वाणप्रस्थ वा सन्यास से तीसरे कर्म और उपासना के विज्ञान को प्राप्त होते हैं वे दश इन्द्रियों दश प्राणों के विषयक मन बुद्धि चित्त अहकार और जीव के ज्ञान को प्राप्त होते हैं। २।

कर्म उपासना करके फिर दश इन्द्रियों का ज्ञान होता है, फिर दश प्राणों का, फिर मन का, फिर बुद्धि का, चित्त का, फिर अहङ्कार और जीव के ज्ञान को प्राप्त होताहै इनको जानना आवश्यक है। इस के पश्चात् परमात्मा के जानने का जीव को सामर्थ्य होता है।

निर्यदीं बुध्नान्महिषस्य वर्पस ईशानासः शवसाक्रन्त सूरयः। यदीमनु प्रदिवो मध्व आधवे गुहा संतं मातरिश्वा मथायति ॥ ३ ॥

पदार्थः—[यत्] जो [ईशानासः] ऐश्वर्य युक्त [सूरयः] विद्वान् जन [शवसा] बल से जैसे [आधवे] सब ओर से अन्न आदि के अलग करने के निमित्त [मातरिश्वा] प्राणवायु जाठराग्नि को [मथायति] मथता है वैसे [महिषस्य] बड़े [वर्पसः] रूप अर्थात् सूर्यमण्डल के सम्बन्ध में स्थित [बुध्नात्]अन्तरिक्ष से [ईम्] इस प्रत्यक्ष व्यवहार को [अनुक्रन्त] क्रम से प्राप्त हों वा [मध्वः] विशेष ज्ञानयुक्त [प्रदिवः] कान्तिमान् आत्मा के [गुहा] गुहाशय में अर्थात् बुद्धि में [सन्तम्]वर्त्तमान [ईम्] प्रत्यक्ष [यत्] जिस ज्ञान को [निरक्रन्तः]निरंतर क्रमसे प्राप्त हों उस से वे सुखी होते हैं। ३

भावार्थः—वही ब्रह्मवेत्ता विद्वान् होते हैं, जो धर्मानुष्ठान योगाभ्यास और सत्संग करके अपने आत्मा को जान, पर-

आत्मा को जानते हैं और वेही मुमुक्षुजनों के लिये इस ज्ञान को विदित कराने के योग्य होते हैं। २।

ऋ० अ० २ अ० २ व० ८ मं० १ अ० २१ सू० १४१

कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वरः।

को ह कस्मिन्नसि श्रितः॥ २॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वान्! (जनानाम्) मनुष्यों के बीच (ते) आप का (कः) कौन मनुष्य (ह) निश्चय करके (जामिः) जानने वाला है (कः) कौन (दाश्वध्वरः) दान देने और रक्षा करने वाला है। तू (कः) कौन है और (कस्मिन्) किस में (श्रितः) आश्रित (असि) है (इस सब बात का उत्तर दे)। २।

भावार्थः—बहुत मनुष्यों में कोई ऐसा होता है कि जो परमेश्वर और अग्न्यादि पदार्थों को ठीक २ जाने और जनावे, क्योंकि ये दो अत्यन्त आश्चर्य गुण कर्म और स्वभाव वाले हैं॥

ऋ० अ० १ अ० ५ व० २३ मं० १ अ० १३ सू० ७५

ते मायिनो ममिरे सुप्रचेतसो जामी सयोनी मिथुना समोकसा। नव्यं नव्यं तन्तुमातन्वते दिवि समुद्रे अन्तः कवयः सुदीतयः॥ ४॥

पदार्थः—जो (सुप्रचेतसः) सुन्दर प्रसन्नचित्त (मायिनः) प्रशंसितबुद्धि वा (सुदीतयः) सुन्दर विद्या के प्रकाश वाले (कवयः) विद्वान् जन (समोकसा) समीचीन जिनका निवास (मिथुना) ऐसे दो (सयोनी) समान विद्या वा निमित्त (जामी) सुख मांगने वालों को प्राप्त हो वा जान कर (दिवि) बिजुली और सूर्य के तथा (समुद्रे) अन्तरिक्ष वा समुद्र के (अन्तः) बीच (नव्यं नव्यं) नवीन नवीन (तन्तुम्) विस्तृत

वस्तुषि ज्ञान को [ममिरे] उत्पन्न करते हैं (ते) वे सब विद्या और सुखों का [आ-तन्वते] अच्छे प्रकार विस्तार करते हैं। ४।

भावार्थः—जो मनुष्य आप्त अध्यापक और उपदेशकों को प्राप्त हो, विद्याओं को प्राप्त हो वा भूमि और बिजुली को जान, समस्त विद्या के कार्यों को हाथ में आंवले के समान साक्षात् कर, औरों को उपदेश देते हैं, वे संसार को शोभित करने वाले होते हैं। ४।

जो ब्रह्मविद्या गुरुलक्ष्य है, पुस्तकों में देखने से नहीं आती। पुस्तकों का पढ़ना, लिखना आवश्यक है, क्योंकि गुरुजन इन पुस्तकों के ही प्रमाणों से शिष्यों को उपदेश करते हैं, जैसे हाथ पर आंवला रक्खा होता है, इसी प्रकार गुरुजन यथार्थ बोध करा सकते हैं। अब भी जिन पुरुषों ने सद्गुरुओं से सीखा है, वे औरों को सिखा सकते हैं। और यह सब को आवश्यक है।

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ७ ॥

ऋ० अ० १ अ० ७ व० ५ म० १ सू० १५

पदार्थः—हे [विश्वतोमुख] सब से उत्तम ऐश्वर्य से युक्त परमात्मन् ! आप [नावेव] जैसे नावसे समुद्र के पार हों, वैसे [नः] हमलोगों को [द्विषः] जो धर्म से द्वेष करने वाले अर्थात् उस से विरुद्ध चलने वाले हैं उन से [अति पारय] पार पहुंचाइये और [नः] हम लोगों के [अघम्] शत्रुओं से उत्पन्न हुये दुःख को [अप शोशुचत्]दूर कीजिये। ७।

भावार्थः—जैसे न्यायाधीश नाव में बैठा करसमुद्र के पार वा निर्जन जङ्गल में डांकुओं को रोक के प्रजा की पालना करता है, अच्छे प्रकार उपासना को प्राप्त हुआ ईश्वर अपनी

उपासना करने वालों के काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोकरूपी शत्रुओं को शीघ्र निवृत्त कर जितेन्द्रियपन आदि गुणों को देता है। ७।

त्री रोचना दिव्या धारयन्त हिरण्ययाःशुचयोधारपूताः। अस्वप्नजो अनिमिषा अदब्धाउरुशंसा ऋजवे मर्त्याय

ऋ० अ० २ अ० ७ व० ७ मं० २ सू० २७

पदार्थः—जो (हिरण्मयाः) तेजस्वी (धारपूताः) विद्या और उत्तम शिक्षा से जिन की वाणी पवित्र हुई, व (शुचयः) शुद्ध पवित्र (उरुशंसा) बहुत प्रशंसा वाले (अस्वप्नजः) अ, विद्यारूप निद्रा से रहित विद्या के व्यवहारमें जागते हुए (अनिमिषाः) आलस्य रहित और (अदब्धाः) हिंसा न करने के योग्य अर्थात् रक्षणीय विद्वान् लोग (ऋजवे) सरल स्वभाव (मर्त्याय) मनुष्यके लिये (त्री) तीन प्रकार के (दिव्य) शुद्ध दिव्य (रोचना) रुचियोग्य ज्ञान वा पदार्थों को [धारयन्त] धारण करते हैं, वे जगत् के कल्याण करने वाले हों ६

भावार्थः—जो मनुष्य जीव, प्रकृति और परमेश्वरकी तीन प्रकार की विद्या को धारण कर दूसरे को देते हैं और सब को अविद्यारूप निद्रा से उठा के विद्या में जगाते हैं वे मनुष्यों के मंगल करावे वाले होते हैं ॥ ८ ॥

ओष्ठाविव मध्वास्ने वदन्ता स्तनाविव पिप्यतं जीवसे नः। नासेव नस्तन्वो रक्षितारा कर्णाविव सुश्रुता भूतमस्मे ॥ ६ ॥

ऋ० अ० २ अ० ८ व० ५ मं० २ अ० ४ सू० ३९ ॥

पदार्थः—हे विद्वानो ! तुम जो (आस्ने) मुख के लिये (मधु) मधुर रसको (ओष्ठाविव) ओष्ठोके समान (वदन्ता)

कहते हुये (जीव से) जीवने को (स्तनाविव) स्तनों के समान (नः) हमारे लिये (पिप्यतम) बढ़ाते अर्थात् जैसे स्तनों में उत्पन्न हुये दुग्ध से जीवन बढ़ाता है वैसे बढ़ाते हो (नासेव) और नासिका के समान (नः) हमारे (तन्वः) शरीर की (रक्षितारा) रक्षा करने वाले वा (अस्मे) हम लोगों के लिये (कर्णाविव) कर्णों के समान (सुश्रुता) जिनमे सुन्दर श्रवण होता है ऐसे [भूतम्] होते है, उन वायु और अग्नि को विदित कराइए ॥ ६ ॥

भावार्थः—जो अध्यापक जिह्वा से रस के समान स्तनों से दुग्ध के समान, नासिका से गन्ध के तुल्य, कान से शब्द के समान समस्त विद्याओं को प्रत्यक्ष करते हैं, वे जगत्पूज्य होते हैं ॥ ६ ॥

जिस प्रकार जिह्वा रस को प्रत्यक्ष करती है और नासिका गन्ध को और दुग्ध को स्तनों से और शब्द कान से, इसी प्रकार इन इन्द्रियों को गुरुजन प्रत्यक्ष करायें, और फिर परमात्मा को प्रत्यक्ष करावें. तब शिष्य को ज्ञान होना संभव है और इसी प्रकार ऋषि लोग पहिले प्रत्यक्ष कराया करते थे और जिन्होंने गुरु से विद्या सीखी है, वह अब भी प्रत्यक्ष करते हैं तब मनुष्य का जीवन मरण का भय छुटता है और मुक्ति के सुख को प्राप्त होता है और इस के लिये सब जीवों को पुरुषार्थ करना चाहिये और आर्य लोगों को तो अवश्य जानना योग्य है, क्यों कि इन पर जगत् का उपकार करने का भार है ॥

यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।
अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः ॥ ५ ॥

पदार्थः-(सूर्य) हे सूर्य के सदृश (यथा ! वर्त्तमान) जैसे (अक्षेत्रवित) क्षेत्र अर्थात् रेखा गणित को नहीं जानने वाला (मुग्धः) मूर्ख कुछ भी नहीं कर सकता है. वैसे (यत्) जो (स्वर्भानुः) प्रकाशित होने वाला बिजुलीरूप [आसुरः] जिन का प्रकट रूप नहीं, वह [तमसा] रात्रि के अन्धकार से अविध्यत्] युक्त होता है। जिस सूर्य से [भुवनानि] लोक [अदीधयुः] देखे जाते हैं, उस के जानने वाले [त्वा] आप का हम लोग आश्रयण करें ॥ ५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे बिजुली गुप्त हुई अन्धकार में नहीं प्रकाशित होती है, वैसे ही विद्या रहित मूर्खजन का आत्मा नहीं प्रकाशित होता है और जैसे सूर्य के प्रकाश से संपूर्ण सत्य और असत्य व्यवहारों को प्रकाशित करता है ५

ऋ० अ० ४ अ० २ व० ११ मं० ५ अ० ३ सू० ४०

आ धर्णसिर्बृहद्दिवो रराणो विश्वेभिर्गन्त्वोमभिर्हुवानः । ग्ना वसान ओषधीरमृध्रस्त्रिधातुशृंगो वृषभो वयोधाः ॥ १३ ॥

ऋ० अ० ४ अ० २ व० २२ कं० अ० ३ सू० ४३पृ० ४०६ व ४१०

पदार्थः—हे विद्वान् जैसे [धर्णसिः] धारण करने वाला [बृहद्दादिवः] बड़े प्रकाश का [रराणः] दान करता हुआ [विश्वेभिः] सम्पूर्ण [ओमभिः] रक्षण आदि के करने वालों के साथ [हुवानः] ग्रहण करता और [ग्नाः] वाणियों को [वसानः] आच्छादित करता हुआ [ओषधीः [सोमलतादि का [अमृध्रः] नहीं नाश करने वाला [त्रिधातुशृङ्गः] तीन धातु अर्थात् शुक्ल रक्त कृष्ण गुण हैं शृंगों के सदृश जिन के और [वयोधः] सुन्दर आयु को धारण करने वाला [वृषभो]

पुष्टि कारक सूर्य-संसार का उपकारी है, वैसे ही आप संसार के उपकार के लिये [आगन्तु] उत्तम प्रकार प्राप्त हूजिये ।१३॥

भावार्थः—जो विद्वान् तीन गुणों से युक्त प्रकृति के जानने, प्राणी के जानने, नहीं हिंसा करने, ओषधियों से रोगों के निवारने और ब्रह्मचर्य आदि के बोध से अवस्था के बढ़ाने वाले होते हैं वही संसार के पूज्य हैं ॥ १३ ॥

यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्य १ न्येअशक्नुवन् ॥ ९ ॥

ऋ० अ०४ अ० २ व० १२ मं० ५ अ०३ सू० ४० पृ०३३२व३३३

पदार्थः—हे विद्वानो ! [स्वर्भानुः] सूर्य से प्रकाशित [आसुरः] मेघ ही [तमसा] अन्धकार से [यम्] जिस [सूर्यम्] सूर्य को [अविध्यन्] ताड़ित करता है [तम्] उस को [वै] निश्चय करके [अत्रयः] विद्या में दक्ष जन [अनु, अविन्दन] अनुकूल प्राप्त होवें [नहि] नहीं [अन्ये] अन्य इस के जानने को [अशक्नुवन्] समर्थ होवें ॥ ९ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यों ! जैसे मेघ सूर्य को ढांप के अन्धकार उत्पन्न करता है और जैसे सूर्य मेघ का नाश और अन्धकार का निवारण कर के प्रकाश को प्रकट करता है वैसे ही प्राप्त हुई विद्या अविद्या का नाश कर के विज्ञान के प्रकाश को उत्पन्न करती है । इस विवेचन को विद्वान जन जानते हैं अन्य नहीं ॥ ९ ॥

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥

ऋ०अ०४ अ०७ व ३३ मं०६ अ०४ सू० ४७ पृ० १६३५ व १६३

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो [इन्द्रः] जीव [मायाभिः] बुद्धियों से [प्रतिचक्षणाय] प्रत्यक्ष कथन के लिये [रूपं रूपम्

रूप रूप के [प्रतिरूपः] प्रति रूप अर्थात् उस के स्वरूप से वर्त्तमान [बभूव] होता है और [पुरुरूपः] बहुत शरीर धारण करने से अनेक प्रकार का [ईयते] पाया जाता है [तत्] वह [अस्य] इस शरीर का [रूपम्] रूप है और जिस [अस्य] इस जीवात्मा के [हि] निश्चय कर के [दश] दश संख्या से विशिष्ट और [शता] सौ संख्या से विशिष्ट [हरयः] घोड़ों के समान इन्द्रिय अन्तःकरण और प्राण [युक्ताः] युक्त हुये शरीर को धारण करते हैं, यह इस का सामर्थ्य है ॥ १८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे विजुली पदार्थ पदार्थ के प्रतिरूपहोतीहै वैसे ही जीव शरीरके प्रति तत्स्वभाव वाला होता है और जब बाह्यविषय के देखने की इच्छा करता है, तब उस को देखके तत्स्वरूपज्ञान इस जीव को होता है और जो जीव के शरीर में विजुली के सहित असंख्य नाड़ी हैं, उन नाड़ियों से सब शरीर के समाचार को जानता है । ८ ।

जो विद्वान् योगविद्या के जानने वाले हैं. वह हृदयाकाश में स्थित जीवात्माके यथायोग्य ध्यानरूप विजुलीसे काम लेता है औरजो इस विद्या को नहीं जानते वह इस विजुली को नहीं जानते और न उससे यथायोग्य काम ले सकतेहैं। इस लिये सब जीवमात्रों को और आर्यों को विशेष करके इस विजुली-रूपी विद्या को जान कर यथायोग्य सबको जनावें और श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के परिश्रम को सफल करें जिनके उद्योग से वेदविद्या के दर्शन हम लोगों को हुवे, जो नाममात्र वेदों से अज्ञान थे ।

(५) प्रत्याहार ।

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः (यो० पा० २ सू० ५४)

(अर्थ) अपने विषय का ऐसाप्रयोग अर्थात् अनुष्ठान न करके चित्त के स्वरूप के समान जो इन्द्रियों का भाव है, उस ध्यानावस्थित शान्त वा निरुद्धावस्था को प्रत्याहार कहते हैं।

अर्थात् जिसमें चित्त इन्द्रियों के सहित अपने विषय को त्याग कर केवल ध्यानावस्थित होजाय, उसे प्रत्याहार कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जब चित्त विषयों के चिन्तन से उपरत होकर अपने २ विषयों की ओर नहीं जाता। अर्थात् चित्तकी निरुद्धावस्था के तुल्य इन्द्रियाँ भी शान्त और स्वस्थ्य वृत्ति को प्राप्त हो जाती हैं।

(भावार्थ) प्रत्याहार उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है।

प्रत्याहार को ही "अपरिग्रह" "शम दम" 'इन्द्रियनिग्रह' कहते हैं। प्रत्याहार "ध्यानयोग" का पांचवाँ अङ्ग है।

प्रत्याहार का फल।

अगले सूत्र में प्रत्याहार का फल कहते हैं।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। यो० पा० २ सू० ५५

उक्त प्रत्याहार से इन्द्रियां अत्यन्त ही वश में हो जाती हैं। तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय हो के जहां अपने मनको ठहराना वा चलाना चाहे उसी में ठहरा और चला सकता है, फिर उसको ज्ञान होजाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं और तब ही मोक्ष का भागी होता है। इस प्रकार मोक्ष के साधनों में तत्पर मनुष्य मुक्त होता है। मोक्ष का भागी बनने की योग्यता प्राप्त करने वाले को मोक्षके साधनों का ज्ञान और उनका यथावत् आचरण करना उचित

है। अतएव आगे प्रथम मोक्ष के साधन बता कर पश्चात् धारणादि शेष योगाङ्गों की व्याख्या तीसरे अध्याय में की जायगी।

साधनचतुष्टय अर्थात् मुक्ति के चार साधन।

(मुक्ति का प्रथम साधन)

योगाभ्यास मुक्ति का साधन है। अतः यह "ध्यानयोग प्रकाश ग्रन्थ" आद्योपान्त योगमार्ग का यथावत् प्रकाश करने द्वारा होने के कारण मोक्षसाधक ही है, इस लिये ग्रन्थारम्भ से लेकर जो कुछ उपदेशरूप से अबतक वर्णन हो चुका है और जो आगे कहेंगे, उसके अनुसार अपने आचरण और अभ्यास करने से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। आगे मुक्ति के विशेष उपाय कहे जाते हैं। जो मनुष्य मुक्त होना चाहे वह उस मिथ्याभाषणादि पापकर्मों को कि जिनका फल दुःख है छोड़ दे और सुख रूप फल देनेवाले सत्यभाषणादि धर्माचरण अवश्य करे। अर्थात् जो कोई दुःख को छुड़ाना और सुख को प्राप्त होना चाहे वह अधर्म को छोड़ कर धर्म अवश्य करे। क्योंकि दुःख का पापाचरण और सुख का धर्माचरण मूल कारण है। सत्पुरुषों के संग से विवेक अर्थात् सत्यासत्य धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय अवश्य करे। और पृथक् पृथक् जाने और स्वशरीरान्तर्गत पञ्च कोश का विवेचन करे सो श्रवण चतुष्टय (अर्थात्) श्रवण (१) मनन (२) निदिध्यासन (३) और साक्षात्कार (४) द्वारा यथावत् होता है, जिनकी व्याख्या नीचे लिखी है।

(१) श्रवण–जब कोई आप्त विद्वान् उपदेश करे, तब शान्त चित्त होकर तथा ध्यान देकर सुनाना चाहिये, क्योंकि वह सब विद्याओं में सूक्ष्म है। और उस सुने हुये को याद भी रक्खे। इस प्रकार सुनने को श्रवण कहते हैं।

(२) मन–एकान्त देश में बैठकर उन सुने हुवे विषयों या उपदेशों का विचार करना। जिस बात में शंका हो उसको पुनः पुन पूंछना और सुनने के समय भी वक्ता और श्रोता उचित समझें तो प्रश्नोत्तर द्वारा समाधान करें। इस प्रकार निर्णय करने को मनन कहते हैं।

(३) निदिध्यासन–जब सुनने और मनन करने से कोई सन्देह न रहे, तब ध्यानयोग से समाधिस्थ बुद्धि द्वारा उस बात को देखना और समझना कि वह जैसा सुना या विचारा था वैसा ही है या नहीं इस प्रकार निश्चय करने को निदिध्यासन कहते हैं।

(४) साक्षात्कार–अर्थात् जिस पदार्थ का जैसा स्वरूप, गुण, और स्वभाव हो, उसको वैसा ही याथातथ्य जान लेना साक्षात्कार कहाता है।

(ॐ) पंचकोश व्याख्या।

आगे पञ्चकोशों का वर्णन करते हैं। कोश कहते हैं भंडार (खजाने) को, अर्थात् जिन पांच प्रकार के समुदायों से यह शरीर बना है, वे कोश कहाते हैं, उनमें से—

[१] प्रथम सबसे स्थूल=अन्नमय कोश है।
[२] दूसरा उससे सूक्ष्म=प्राणमय कोश है।
[३] तीसरा उससे सूक्ष्म=मनोमय कोश है।
[४] चौथा उससे सूक्ष्म=विज्ञानमय कोश है।

[५] पाँचवाँ सबसे सूक्ष्म = आनन्दमय कोश है।

(अ) अन्नमयकोश—इनमें से अन्नमयकोश सबसे स्थूल है, जो त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है। इसमें संयम करने से समस्त देह के रोम रोम तक का यथावत् ज्ञान प्राप्त होता है संयम करने की विधि यह है कि समग्र शरीर में शिर से लेकर नखपर्यन्त सम्पूर्ण त्वचा, माँस, रुधिर, अस्थि, मेदा आदि से बने शरीर की सब भिन्न भिन्न नाड़ियों में पृथक् २ विभाग से एक साथ ही विस्तृत [फैला हुआ] ध्यान ठहरावे। [देखो य० अ० ३२ मं० ६७]

(आ) प्राणमयकोश—दूसरा प्राणमय कोश है, जिस में पांच प्राण मुख्य हैं, अर्थात् [क] प्राण [ख] अपान, [ग] समान, [घ] उदान और [ङ] व्यान।

(थ) पांच प्राणों के कर्म।

[क] प्राण वायु वह है, जो हृदय में ठहरता है और भीतर से सात छिद्रों [१ मुख, २नासिकाछिद्र, २आंख, २कान] द्वारा बाहर निकलता और भीतर के गन्दे परमाणु बाहर फेंकता है। जब प्रथम प्राणायाम की प्रथम धारणा ब्रह्माण्ड में प्राणवायु को स्थिर कर के अभ्यास करते२ परिपक्व होजाती है, तब धातुक्षीण [प्रदर और प्रमेह रोग] नष्ट हो जाते हैं और पुरुष का वीर्य, गाढ़ा हो कर बरफ़ के तुल्य जमता है। और स्त्री के रज का विकार भी दूर होता है तथा जाठराग्नि प्रबल प्रदीप्त होकर पाचन शक्ति की वृद्धि होती है। विष्टब्ध रोग विनष्ट होता है। स्वप्नावस्था में जब स्वप्न द्वारा अपान वायु वीर्यको गिराने लगता है, तब प्राणवायु तत्क्षण ही जल्दी से योगी को जगा कर रक्षा करता है अर्थात् उस समय योगी

जाग कर "वीर्यस्तम्भक" प्राणायाम कर ले तो वीर्य ऊपर ब्रह्माण्ड में चढ़ जाता है, फिर वहां प्राण वायु से वीर्य का आकर्षण और पुष्टि होती है॥

[ख] अपानवायु वह है जो नाभि में ठहरता है और बाहर से भीतर आता है। यह शुद्ध वायु को भीतर लाता है, गन्दी वायु तथा मल मूत्र को गुदा और उपस्थेन्द्रिय द्वारा बाहर गिराता है। वीर्य को स्त्री गर्भाधान समय इस अपान-वायु से ही ग्रहण करती हैं, इस के अशुद्ध होने से गर्भस्थिति नहीं होती। वीर्य चढ़ाने का प्राणायाम अपान से किया जाता है। प्रातःकाल में शौच जाने से पूर्व योगीको दूसरा प्राणायाम जिस से कि अपानवायु नाभि के नीचे फेरा जाता है अवश्यमेव करना चाहिये, क्योंकि इस के करने से मल झड़ता है। अपानवायु गन्दे रुधिर को भी गुदा द्वारा बाहर फैंक देता है अपानवायुसे वीर्य का स्तम्भन होता है और प्राणवायुसे वीर्य का आकर्षण होता है॥

[ग] समान * वायु वह है, जो हृदय से लेकर नाभि पर्यन्त के अवकाश में ठहरता है और शरीर में सर्वत्र रस

---

* टिप्पणी—योगी को उचित है कि भोजन के एक घण्टे उपरान्त अर्थात् जब समानवायु भोजन किये हुए पदार्थ को समेट कर गोलाकार सा बनाले और उस को पचाने और रस बनाने वाली क्रिया का आरम्भ करे उस समय डकार के आनेसे जान लेना चाहिये कि जल पीनेकी आवश्यकता और अवसर है और तब प्यास भी लगती है, तब जल पिया करे और ऐसा ही अभ्यास करले। अथवा आवश्यकता जान पड़े तो भोजन के मध्य में जल पीना उचित है, किन्तु पश्चात् कम से कम एक घण्टे उपरान्त ही जल पीना चाहिये।

पहुचता है, अर्थात् भोजन किये अन्न जल को पचा कर तथा रस बना कर अस्थि मेदा "मज्जा, चर्म बढ़ाने वाली नाड़ियों को पृथक२ विभाग से देता है और भुक्त अन्नादि का ४० दिन पश्चात् समान वायु द्वारा ही वीर्य बनता है ॥

[घ] उदान वायु वह है जो कण्ठ में ठहरता है और जिस से कण्ठस्थ अन्न पान भीतर को खेंचा जाता और बल पराक्रम होता है, अर्थात् खाये पीये पदार्थों को कण्ठसे नीचे की ओर खींच लेजा कर समान वायु को सौंप देता है। इस को यम भी कहते हैं, क्यों कि मरणसमय वह अन्न पान ग्रहण करने का काम नहीं करता और मृत प्राणी के जीवात्मा को उस के कर्मों के अनुसार यथायोग्य भागों के स्थान में पहुंचा देता है। सोते समय वह सत्वगुणी गाढ़निद्रा में परमात्मा के आधार में जीवात्मा को स्थित करता है, तब जीव को आनन्द होता है जिस को वह नहीं जानता कि ऐसा आनन्द किस कारण हुआ। समाधि में योगी को परमात्मा से मेल करा के उस के आधार में आनन्द प्राप्त करता है' तब यथावत् परमात्मा का ज्ञान होने से जो आनन्द होता है, वह वाणी से नहीं कहा जा सकता ॥

[ङ] व्यान वायु वह है, जो शरीर में सर्वत्र व्याप्त रहती है और जिस से सब शरीर में चेष्टा आदिकर्म जीव मन के संयोग से करता है। समान वायुको बनाया हुआ रस रुधिर होकर व्यानवायुद्वारा ही समस्त देह में भिन्न २ नाड़ियों द्वारा फिरता है ॥

[र] आगे अन्नमयकोश विषयक उपनिषदों और वेदों के प्रमाण लिखते हैं।

पायूपस्थेऽपाने चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणःस्वयं प्रातिष्ठते मध्येतु समानः । एष ह्येतद्धुत मन्नंसमन्नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ।

[प्रश्न० उप० प्रश्न ३ मं० ५]

(अर्थ) गुदा और उपस्थेन्द्रिय में (विण्मूत्र का त्याग करने वाला अपान वायु स्थित रहता है (जो बाहिर से शुद्ध परमाणुओं को लाकर शरीर में प्रविष्ट करता है) चक्षु, श्रोत्र, मुख, नासिका, के सब द्वारों से निकलने वाला प्राणवायु स्वयं हृदय में स्थित रहता है (जो शरीर के गंदे परमाणुओं को बाहर फेंकता है) प्राण और अपान दोनों के मध्यमें समान वायु स्थित है, जो खाये हुवे अन्न को पचाता हुआ रसादि निकाल कर) समान विभाग से सब नाड़ियों में पहुंचाता है (और सब धातुओं को बनाकर ठीक २ अवस्थित करता है) और पके हुवे अन्न से बने रसादि धातुओंके द्वारा ही देखना आदि विषय की प्रकाशक दीप्तियां अर्थात् इन्द्रिय रूप मुखके ये सात द्वारा समर्थ होते हैं ।

हृदि ह्येष आत्मा । अत्रैतदेकशतं नाड़ीनां तासां शतंशतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाड़ीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ प्रश्न०उ०प्रश्न० ३मं० ६

[अर्थ] हृदय में जीवात्मा रहता है । इस ही हृदय में एक सौ एक नाड़ियां हैं इन [१०१ मूल नाड़ियों में से एक एक की सौ सौ शाखा नाड़ियां फूटी हैं । इन एक २ शाखा नाड़ियों की बहत्तर बहत्तर हजार प्रति शाखा नाड़ियां होती हैं, इन सब नाड़ियों में व्यान नामी प्राण विचरता है ।

अर्थात् शरीर में सर्वत्र फैली हुई जिन नाड़ियों में यह व्यान वायु संचार करता है, उनकी संख्या इस मन्त्र में की है, सो इस प्रकार जानो कि:—

जो सम्पूर्ण मूल नाड़ियाँ गिनाई गई हैं	१०१
प्रत्येक मूलनाड़ी की शाखानाड़ी हैं सौ सौ, अतः सब शाखानाड़ी हुईं	(१०१+१००)=१०१०० दश हजार एक सौ
और प्रत्येक शाखानाड़ी को प्रतिशाखा नाड़ी हैं बहत्तर बहत्तर सहस्र. अतःसब प्रतिशाखानाड़ी हुईं।	१०१००+७२०० =७२७२००००० बहत्तर करोड़ और बहत्तर लाख
सम्पूर्ण मूलनाड़ी, शाखा नाड़ी और प्रतिशाखानाड़ी मिलकर हुईं	७२७२१०२०१ बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख दस हजार दो सौ एक

आदि में गिनाई हुई १०१ मूल नाड़ियों की भी सब में प्रधान एक ही है, उस प्रधान मूल नाड़ी को सुषुम्णा नाड़ी भी कहते हैं, जो नाभि से लेकर ब्रह्माण्ड में होती हुई नासिका के ऊपर भ्रूमध्य के त्रिकुटी देश में इड़ा और पिंगला नाड़ियों में जा मिली है। यह वही मूल की नाड़ी है जिसके प्रथम प्राणायाम कहते समय सीधी ऊपर को तनी हुई रहने से प्राणवायु नासिका के बाहर अधिक ठहरता है इसही नाड़ी के मध्यस्थ एक देश में जीवात्मा का वास है। इस नाड़ी के साथ मनको संयुक्त करने वाले योगीजन आत्मज्ञान को प्राप्त करते हैं। प्रधान मूलनाड़ी यही है।

आगे प्रश्नोपनिषद् के प्रमाण द्वारा उदानवायु का वर्णन करते हैं।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति
पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्॥

प्रश्न० उ० प्रश्न ३ मं० ७

[अथ+एकया =] अब उदानवायु का कृत्य कहते हैं कि जो उस एक मूलेन्द्रियनाम की नाड़ी के के साथ।

[ऊर्ध्व+उदानः] शरीर के ऊपर वाले विभाग नाम कण्ठ देश में [पुण्येन पुण्यं लोकं नयति] पुण्यकर्म से जीवात्मा को स्वर्ग नाम सुख भोग की उत्तम सामग्री से युक्त उत्तम योनि वा रमणीय दिव्यस्थान लोक को पहुंचता है।

[पापेन पापम्] अधम योनि वा नरकरूप दुःख की सामग्री से युक्त स्थान में वेदोक्त ईश्वराज्ञापालन से विरुद्ध [अधर्मयुक्त] सकाम कर्मों के करने से जीवात्मा को ले जाता है।

[उभाभ्यां मनुष्यलोकमेव] पाप पुण्य दोनों के समान होने से मनुष्य योनि को प्राप्त कराता है।

अर्थात् उदाननामकप्राण ही लिंगशरीर के साथ जीवात्मा को शरीर से निकालता है और शुभाशुभ कर्म के अनुसार मनुष्यादि योनि और स्वर्ग*नरक आदि भोगको प्राप्त कराताहै।

प्राणमय कोश में अर्थात् जिस जिस स्थान में जोजो प्राण रहता है, उस २ में संयम करने से प्रत्येक प्राण तथा उस उस की चेष्टाओं का यथावत् ज्ञान होता है।

*स्वर्ग नरक कोई स्थानविशेष नहीं। ऐश्वर्यभोग की सामग्री जिस से सुख प्राप्त होता है, अथवा मोक्ष का नाम स्वर्ग है। इस ही प्रकार दुःख के भोगने की सामिग्री का नाम नरक है।

ओम्-इन्द्रायाहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः सुते दधिष्व नश्चनः॥ ऋ० अ० १ अ० १ व० ५ मं० ६ अ० २ सू० ३ मं० ६

अनेन मन्त्रेणैश्वर्येणेन्द्रशब्देन वायुरप्यादिश्यते॥

आगे इसी विषय में वेद के प्रमाण कहे जाते हैं।

इस मन्त्र में ईश्वर ने इन्द्र शब्द से भौतिक वायु [प्राणों] का उपदेश किया है।

(भाष्य)

[हरिभिः]=जो वेगादि गुण युक्त
[तूतुजानः]=शीघ्र चलने वाला
[इन्द्रः]=भौतिक वायु है, वह
[सुते]=प्रत्यक्ष उत्पन्न वाणी के व्यवहार में
[नः+ब्रह्माणि]=हमारे लिये वेद के स्तोत्रों को
[आयाहि]=अच्छे प्रकार प्राप्त कराता है, यथा वह
[नः+चनः]=हम लोगों के आनन्दादि व्यवहार का
[दधिष्व]=धारण करता है।

भावार्थ—जो शरीरस्थ प्राण है, वह सब क्रिया का निमित्त होकर खाना, पीना पचाना, ग्रहण करना और त्यागना आदि क्रियाओं से कर्म को कराने वाला तथा शरीर में रुधिर आदि धातुओं के विभागों को जगह २ में पहुंचाने वाला है, क्योंकि वही प्राण शरीर आदि की पुष्टि, वृद्धि और क्षय नाश का हेतु है।

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती।
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ य० अ० ३ मन्त्र-७ ॥

भाष्य।

[अस्य] =[या अस्य अग्नेः]=जो इस अग्नि की
[प्राणात्] ॥ [ब्रह्माण्ड शरीरयोर्मध्य ऊर्ध्वगमन] शीलात्
ब्रह्मांड और शरीर के बीच में ऊपर की ओर जाने के
स्वभाव वाले वायु से

(अपानती)=(अपानमधोगमनशीलं वायुं निस्पादयन्ती विद्युत्) नीचे की ओर जाने के स्वभाव वाले वायु को उत्पन्न करती हुई। (रोचना)=(दीप्तिः)=प्रकाशरूपी बिजुली [अन्तः]=(शरीर ब्रह्मांडयोर्मध्ये)=शरीर और ब्रह्मांड के मध्य में [चरति]=गच्छति]=चलती है॥

[महिषः]=[स महिषोऽग्निः] वह अपने गुणों से बड़ा अग्नि [दिवम्]=[सूर्यलोकम्]=सूर्य लोक को [व्यख्यत्]=[वि] विविधार्थे [अख्यत्] व्यापयति.] विविध प्रकार से प्रकट करता है॥

भावार्थ—मनुष्य को जानना चाहिये कि विद्युत नाम से प्रसिद्ध सब मनुष्य के अन्तःकरण में रहने वाली जो अग्निकी कान्ति है वह प्राण और अपान के साथ युक्त होकर प्राण, अपान, अग्नि और प्रकाश आदि चेष्टाओं के व्यवहारों को प्रसिद्ध करती है॥

यजुर्वेद के तीसरे अध्याय के आरम्भ से अग्नि (विजुली) का वर्णन है। इस सातवें मन्त्र में ईश्वर ने उपदेश किया है। कि यही बिजुलीरूप भौतिकाग्नि शरीरस्थ प्राणों को प्रेरणा करती है॥

अभिप्राय यह है कि जितने शरीर के भीतर और बाहर के व्यवहार तथा इन्द्रियादि की चेष्टाएं हैं वे सब बिजुली से ही सिद्ध होती हैं। इसी नियम के अनुसार योगाभ्यास सम्बन्धी प्राणायामादि क्रियाएं भी ध्यान बिजुली बिना नहीं होसकतीं, नाक को हाथ से दबाने आदि की कुछ आवश्यकता नहीं॥

ओं—यातो वा मतो वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः।
ते अग्रेऽश्वमयुञ्जँस्ते अस्मिन् जवमादधुः य० अ० ९ । ७

(भाष्य)

"ये विद्वांसः" = जो विद्वान लोग [वातः+वा] = वायु के समान तथा मनः+वा] = मन के सम तुल्य "यथा" [सप्त-विंशतिः] जैसे सत्ताईस [गन्धर्वाः = ये वायव इन्द्रियाणि च धरन्ति तु] वायु इन्द्रिय और भूतों को धारण करने हारे [अस्मिन् = अस्मिन् जगति] इस जगत् में '[अग्रे] पहिले नाम सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुवे हैं [अश्वम्+अयुञ्जन् = व्यापकत्ववेगादिगुणसमूह दम् युञ्जन्ति] व्यापकता और वेगादि गुण समूहों को संयुक्त करते है । ते = ते खलु] वे ही लोग [जवम् = वेगम्) वेग को [आ+अदधुः = आ समन्तात् धरन्ति] सब ओर से धारण करते हैं ।

भावार्थ-एकादश प्राण [अर्थात् एक तो समष्टिवायु नाम सूत्रात्मा तथा प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय] बारहवां मन तथा मनके साथ श्रोत्रादि दश इन्द्रिय और पांच सूक्ष्मभूत ये सब मिलकर २७ [सत्ताईस] पदार्थ ईश्वर ने इस जगत् में पहिले रचे हैं। जो पुरुष इन के गुण, कर्म और स्वभाव को ठीकर जान कर यथा योग्य कार्यों में संयुक्त करता है "वहीं ब्रह्मविद्या का अधिकारी है, अर्थात् उसको सीख सकता है,,

इसी आशय को लक्ष्य में धर के मुक्ति के साधन रूप इन विषयों का प्रथम वर्णन किया है, क्यों कि आगे धारणादि अवशिष्ट योगांगों के अनुष्ठान से इन सब का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना होगा ।

धनञ्जय वायु में संयम करने से आयु बढ़ती है ।

(इ) मनोमयकोश = तीसरा मनोमयकोश है, जिस में मन के साथ अहंकार तथा वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ, ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं।

इन में संयम करने से अहंकार सहित सकल कर्मेन्द्रियां और उन की शक्तियों का ज्ञान होता है।

(ई) विज्ञानमयकोश = चौथा विज्ञानमय कोश है, जिस में बुद्धि, चित्त तथा श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका, यह पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं, जिनसे जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है।

बुद्धि में संयम करने से विज्ञानमय कोश अर्थात् बुद्धि चित्त तथा समस्त ज्ञानेन्द्रियों और उन की दिव्य शक्तियों का यथावत् ज्ञान होता है ।

(उ) आनन्दमय कोश = पांचवा आनन्दमय कोश है, जिस में कि प्रीति, प्रसन्नता, आनन्द, न्यून आनन्द, अधिक अनन्द और आधार कारण रूप प्रकृति है । जिस के आधार पर कि जीवात्मा रहता है ॥

जब जीवात्मा अपने स्वरूप में संयम करता है, तब उस को आनन्दमय कोश के सम्पूर्ण पदार्थों का भिन्न २ यथावत् ज्ञान होता है ॥

इन पाँच कोशों से जीव सब प्रकार कर्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है ॥

आगे शरीर की अवस्थाओं का वर्णन करते हैं ।

(ख) अवस्था त्रय वर्णन

इस शरीर की तीन अवस्था हैं (१) जाग्रत् (२) स्वप्न और (३) सुषुप्ति ॥

(१) जाग्रत अवस्था—जाग्रत् अवस्था दो प्रकार की है। एक तो यह कि जिस में जागता हुआ मनुष्य भी विविध त्रिगुणात्मक संकल्प विकल्पों में इस प्रकार फंसा रहता है, जैसे स्वप्नावस्था में भाँति २ के स्वप्न देखता हुआ यह नहीं

जानता कि मैं सोया हुआ हूं या जागता हूं। इस जाग्रत् अवस्था को अविद्यारूपी निद्रा कहते हैं, क्यों कि जीव अपने आपे को भूला हुआ या अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रखता। इस जाग्रत् अवस्था में रज वा विशेषतः तम प्रधान रहता है॥

दूसरी शुद्ध सत्वमय जाग्रत् अवस्था होती है, जिस में केवल सत्व ही प्रधान होता है और तब जीव धर्माचरण की ओर झुकता है

(२) स्वप्न अवस्था—जाग्रत् और सुषुप्ति इन दोनों की सन्धि के समय को जिस में कि मनुष्य सोता हुआ स्वप्न देखता है अर्थात् जाग्रत् और सुषुप्ति के मध्य की दशा को स्वप्नावस्था कहते हैं। यह भी दो प्रकार की है। एक तो वह कि जिस में जाग्रत् का अंश अधिक होने से स्वप्न ज्यों का त्यों याद बना रहता है, दूसरी वह कि जिस में सुषुप्ति का अंश अधिकतर रहने से स्वप्न पूरा २ नहीं याद रहता॥

सुषुप्ति अवस्था—गाढ वा गहरी निद्रा को कि जिस में समाधि के सदृश मनुष्य अपने आपे को भूला हुआ अचेत पड़ा सोता रहता है, उसे सुषुप्त्यावस्था कहते हैं। तथापि स्मृतिवृत्ति इस अवस्था में भी बनी रहती है, क्यों कि जब मनुष्य गाढ़निद्रा से जागता है तब कहता है कि मैं आनन्दपूर्वक सोया। स्मृति के बिना ऐसा अनुभव याद नहीं रह सकता।

जाग्रत अवस्था में संयम करने से तीनों अवस्थाओं का यथार्थ ज्ञान होता है।

आगे शरीर त्रय का वर्णन करते हैं।

(ग) शरीर त्रय ।

जिसर आधारसे आश्रय जीवात्मा जन्म मरण तथा मोक्ष में भी रहता है, उस को शरीर कहते हैं जो बहुधा तीन प्रकार का माना गया है। यथा-

(१) स्थूल (२) सूक्ष्म (३) कारण ।

(स्थूल शरीर—जो प्रत्यक्ष हाड़, मांस, चाम का बना दृष्टि पड़ता और मृत्यु समय में छूट जाता है, वह स्थूल शरीर कहाता है।

(२) सूक्ष्म शरीर—जो पञ्चप्राण, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च सूक्ष्मभूत, मन और बुद्धि इन सत्तरह तत्वों का समुदाय जन्म मरण आदि में भी जीव के साथ रहता है। वह सूक्ष्म शरीर कहाता है। इस के दो भेद हैं-

[क] भौतिक शरीर और [ख] स्वाभाविक शरीर

[क] भौतिक शरीर वह कहाता है जो सूक्ष्मभूतोंके अंशों से बना है।

[ख] स्वभाविक शरीर वह कहाता है जो जीव के स्वाभाविक गुण रूप है, यह स्वभाविक शरीर पूर्वोक्त पञ्च कोश और अवस्था त्रय से पृथक है और जीव जब अपने स्वरूप में संयम करता है। तब याथातथ्य जान लेता है कि मैं इन सब से न्यारा हूं।

स्वाभाविक शरीर को इस दृष्टान्तसे जानो किजैसे किसी एक स्थान में रक्खे हुवे पिंजरे में एक पक्षी वास करता हो इस ही प्रकार अस्थि चर्म निर्मित शरीर मानो एक स्थान है, उस में सत्तरह तत्वों का बना सूक्ष्म शरीर मानो एक पिंजरा है उस पिंजरे में जो मुख्य जीव है, वही मानो एक पक्षी है।

इस भौतिक और स्वाभाविक शरीरों से बने सूक्ष्म शरीर से ही मुक्त हो जाने पर जीवात्मा मोक्ष सुख के आनन्द का भोग करता है, अर्थात् मुक्ति में जीव सूक्ष्म शरीर के आश्रय रहता है।

(३) कारण शरीर—तीसरा कारण शरीर यह है। कि जिस में सुषुप्ति अवस्था अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है। वह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिये एक है

पूर्वोक्त तीन प्रकार के शरीरों से भिन्न एक चौथा तुरीय नामक शरीर जीवका और भी है, कि जिसके आश्रय समाधि में परमात्मा के आनन्द स्वरूप में जीव मग्न होता है। इस ही समाधि संस्कारजन्य शुद्ध अवस्था का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है। इसमें जीव केवल ईश्वरके आधार में रहता है। तुरीय शरीर को ही तुरीयावस्था भी कहते हैं।

इन सब कोश और अवस्थाओं से जीव पृथक है, क्योंकि जब मृत्यु होती है, तब प्रत्यक्ष देखने में आता है कि जीव इस स्थूल देह को छोड़ कर चला जाता है। यही जीव इन सब का प्रेरक, सब का धर्त्ता. साक्षी. कर्त्ता और भोक्ता कहाता है। जो कोई मनुष्य जीवको कर्त्ता भोक्ता, न माने तो जान लो कि वह अज्ञानी और अविवेकी है. क्यों कि विना जीव के ये सब पदार्थ जड़ हैं इनको सुख दुःखोंका भोग वा पाप पुण्यकर्तृत्व कभी नहीं हो सकता, किन्तु इन के सम्बन्ध से जीव पाप पुण्यों का कर्त्ता और सुख दुःखों का भोक्ता है।

अर्थात् जब इन्द्रियां अर्थों में, और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा कर के अच्छे वा बुरे कर्मों में लगाता है, तभी वह बहिर्मुख हो जाता है। उस ही समय अच्छे कामों में भीतर से आनन्द, उत्साह निर्भयता और बुरे

कर्मों में भय, लज्जा आदि उत्पन्न होती है। वह अन्तर्यामी की शिक्षा है। जो कोई इस शिक्षा के अनुकूल वर्त्तता है वही मुक्ति जन्य सुखों को प्राप्त होता है और जो विपरीत वर्त्तता है, वह बन्ध जन्य दुःख भोगता है।

यहां तक संक्षेप से मुक्ति का प्रथम साधन कहा, आगे दूसरा साधन कहा जाता है।

[२] मुक्ति का द्वितीय साधन (वैराग्य)

मुक्ति प्राप्त करने का दूसरा साधन वैराग्य है। वैराग्यवान् वा वीतराग होना रागादि दोषों के त्यागने को कहते हैं सो विवेकी पुरुष ही त्यागी वा वैरागी हो सकता है। विवेक [भले बुरे की पहिचान वा परीक्षा] से निर्णय कर के जो सत्य और असत्य जाना हो उस में से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना विवेक कहाता है। अर्थात् पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के गुण कर्म, स्वभाव को जान कर उनसे उस परमेश्वर की आज्ञा पालन और उपासना में ध्यान योग द्वारा तत्पर होना उस से विरुद्ध न चलना, सृष्टि से उपकार लेना, विवेक कहाता है। पूर्वोक्त दूषणों को त्याग कर राज्यशासन, प्रजा पालन गृहस्थ कर्म आदि धर्मानुकूल करता हुआ मनुष्य भी योगी और विरक्त होता है, किन्तु झूठे सुख की इच्छा से आलस्य वश निष्पुरुषार्थी होकर अधर्माचारी मनुष्य घर बार छोड़, मूंड मुंडवा, काषायाम्बरधारी वैरागियों का सा वेष मात्र बना लेने से यथावत् वैराग्य को नहीं प्राप्त होता।

(३) मुक्ति का तृतीय साधन षट्क सम्पत्ति।

मुक्ति का तीसरा साधन षट्क सम्पत्ति है । अर्थात् इन छः प्रकार के कर्मों का जो शमादि षट्सम्पत्ति कहाते हैं यथावत् अनुष्ठान करना । वे छः कर्म ये हैं ।

[१] शम, [२] दम, [३] उपरति, [४] तितिक्षा, [५] श्रद्धा और [६] समाधान, इन सब की व्याख्या आगे कहते हैं ।

(शम)—अपने आत्मा और अन्तःकरण को अधर्माचरण से हटा कर धर्माचरण में प्रवृत्त रखना अर्थात् मन को [शान्त करके शमन करना या] वशमें रखना, शम कहाता है

(दम)—इन्द्रियों को दमन करके अर्थात् जीत कर अपने वश में रखना अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियाँ और शरीर को व्यभिचारादि बुरे कर्मोंसे हटा कर जितेन्द्रियत्वादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना, दम कहाता है ।

(४) तितिक्षा—दुष्ट कर्म करने वाले पुरुषों से दूर रहना और स्वयमेव विरुद्ध वा अधर्मयुक्त कर्म जो सकाम कर्म कहाते हैं, उनसे सदा पृथक् रहना, उपरति धर्म कहाता है ।

(४) तितिक्षा—निन्दा, स्तुति, हानि, लाभ, आदि चाहे कितना ही क्यों न हो, परन्तु हर्ष शोक को छोड़कर मुक्ति के साधनों में सदा लगा रहना, अर्थात् स्तुति वा लाभ आदि में हर्षित न होना और निन्दा, हानि आदि में शोकातुर न होना । आशय यह है कि उक्त द्वन्द्वों का सहन करना, तितिक्षा धर्म कहाता है ।

(५) श्रद्धा—वेदादि सत्यशास्त्र और इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान्, सत्योपदेश महाशयों के वचनों पर विश्वास करना श्रद्धा कहाती है।

(६) समाधान—चित्त की एकाग्रता को समाधान कहते हैं।

(४) मुक्ति का चतुर्थ साधन—मुमुक्षुत्व।

मुमुक्षु उस मनुष्य को कहते हैं कि जिस को मुक्ति या मुक्ति के साधनों के अतिरिक्त अन्य किसी विषय वा पदार्थ में प्रीति नहीं रहती। जैसे कि क्षुधातुर मनुष्य को अन्न जल के सिवाय दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता, इस प्रकार मोक्षमार्ग में निरन्तर तत्पर रहने को मुमुक्षुत्व कहते हैं।

इति श्री-परमहंस परिव्राजकाचार्याणां परमयोगिनां
श्री मद्दयानन्द सरस्वती स्वामिनां शिष्येण ब्रह्मा
नन्दस्वामिना प्रणीते [illegible] ग्रन्थे
कर्मयोगोनाम द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥२॥

---

* ओ३म् *

अथ उपासना योगो नाम

तृतीयोऽध्यायः

—:०*-*०—

वन्दना ॥

अचिन्त्याव्यक्तरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने ।
समस्तजगदाधार ब्रह्मणे मूर्तये नमः ॥ १ ॥

अर्थ-चित्त से चिन्तन अर्थात् मन आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, जो अव्यक्त रूप है; जो अपने से भिन्न जीव प्रकृति आदि पदार्थों के गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण है, जो अपने अनन्त स्वभाविक ज्ञान बल क्रियादि गुणों से युक्त होने के कारण सगुण है, जो समस्त जगत् को धारण कर रहा है, उस ब्रह्मस्वरूप परमात्मा को मैं बारबार प्रणाम करता हूं।

जगद्गुरो नमस्तुभ्यं शिवाय शिवदाय च।
योगीन्द्राणाञ्च योगीन्द्र गुरूणां गुरवे नमः।२।

(अर्थ) हे समस्त चराचर जगत् के गुरु (पूज्य) हे मङ्गलमय! हे सब को मोक्ष कल्याण रूप के देने हारे! हे परम उत्कृष्ट योगियों के परमशिरोमणि योगी! हे गुरुओं के गुरु आपको मैं बारम्बार विनयपूर्वक भक्ति प्रेम और श्रद्धा से अभिवादन करता हूं।

ध्यायन्ति योगिनो योगात् सिद्धाःसिद्धेश्वरं च यम्।
ध्यायामि सततं शुद्धं भगवन्तं सनातनम् ॥ ३ ॥

(अर्थ) जिस शुद्धस्वरूपः सकलैश्वर्यसम्पन्न सनातन और सब सिद्धों के स्वामी स्वयं सिद्ध परमेश्वर का योग-सिद्ध योगीजन समाधियोग द्वारा ध्यान करते हैं उसी परमा-त्मा का मैं भी निरन्तर वन्दनापूर्वक ध्यान करता हूं।

विमलं सुखदं सततं सुहितं, जगति प्रततं तदुवेदगतं मनसि प्रकटं यदि यस्य सुखी, सनेएशास्ति सदेश्वर-भागविदः ॥ ४ ॥

(अर्थ) जो पूर्णकाम तृप्त ब्रह्म, विमल, सुखकारक, सर्वदा सब का हितकारक, और जगत में व्याप्त है, सब वेदों के मान्य

है जिस के मन में इस ब्रह्म की प्रकटता (यथार्थ विज्ञान) है। वही मनुष्य ईश्वर के आनन्द का भागी है और वही सबसे सदैव अधिक सुखी है ऐसे मनुष्य को धन्य है ऐसे ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञानी आप्त विद्वानों को भी मेरी ओर से वन्दना प्राप्त हो।

विशेषभागीह वृणोति योहितम्,
नरःपरात्मानमतीवमानतः ।
अशेष दुःखात्तु विमुच्य विद्यया
स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः ॥४॥

(अर्थ) जो धर्मात्मा नर इस संसार में अत्यन्त प्रेम, विद्या सत्संग, सुविचारता, निर्वैरता, जितेन्द्रियता, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार (आश्रय) करता है, वही जन अतीव भाग्यशाली है क्योंकि वह मनुष्य यथार्थ सत्य विद्या से सम्पूर्ण दुःख से छूट के परमानन्द नाम परमात्मा का नित्य संगरूप जो मोक्ष है उसको प्राप्त होता है। अर्थात् फिर कभी जन्म मरणादि दुःखसागर को नहीं प्राप्त होता। परन्तु जो विषयलम्पट, विचाररहित, विद्या धर्म जितेन्द्रियता सत्संग रहित, छल कपट अभिमान दुराग्रहादि दुष्टता युक्त है इस मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह ईश्वरभक्ति से विमुख है इस लिये जन्म मरण ज्वर आदि पीड़ाओं से पीड़ित होके सदा दुःखसागर में ही पड़ा रहता है। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध कभी न होवें किन्तु ईश्वर तथा उसकी आज्ञा में तत्पर होके इस लोक (संसार व्यवहार) और परलोक (जो पूर्वोक्त मोक्ष) इनकी सिद्धि यथावत् करें यही सब मनुष्यों की कृत-कृत्यता है।

ऐसे दृढ़ भगवद्भक्त भाग्यशाली और कृतकृत्य पुरुषों को भी मेरी ओर से वन्दना प्राप्त हो। (चा० वि०)

प्रार्थना ।

ओ३म्-ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुःप्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्र प्रपद्ये । वागोजः सहौजो मयि प्राणा-पानौ ॥ यजु० अ० ३६ मं० १ ॥

(अर्थ) हे (मनुष्याः) हे"मनुष्यो (यथा; मयि) (प्राणापानौ) जैसे " मेरे आत्मा में प्राण और अपान ऊपर नीचे के प्राण (उन्हीं सबे ताम्) दृढ़ हों"

(मम) मेरी (वाक्) वाणी+('ओजः) मानसबल को (प्रा-प्नुयात्) प्राप्त हो (ताभ्याम् च) उस वाणी और उन श्वासों के (सह) साथ (अहम्) मैं(ओजः) शरीर बल को(प्राप्नुयाम्) प्राप्त होऊँ ।

(ऋचम्) ऋग्वेदरूप (वाचम्) वाणी को (प्रपद्ये) प्राप्त होऊँ (मनः) मनन करने वाले (यजुः) अन्तःकरण के तुल्य यजुर्वेद को (प्रपद्ये) प्राप्त होऊँ ।

(प्राणम्) प्राण की क्रिया, अर्थात् योगाभ्यासादिक उपासना के साधक, (साम) सामवेद को, (प्रपद्ये) प्राप्त होऊँ ।

(चक्षुः) उत्तम नेत्र, (श्रोत्रम्) और श्रेष्ठ कान को, (प्रपद्ये) प्राप्त होऊं, (तथा) वैसे, (यूयम्) तुम लोग (एतानि) इन सबको, (प्राप्नुत) प्राप्त होओ"

(भावार्थ) हे विद्वानो ! तुम लोगों के संग से मेरी ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसनीय वाणी, यजुर्वेद के समान मन, साम वेद के सदृश प्राण, और उत्तम नेत्रों से युक्त किये शरीर सुस्थ सब उपद्रवों से रहित और समर्थ होवे ।

ओम्—यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाति तृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु । शन्नो भवतु भुवनस्य तस्पतिः ॥ यजु० अ० ३६—मं० २

(अर्थ) (यत्) जो (ये) मेरे (चक्षुषः) नेत्र की 'वा' (हृदयस्य) अन्तःकरण की (छिद्रम्) न्यूनता "वा" (मनसः) मन की (अति तृणम्) व्याकुलता है "वा" (तत्) वह, (बृहस्पतिः) बड़े आकाशादि का पालक परमेश्वर, (मे) मेरे लिये (दधातु) पुष्ट वा पूर्ण करे, (यः) जो (भुवनस्य) सब संसार का (पतिः) रक्षक (अस्ति) है (सः) वह (नः) हमारे लिये, (शम्) कल्याणकारी, (भवतु) होवे ।

(भावार्थ) सब मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर की उपासना और आज्ञा पालन से अहिंसा धर्म को स्वीकार कर जितेन्द्रियता को सिद्ध करें ।

मानस शिव संकल्प ।

अथ मनसोवशीकरण विषयमाह

आगे छः मन्त्रों में मन की शान्ति और एकाग्रता निमित्त प्रार्थना करते हैं—

ओम्—यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति । दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

यजु० अ० ३४० मं० १ ॥

(अर्थ) (हे जगदीश्वर वा विद्वान् भवदनुग्रहेण) हे जगदीश्वर वा विद्वन् ! आप की कृपा से—

(यत्) जो (दैवम) आत्मा में रहने वा जीवात्मा का साधन (दूरङ्गमम्) दूर जाने, मनुष्य को दूर तक लेजाने वा

अनेक पदार्थों का ग्रहण करने वाला। (ज्योतिषाम्) शब्दादि विषय प्रकाशक श्रोत्र आदि इन्द्रियों को (ज्योतिः) प्रकाश करने वा प्रवृत्त करने हारा "और"

(एकम्) एक (असहाय) है (जाग्रतः) "तथा" जाग्रत् अवस्था में (दूरम्) दूर २ (उत्+एति) उदेति भागता है।

(उ) और (तत्) जो (सुप्तस्य) सोते हुवे का (तथा) (एव) उसी प्रकार (अन्तः) भीतर अन्तःकरण में (एति) आता है। (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) संकल्पविकल्पात्मक मन (शिवसंकल्पम्) कल्याणकारी धर्मविषयक इच्छा वाला (अस्तु) हो।

भावार्थ-जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का सेवन और विद्वानों का संग करके अनेकविध सामर्थ्य युक्त मन को शुद्ध करते हैं। जो जाग्रत अवस्था में विस्तृत व्यवहार वाला है, वही मन सुषुप्ति अवस्थामें शान्त होता है। जो वेग वाले पदार्थों में अति वेगवान् ज्ञान का साधन होने से इन्द्रियों के प्रवर्त्तक मन को वश में करते हैं, वे अशुभ व्यवहार को छोड़ शुभ व्यवहार में मनको प्रवृत्त कर सकते हैं।

ओम्-येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः। यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ य० अ० ३४ मं० २।

(अर्थ) (हे परमेश्वर वा विद्वन् भगवत्संगेन) हे परमेश्वर वा विद्वन् आप के संग से (येन) जिस (मनसा) मन से (अपस) सदाकर्म धर्म निष्ठ (मनीषिणः) मन को दमन करने वाले (धीराः) और ध्यान करने वाले बुद्धिमान् लोग (यज्ञे) अग्निहोत्रादि वा धर्मयुक्त व्यवहार वा योगयज्ञ में

(विदथेषु च) और युद्धादि व्यवहारों में कर्माणि+कृण्वन्ति =अत्यन्त इष्ट कर्मों को+करते हैं।

(यत्) जो (अपूर्वम्) सर्वोत्तम गुण कर्म स्वभाव वाला है (प्रजानाम्) और प्राणिमात्र के (अन्तः) हृदय में (यक्षम् वर्त्तते) पूजनीय वा संगत एकीभूत होरहा है।

(तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मनन विचार करना रूप मन (शिवसंकल्पम्) धर्मिष्ठ (अस्तु) होवे।

[भावार्थ] मनुष्यों को चाहिए कि परमेश्वर को उपासना, सुन्दर विचार, विद्या और सत्संग से अपने अन्तःकरण को अधर्माचरण से निवृत्त कर धर्म के आचरण में प्रवृत्त करें।

ओम्—यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्त रमृतं प्रजासु। यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। य० अ० ३४ मं० ३

[अर्थ] [हे जगदीश्वर !] हे जगदीश्वर [परमयोगिन्] वा परमयोगिन् [विद्वन्] विद्वन् ! [भवज्ज्ञापनेन] आप के जताने से। [यत्] जो [प्रजासु] मनुष्यों के [अन्तः] अन्तःकरण में आत्मा का साथी होने से [अमृतम्] नाशरहित [ज्योतिः] प्रकाश रूप मय और—[यस्मात्] जिसके [ऋते] विना [किञ्चन] कोई भी [कर्म] काम [न] नहीं [क्रियते] किया जाता। [तत्] वह [मे] मुझ ज्ञानवान् का [मनः] सब कर्मों का साधन रूप मन (शिवसंकल्पम्) कल्याणकारी परमात्मा में इच्छा रखने वाला [अस्तु] हो।

[भावार्थ] हे मनुष्यो ! जो अन्तःकरण बुद्धि, चित्त और अहंकाररूप वृत्ति वाला होने से चार प्रकार से भीतर प्रकाश करने वाला, प्राणियों के सब कर्मों का साधक, अविनाशी मन

है उसको न्याय और सत्य आचरण में प्रवृत्त कर पक्षपात, अन्याय, और अधर्माचरण से तुम लोग निवृत्त करो।

ओम्-येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्। येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु। य० अ० ३४ मं० ४

[अर्थ] [हे मनुष्योः] हेमनुष्यो [येन] जिस [अमृतेन] नाशरहित परमात्मा के साथ युक्त होने वाले [मनसा] मन से [भूतं] व्यतीत हुआ [भुवम] वर्त्तमान कालसम्बन्धी [भविष्यत्] और होने वाला [सर्वम्] सब [इदं] यह त्रिकालस्थ वस्तुमात्र (परिगृहीतम्) सब ओर से गृहीत [भवति] होता है अर्थात् जाना जाता है।

[येन] जिससे [सप्तहोता] सात मनुष्य होता, वा पांच प्राण, छठा जीवात्मा और अव्यक्त सातवां, ये सात लेने देने वाले जिसमें वह [यज्ञः] अग्निष्टोमादि वा विज्ञानरूप व्यवहार [तायते] विस्तृत किया जाता है। [तत्] वह [मे] मे मेरा [मनः] योगयुक्त चित्त [शिव संकल्पम्] मोक्षरूप संकल्प वाला [अस्तु होवे।

[भावार्थ] हे मनुष्यो! जो चित्त योगाभ्यास के साधन और उपसाधनों से सिद्ध हुआ भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों काल का ज्ञाता, सब सृष्टि का जानने वाला, कर्म उपासना और ज्ञानका साधक है उसका सदाही कल्याणमें प्रवृत्त करो।

ओम्-तस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिंश्चित्त सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु य० अ० ३४ मं० ५

[अर्थ] [यस्मिन् रथनाभौ इव अराः] जिस मनमें जैसे रथ के पहिये के बीच के काष्ठ में अरा लगे होते हैं, वैसे

[ऋचः] ऋग्वेद [यजूꣳषि] यजुर्वेद [साम] सामवेद [प्रतिष्ठिता] सब ओर से स्थित और [यस्मिन्] जिस में [अथर्वाणः प्रतिष्ठिताः भवन्ति] अथर्व वेद स्थित हैं।

[यस्मिन्] जिसमें [प्रजानां] प्राणियों का [सर्वं] समग्र [चित्तम्] सर्व पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान [ओतम्] सूत में मणियों के समान संयुक्त [अस्ति] है।

[तत्] वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पम्) कल्याणकारी वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रचाररूप संकल्प वाला (अस्तु) हो।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम लोगों को चाहिये कि जिस मन के स्वस्थ रहने में ही वेदादि विद्याओं का आधार और जिस में सब व्यवहारों का ज्ञान एकत्र होता है, उस अन्तः करण को विद्या और धर्म के आचरण से पवित्र करो।

ओं—सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव । हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ य० अ० ३४ मं० ६ ॥

अर्थ—(यत्) जो मनः जैसे सुन्दर चतुर सारथि नाम गाड़ीवान् (अश्वानिव) लगाम से घोड़ों को सब ओर से चलाता है वैसे (मनुष्यान्) मनुष्यादि प्राणियों को (नेनीयते) शीघ्र२ इधर उधर घुमाता है और।

[अभीशुभिः] जैसे रस्सियों से (वाजिन इव) वेगवाले घोड़ों को (नियच्छति च बलात्] सारथि वश में करता है, वैसे सारथिः) अश्वान् इव प्राणिनः नयति । प्राणियों को नियम में रखता है।

[यत्] जो [हृत्प्रतिष्ठितम्] हृदय में स्थित [अजिरम्] विषयादि में प्रेरक वा वृद्धादि अवस्था रहित और [जविष्ठम्] अत्यन्त वेगवान् [अस्ति] है।

[तत्] वह [मे] मेरा [मनः] मन [शिवसंकल्पम्] मंगल मय नियम में इष्ट [अस्तु होवे ॥

भावार्थः—जो मनुष्य जिस पदार्थ में आसक्त है, वही बल से सारथि घोड़ों को जैसे, प्राणियों को ले जाता है और लगाम से सारथि घोड़ों को जैसे, वैसे वश में रखता है, सब मूर्ख जन जिस के अनुकूल वर्त्तते और विद्वान् अपने वश में करते हैं, जो शुद्ध हुआ सुखकारी और अशुद्ध हुआ दुःखदायी है जो जीता गया सिद्धि को और न जीत लिया गया असिद्धि को देता है वह मन मनुष्यों को अपने वश में रखना चाहिये।

अथ उपासनायोगे समाधियोगः ॥

(६) धारणा

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा यो० पा० ३ सू० १

[अर्थ] चित्त के नाभि आदि स्थानों में स्थिर करने को धारणा कहते हैं [यह ध्यानयोग का छठा अङ्ग है]

अर्थात् धारणा उस को कहते हैं मन को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभके अग्रभाग आदि देशों में स्थिर कर के ओंकार का जप और उस का अर्थ जो परमेश्वर है। उस का विचार करना।

जब उपासना योग के पूर्वोक्त पांचों अंग सिद्ध हो जावे हैं तब उस का छठा अङ्ग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है। [भू० पृ० १७७ १७८]

धारणा विषयक वेदोक्त प्रमाण नीचे लिखे जाते हैं।

[देखो भूमिका पृ० १५८ १६०]

ओं सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नया। य० अ० १२ म० ६७॥

अर्थ—जो विद्वान् योगी और ध्यान करने वाले लोग हैं वे यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं। जो योगकर्मों में तत्पर रहते हैं, अपने ज्ञान और आनन्द को विस्तृत करते हैं, वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होते और परमानन्द को प्राप्त होते हैं।

ओं-युनक्त सीरा वियुगा तनध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्। गिरा च श्रुष्टिः स भरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्॥ य० अ० १२ म० ६८

[अर्थ] हे उपासक लोगो! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाड़ियों में ध्यान कर के परमानन्द का विस्तार करो। इस प्रकार करने से योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्द स्वरूप परमेश्वर में स्थिर कर के उस में उपासना विधान से विज्ञानरूप बीज को बोओ, तथा पूर्वोक्त प्रकार से वेद वाणी कर के परमात्मा में युक्त हो कर उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्त करो तथा तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासना योग के फलको प्राप्त होवें और हमको ईश्वर के अनुग्रह से वह फल शीघ्र ही प्राप्त हो कैसा वह फल है कि जो परिपक्व शुद्ध परम आनंद से भरा हुआ और मोक्ष सुख को प्राप्त करने वाला है अर्थात् वह उपासना योग वृत्ति कैसी है कि सब क्लेशों के नाश करने वाली और शान्ति आदि गुणों से पूर्ण हैं। उन उपासना

योग वृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो।

धारणाविषयक वेदोक्त प्रमाण।

आगे वेदोपदिष्ट धारणा और संयम करने के स्थानों का विवरण ईश्वर की शिक्षानुकूल वेदमन्त्रों द्वारा करते हैं।

ओं—शादं दद्भिरवकां दन्तमूलैर्मृदं वर्स्वैस्तेगान्दंष्ट्राभ्यांसरस्वत्याऽअग्रजिह्वं जिह्वाया उत्सादमवक्रन्देन तालु वाजँ हनुभ्यामप आस्येन वृषणमाण्डाभ्याम्। आदित्यान् श्मश्रुभिः पन्थानं भ्रूभ्यां द्यावापृथिवी वर्त्तोभ्यां विद्युतं कनीनकाभ्यांशुक्लाय स्वाहा कृष्णाय स्वाहा पार्याणि पक्ष्माण्यवार्याऽइक्षवोऽवार्याणि पार्या इक्षवः

य० अ० २५ मं० १

पदार्थः—[हे जिज्ञासो विद्यार्थिन ! [हे अच्छे ज्ञान की चाहना करते हुए विद्यार्थी जन !

[ते] तेरे [दद्भिः] दांतों से [शादम्] जिस में छेदन करता है, उस व्यवहार को

[दन्तमूलैः] दांतों की जड़ों [वर्स्वैः] और दांतों की पछाड़ियों से [अवकाम्] रक्षा करने वाली [मृदम् मट्टी को [दंष्ट्राभ्यां] डाढ़ों से [सरस्वत्यै] विशेष ज्ञान वाली वाणी के लिये [गाम्] वाणी को

[जिह्वायाः] जीभ से [अग्रजिह्वम्] जीभ के अगले भाग को [अवक्रन्देन] विकलता रहित [उत्सादम्] व्यवहार से जिस में ऊपर को स्थिर होती है, [तालु] उस तालु का [हनुभ्याम्] ठाड़ी के पास के भाग से [वान्नम्] अन्न

को [आस्येन] जिस से भोजन आदि पदार्थ को गीला करते हैं, उस मुख से [अपः] जलों को [अण्डाभ्यां, वृषणम्] वीर्य को अच्छे प्रकार धारण करने हारे अण्डकोष से वीर्य वर्षाने वाले अङ्ग को [श्मश्रुभिः आदित्यान्] मुख के चारों ओर जो केश अर्थात् डाढ़ी, उस से मुख्य विद्वानों को [भ्रूभ्याम्, पन्थानम्] नेत्र गोलकों के ऊपर जो भौं हैं उनसे मार्ग को [वर्त्तोभ्यां, द्यावापृथिवी] जाने आने से सूर्य और भूमि तथा [कनीनकाभ्यां, विद्युतम् अहं बोधयामि] तेज से भरे हुए काले नेत्रों के तारों के सदृश गोलों से बिजुली को मैं समझता हूं [शुक्राय, स्वाहा] वीर्य के लिये ब्रह्मचर्य क्रिया से [कृष्णाय, स्वाहा] विद्या खींचने के लिये सुन्दर शीलयुक्त क्रिया से [पार्याणि, पक्ष्माणि] पूरे करने योग्य जो सब ओर से लेने चाहियें उन कामों व पलकों के ऊपर के विन्ने वा [अवार्याः, इक्षवः] नदी आदि के प्रथम ओर होने वाले गन्नों के पौंदे वा [अवार्याणि, पक्ष्माणि] नदी आदि के पहिले किनारे पर होने वाले पदार्थ सब ओर से जिन का ग्रहण करें वा लोम—और [पार्याः इक्षवः] पालना करने योग्य ऊख जो गुड़ आदि के निमित्त हैं, वे पदार्थ [त्वया, संग्राह्याः] तुझ को अच्छे प्रकार ग्रहण करने चाहियें ॥

भावार्थः—अध्यापक लोग अपने शिष्यों के अंगों को उपदेश से अच्छे प्रकार पुष्ट कर तथा आहार वा विहार का अच्छा बोध, समस्त विद्याओं की प्राप्ति, अखण्डित ब्रह्मचर्य का सेवन और ऐश्वर्य की प्राप्ति कराके सुखयुक्त करें ॥

इस मन्त्र में शरीर के अनेक अङ्गों में धारणा कर २ के संयम करने तथा वीर्य का आकर्षण और रक्षा करके ऊर्ध्वरेता होने तथा गर्भाधान के समय वीर्य को यथाविधि प्रक्षेप करने का उपदेश परमात्मा ने किया है ॥

(आण्डाभ्यां, वृषणम्) इस वाक्य से गर्भाधान क्रिया का (जो गर्भस्थापक प्राणायाम द्वारा की जाती है) तथा (शुक्रायस्वाहा) इस वाक्य से ब्रह्मचर्य क्रिया द्वारा वीर्य का आकर्षण करने का (जो वीर्यस्तम्भक प्राणायाम द्वारा की जाती है) परमात्मा ने उपदेश किया है (कृष्णायस्वाहा) इस से वीर्य खींचने की क्रिया अर्थात् विद्या भी समझना चाहिये ॥

ओं—वातं प्राणेनाऽपानेन नासिकेऽउपयाममधरेणौष्ठेन सदुत्तरेण प्रकाशेनान्तरमनूकाशेन वाह्यं निवेष्यं मूर्ध्ना स्तनयित्नुं निर्बाधेनाशनिम्मस्तिष्केण विद्युतं कनीनकाभ्यां कर्णाभ्याᳬ श्रोत्रं श्रोत्राभ्यां कर्णौ तेदनीमधरकण्ठेनापः शुष्ककण्ठेन चित्त मन्या भिरदितिं शीर्ष्णा निर्ऋतिं निर्जल्पेन शीर्ष्णासंक्रोशैःप्राणान् रेष्माणᳬस्तुपेन॥२॥

य० अ० २५ मं० २

पदार्थः—(हे जिज्ञासो विद्यार्थिन् मदुपदेशग्रहणेन त्वम्) हे जानने की इच्छा करने वाले विद्यार्थी ! मेरे उपदेश के ग्रहण से तू (प्राणेन, अपानेन, वातम, नासिके, उपयामम्) प्राण और अपान से पवन और नासिका छिद्रों और प्राप्त हुये नियम को अर्थात् यम नियमादि योगाङ्गों को (अधरेण,ओष्ठेन, उत्तरेण, प्रकाशेन. सदन्तरम्) नीचे के ओष्ठ से और ऊपरके प्रकाशरूप ओष्ठ से बीच में विद्यमान मुख आदि स्थान को (अनूकाशेन, वाह्यम्) पीछे से प्रकाश होने वाले अङ्ग से, बाहर हुये अंग को (मूर्ध्ना, निवेष्यम्) शिर से जो निश्चय से व्याप्त होने योग्य उसको (निर्बाधेन, स्तनयित्नुम् ,अशनिम्) निरन्तर ताड़ना के हेतु के साथ शब्द करने हारी बिजुली को (मस्तिष्केण, विद्युतम्) शिर की चरबी और नसों से,

प्रति प्रकाशमान बिजली को (कनीनकाभ्याम् , कर्णाभ्याम् , कर्णौ) दिपते हुये शब्द को सुनवाने हारे पवनों से जिन से श्रवण करता है उन कानों को और (श्रोत्राभ्याम् , श्रोत्रम् , वेदनीम्) जिन गोल २ छेदों से सुनता हूं उनसे श्रवणेन्द्रिय और श्रवण करने की क्रिया को (अधरकण्ठेन; अपः) कंठ के नीचे के भाग से जलों को (शुष्ककण्ठेन, चित्तम्) सूखते हुये कण्ठ से, विशेष ज्ञान सिद्ध कराने हारे अन्तःकरण के वर्ताव (चित्त की वृत्ति) को (मन्याभः, अदितिम्) विशेष ज्ञान की क्रियाओं से न विनाश को प्राप्त होने वाली उत्तम बुद्धि को (शीर्ष्णा, निर्ऋतिम) शिर से भूमि को (निर्जजल्पेन, शीर्ष्णा, संक्रोशैः, प्राणान् , प्रामुहि) निरन्तर जीर्ण सब प्रकार परिपक्व हुए शिर और अच्छे प्रकार (आह वान) बुलवाओं से प्राणों को प्राप्त हो तथा (स्तुपेन, रेष्माणम्. हिन्धि) हिंसा से हिंसक अविद्या आदि रोग का नाश कर ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिये कि पहिली अवस्था में समस्त शरीर आदि साधनों से शारीरिक और आत्मिक बल को अच्छे प्रकार सिद्ध करें और अविद्या दुष्ट शिखावट [शिक्षा] निन्दित स्वभाव आदि रोगों का सब प्रकार हनन करें ॥

ओं विधृतिं नाभ्या घृतꣳरसेनापोयूष्णा मारीच-विंप्रुड्भिर्नीहारमूष्मणा शीनं वसया प्रुष्वाअश्रुभिर्ह्रादुनी-र्दूषीकभिरस्ना रक्षाꣳसि चित्राण्यङ्गैर्नक्षत्राणि रूपेण पृथिवीं त्वचा जुम्बकाय स्वाहा । य० अ० २५ मं० ६

अर्थः – [हे मनुष्यो यूयम्] हे मनुष्यो ! तुम लोग (नाभ्या, विधृतिं, घृतम्) नाभि से विशेष कर के धारणा को घी का (रसेन, आपः) रस से जलों को यूष्णा, मरीचिः)

क्वाथ किये रस से किरणों को (विप्रुड्भिः, नीहारम्) विशेषतर पूर्ण पदार्थों से कुहर को ऊष्मणा, शीनम्) गर्मी से जमे हुवे घी का (वसया, पुष्वाः) निवासहेतु जीवन से उन क्रियाओं को कि जिन से सींचते हैं (अश्रुभिः, ह्रादुनीः) आसुओं से शब्दों को अप्रकट उच्चारण क्रियाओं को (दूषाकाभिः, चित्राणि, रक्षाँसि, अस्ना) विकाररूप क्रियाओं से नित्र विचित्र, पालन करने योग्य, रुधिरादि पदार्थों को (अंगैः, रूपेण, नक्षत्राणि) अंगों और रूप से तारागणों का—और [त्वचा, पृथिवीम्, विदित्वा] मांस रुधिरादि को ढापने वाली खाल आदि से पृथिवी को जान कर (जुम्बकाय, स्वाहा, प्रयुङ्ध्वम्) अति वेगवान् के लिये सत्य वाणी का प्रयोग करो अर्थात् उच्चारण करो ।

भावार्थः—मनुष्यों को धारणा आदि क्रियाओं से खोटे आचरण और रोगों की निवृत्ति और सत्यभाषण आदि धर्म के लक्षणों का विचार करना चाहिये ॥

यजुर्वेद के (२५) पच्चीसवे अध्याय के आरम्भ से नवें मन्त्र तक परमेश्वर ने उपदेश किया है कि धारणारूप योगाभ्यास की क्रिया द्वारा शरीरस्थ और सन्सारस्थ पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके अन्य जिज्ञासुओं को सिखलाना, अपने अङ्गों की रक्षा करके परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना पूर्वक आत्मा और परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त करना चाहिये यहां उदाहरण मात्र तीन अर्थात् प्रथम, द्वितीय और नवम मन्त्र लिख कर उसी विषय को दर्शा दिया है ।

हृदय, कण्ठकूप, जिह्वाग्र, जिह्वामूल जिह्वामध्य नासिकाग्र, त्रिकुटी (भ्रूमध्य) ब्रह्माण्ड (मूर्धा), दोनों नेत्र, दोनों कान, दोनों अर्थात् ऊपर नीचे के दांतों के बीच में जहां जीभ लगा कर तकार का उच्चारण होता है वह स्थान, रीढ़

का मध्य (पीठ का हाड़) नाभिचक्र हृदय, तालु, थोड़ी मुख हाड़, और दांतको अगाड़ी पिछाड़ी आदि अन्य अनेक स्थानों में धारणा की जाती है और इन ही स्थानों में संयम भी किया जाता है, और यही सब स्थान पूर्वोक्त वेद मन्त्रोंमें भी गिनाये गये है ॥

सुषुम्ना आदि नाड़ियों में धारणा करने के थोड़े से वेदोक्त प्रमाण आगे और भी लिखे जाते हैं ॥

प्रथम प्राणायामकी धारणा सुषुम्ना नाड़ी में ।

ओं—इन्द्रस्य रूपमृषभो बलाय कर्णाभ्या ँ श्रोत्रममृतं ग्रहाभ्याम् । यवा न बर्हिर्भ्रुवि केसराणि कर्कन्धुजज्ञे मधु सारघं मुखात् । यजु० अ० १६ मं० ॥ ६१ ॥

अर्थ—(यथा) जैसे (ग्रहाभ्याम्) जिनसे ग्रहण करते हैं (सह) उन व्यवहारों के साथ । (ऋषभः) ज्ञानी पुरुष (बला) योग समर्थके लिये (यवाः) यवों के (न) समान । (कर्णाभ्याम्) कानों से (श्रोत्रम्) शब्द विषय को (अमृतम्) निरोग जल को (कर्कन्धु) और जिस से कर्म को धारण करे उस के (सारघम्) एक प्रकार के स्वाद से युक्त (मधु) सहत (बर्हिः) वृद्धि कारक व्यवहार और (भ्रुवि) नेत्र और ललाट के बीच में (केसराणि) विज्ञानों अर्थात् सुषुम्नामें प्राण वायुका निरोध कर ईश्वर विषयक विशेष ज्ञानों को (मुखात्) मुख से (जनयति) उत्पन्न करता है ।

(तथा) वैसे (एतत्) यह (सर्व) सब (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य का [रूपं] स्वरूप [जज्ञे] उत्पन्न होता है ॥

[भावार्थ] जैसे निवृत्ति मार्ग में परम योगी योग बल से सब सिद्धियों को प्राप्त होता है वैसे ही अन्य गृहस्थ लोगों को भी प्रवृत्ति मार्ग में सब ऐश्वर्य को प्राप्त होना चाहिये ॥

ओं—इमम्मे गंगे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्त यार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ३ । व० ७ । मं० १० । अ० ६ । सू० ७५ (भू० पृ० २६६

[अर्थ] हे विद्वन्!=हे विद्वन् योगी!

[गङ्गे] गंगा [यमुने] यमुना [सरस्वति] शुतुद्रि] (परुष्णि) परुष्णि [आर्जीकीये] आर्जीकया [प्रभृतयः जाठराग्नेः नाड्यः] आदि जठराग्नि की नाड़ियां [असिक्न्या] असिक्नी [वितस्ता] और [सुषोमया] सुषोमा के [च सह] साथ।

[मरुत्] हमारे शरीरस्थ प्राणादि वायुओं का [आ—वृधे वृद्धि] आसमन्नाद्वृद्धये=विवर्धनाय] उन्नति के लिये [इमम्] मेरी [मे] इस [स्तामम्] स्तुतिमय उपासना को [आसचत] सब ओर से अच्छे प्रकार प्राप्त करतो हैं।

[इति] इस बात को [त्वम्] अच्छे प्रकार ध्यान [आ] लगा कर [शृणुहि] श्रवण कर अर्थात् [विजानीहि वा] विशेष कर के जान।

"इमम्मे गंगे यमुने सरस्वती" इस मन्त्र में गंगा आदि इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, कूर्म और जठराग्नि की नाड़ियों के नाम हैं। उन में योगाभ्यास [धारणा] से परमेश्वर की उपासना करने से मनुष्य लोग सब दुःखों से तर जाते हैं क्यों कि उपासना नाड़ियों ही के द्वारा धारण करनी होती है।

"सित इड़ा और असित पिंगला, ये दोनों जहां मिली हैं। उस को सुषुम्ना कहते हैं। उस में योगाभ्यास से स्नान कर के जीव शुद्ध हो जाते हैं, फिर शुद्ध रूप परमेश्वर को प्राप्त हो के सदा आनन्द में रहते हैं। इसमें निरुक्तकार का भी प्रमाण है कि सित और असित शब्द, शुक्ल और कृष्ण अर्थ के साक्षी हैं।

इडा, पिंगला और सुषुम्ना, इन तीनों के अन्य नाम भी नीचे लिखे प्रमाण जानो! दक्षिण नासिका छिद्र में स्वर इडा नाड़ीसे चलता है और वाम में पिंगला से। त्रिकुटी [भ्रूमध्य] में इडा, पिंगला दोनों मिलती हैं वही सुषुम्ना का स्थान जानो, उस ही को त्रिवेणी भी कहते हैं इस ही स्थान में एक छिद्र है, जिस को ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं, जो जीवात्मा सुषुम्ना नाड़ी में हो कर ब्रह्मरन्ध्र द्वारा शरीर छोड़ता है, वह मुक्ति [मोक्ष को प्राप्त होता है अन्य इन्द्रिय छिद्रों से निकलने वाला जीवात्मा यथाक्रम अधो गति को प्राप्त होता है। जो योगीजन कूर्मनाड़ी में संयम करके निद्रा के आदि और अन्त को पहिचान लेता है वही योगी समाधि द्वारा कूर्मा में अपने मन सहित सब इन्द्रियों से संयम कर के ब्रह्मरन्ध्र द्वारा शरीर छोड़ कर परमात्मा के आधार में मोक्ष पद को प्राप्त होता है॥

पूर्वोक्त तीन नाड़ियों के ये नाम हैं!

दक्षिण नाड़ी वा इडा के नाम	वामनाड़ी वा पिंगलाके नाम	संगम् को मध्यनाड़ी सुषुम्नाके नाम
गंगा	यमुना	सरस्वती
शुक्ल	कृष्ण	त्रिवेणी
सित	असित	सुषुम्णा

सूर्य	चन्द्र	मूलनाड़ी
उष्ण	शीत	ब्रह्मरन्ध्र

इडा और पिंगला को उष्ण और शीत इस कारण कहते हैं कि उन में से प्रकाशमय दक्षिण ओर वाली सूर्य की नाड़ी गरम है। दूसरी अन्धकारमय बांई ओर वाली चन्द्रमा की नाड़ी ठण्डी है।

(७) ध्यान।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ यो० पा० ३ सू० २

[अर्थ] उन नाभि आदि देशों में जहां धारणा की जाती है वहां ध्येय के अवलम्ब के ज्ञान में चित्त का लय हो जाना, अर्थात् ध्येय के ज्ञान से अतिरिक्त अन्य पदार्थों के ज्ञान का अभाव हो जाने की दशा को ध्यान कहते हैं॥

अर्थात् धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उस के प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य इसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना, इसी का नाम ध्यान है।

(८) समाधि।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥
यो० पा० ३ सू० ३

(अर्थ) पूर्वोक्त ध्यान जब अर्थमात्र (संस्कारमात्र) रहजाय और स्वरूपशून्य सा प्रतीत हो, उसे समाधि कहते हैं।

अर्थात् जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके अपने शरीर को भी भूले हुवे के समान जान के आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं।

ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला जिस मन से जिस वस्तु का ध्यान करता है; ये तीनों विद्यमान रहते हैं, परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्द स्वरूप के ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है, वहां तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मार के थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होकर फिर बाहर को आ जाता है।

पूर्वोक्त सातों अङ्गों (१ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, ६ धारणा, और ७ ध्यान,) का फल समाधि है।

समाधि तीन प्रकार की होती है। अर्थात् प्रथम—

(१) सविकल्पसमाधि वा सम्प्रज्ञातसमाधि है, कि जिस में आकार के जपरूप क्रिया की विद्यमानता रहती है। अतएव सविकल्प कहाती है। यह समाधि बुद्धि के आधार में होती है। अर्थात् प्रणव का उपांशु (मानसिक) जाप मन ही मन में अर्थात् मननशक्ति रूप मन से किया जाता है, परन्तु मनसे परे सूक्ष्म पदार्थ बुद्धि है, जो मानसिक व्यापार को छोड़ कर जीवात्मा प्रज्ञा नाम बुद्धि के आधार में ध्यान करने से इस समाधि को प्राप्त करता है। अतएव यह "सम्प्रज्ञातसमाधि" वा "प्रज्ञासमाधि" कहाती है।

(२) दूसरी असम्प्रज्ञात समाधि = अर्थात् जब जीवात्मा बुद्धि से भी परे (सूक्ष्म) जो अपना स्वरूप है, उसमें स्थिर होता है, उसको " असम्प्रज्ञात समाधि " कहते हैं। क्योंकि इस समाधिमें जीवात्मा बुधिका उल्लंघन करके उसका आधार भी भी छोड़ देता है। इस समाधि पर्यन्त जीवात्मा को अपना यथार्थ ज्ञान भी प्राप्त होता है।

(३) तीसरी " निर्विकल्पसमाधि " कहाती है। इस समाधि में जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान होने पश्चात् जब परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होता है, तब वह (जीवात्मा) अपने स्वरूप को भी भूला हुआ सा जान कर परमात्मा के प्रकाशरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण हो जाने पर केवल परमेश्वर के आधार में साक्षात् परमात्मा के साथ योग(मेल) प्राप्त करता है, इस समाधि में आधार आधेय सम्बन्ध का भी ज्ञान नहीं रहता। यही सम्पूर्ण योग की फलसिद्धि है। और यही मोक्ष है। और परमात्मा का पूर्ण ज्ञान हो जाने से नास्तिकता भी नष्ट होजाती है, अर्थात् परमेश्वर के न होने में जो भ्रम होते हैं, सो परमात्मा का हस्तामलक ज्ञान प्राप्त होजाने पर सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं।

जो योगीजन कण्ठदेश में संयम करके कण्ठदेशस्थ व्यान वायु के साथ मन का संयोग नहीं होने देते वे ही निर्विकल्प-समाधियोग को प्राप्त हो सकते हैं। चेष्टामात्र व्यान वायु के साथ मन का संयोग होने से ही होती है। जब उक्त संयम के करने से संकल्प का मूल वा बीज ही नष्ट हो जाता है, तब कोई विकल्प भी नहीं रहता। उस ही अवस्था को निर्विकल्पसमाधि वा निर्बीजसमाधि कहते हैं, जिस के आनन्द का पारावार नहीं जैसा कि उपनिषद् में कहा है कि—

—❀—

समाधि का आनन्द ।

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो,
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा,
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

(अर्थ) जिस पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं, आत्मस्थ होकर परमात्मा में चित्त जिसने लगाया है, उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है । उपासना शब्द का अर्थ समीपस्थ होना है । अष्टाङ्ग योग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष करने के लिये जो जो क्रियायें करनी होती हैं, वह सब ध्यान में ही की जाती हैं, जिनका कि प्रकाश इस ग्रन्थ में जिज्ञासुओं के हितार्थ किया है ।

—※—

समाधिविषयक मिथ्या विश्वास ।
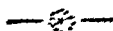
सम्प्रति जगत् में ऐसा विश्वास है कि योगी लोग ब्रह्माण्ड में प्राण चढ़ाकर सहस्रों वर्षों तक की समाधि अभ्यास करने से लगा सकते हैं । यह बात सर्वथा मिथ्या है । क्योंकि शरीर के जिन स्थानों में धारणा और ध्यान किया जाता है, उन्हीं देशों में समाधि भी की जाती है । जिह्वामध्य (घण्टिका) पीठ का हाड़ (रीढ़) कण्ठकूप, नाभि, हृत्पद्म इत्यादि । जिस प्रकार इन स्थानों में समाधि अधिक कालतक नहीं लगाई जा

सकती इसही प्रकार ब्रह्मांडमें भी जानो क्या क [illegible] कह सकता है
कि पीठ के हाड़, दाँत की जड़ आदि स्थानों में [illegible] काल की
समाधि लगाई जा सकती है जब इन स्थानों में अ[illegible] देर
नहीं ठहर सकती तो ब्रह्मांड में अधिकता ही क्या है जो [illegible] वहां
विशेष ठहरे प्रत्युत वहां तो प्राणद्वारा धारणा ध्यान समा[illegible]धि
करनी होती है, कि जहाँ प्राण अधिक नहीं ठहर सकता क्यों[illegible]
ब्रह्मांड में प्राण पहुंचते ही थोड़ी देर उपरान्त शीघ्र ही नासि-
का द्वारा निकल जाता है। महायोगी श्री १०८ स्वामी दया-
नन्द सरस्वती जी महाराज कृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में
स्पष्ट कहा है कि—"जैसे मनुष्य जल में डुबकी मार के थोड़ा
समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर
के बीच में मग्न हो कर फिर बाहर को आ जाता है" अर्थात्,
थोड़ी २ देर की समाधि लगती है। तत्वज्ञानी लोग अच्छे
प्रकार जान सकते हैं कि मनुष्य के श्वास प्रश्वास का संचार
थोड़ी देर भी बन्द रहे वा रुधिर की भ्रमणगति शरीर में रुक
जाय तो मनुष्य जीता नहीं रह सकता। ऐसा प्रत्यक्ष और
पुष्ट प्रमाण होने पर भी जो कोई विश्वास कर ले कि योगी
लोग समाधि लगाने पर पृथ्वी में गाड़ देने के पश्चात् वर्ष वा
दो वर्ष के उपरान्त समाधि में से जीते निकलें, ऐसे पुरुष को
बुद्धिमान कौन कह सकता है॥

समाधि का फल।

समाधि द्वारा परमेश्वर का साक्षात् हो जाने पर जब
प्रकृति, जीव और ईश, इन तीन पदार्थों का यथावत् पूर्णज्ञान
अर्थात् निश्चयात्मिक बुद्धि पूर्वक इन तीनों के भेद भाव का
निर्णय होकर यथार्थविवेक प्राप्त होताहै, तब अपने अन्तर्यामी

के प्रेम में मग्न होकर जीव मोक्ष को प्राप्त करता है। जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा भी है कि—

सत्यं ज्ञानमनन्तंब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमेव्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति ॥
तै० ब्र० व० अ० १ ॥

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्यज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप को जानता है, वह उस व्यापकरूप ब्रह्म में स्थित होके उस (विपश्चित्) अनन्त विद्यायुक्त ब्रह्म के साथ सब कामों को प्राप्त होता है। अर्थात् जिस २ आनन्द की कामना करता है उस २ आनन्द को प्राप्त होता है। यही मुक्ति है"

"मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छंद घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता सृष्टि विद्या को क्रम से देखताहुआ सब लोकान्तरों में अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं और जो नहीं दीखते उन सब में घूमता है। वह सब पदार्थों को जो कि उसके ज्ञान के आगेहैं सब को देखता है। जितना ज्ञान अधिक होताहै उसको उतना आनन्द अधिक होता है। मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्ण ज्ञानी होकर उस को सब संनहित पदार्थों का भान यथा वत् होता है॥

संयम

त्रयमेकत्र संयमः॥ यो० अ० ३ सू० ४

जिस देश में धारणा की जाती है उसी में ध्यान और उसी में समाधि भी की जाती है। अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों के एकत्र होने को संयम कहते हैं।

जो एकही काल में धारणा, ध्यान और समाधि, इनतीनों का मेल होताहै अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती हैं उन में बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है, परन्तु जब समाधि होती है तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है। अर्थात् ध्यान करने योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं ।

संयमश्चोपासनाया नवमाङ्गम् । यो० पा० सू० ४

(अर्थ) संयम उपासनायोग का नवमा अङ्ग है ।

संयम का फल

तज्जयात् प्रज्ञालोकाः ॥ यो० पा० ३ सू० ५

(अर्थ) उस संयम के जीतने से समाधिविषयणी बुद्धि-का प्रकाश होता है ॥

अर्थात् जैसे २ संयम स्थिर होता जाता है, वैसे २ बुद्धि अधिकतर निर्मल होती जाती है और परिणाम में जब उमा नाम की बुद्धि प्राप्त होती है, तब परमात्मा का हस्तामलक साक्षात्कार होता है ।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ यो० पा० ३ सू० ६

(अर्थ) उससंयम की स्थिरता योग की भूमियों मेंक्रमशः करनी चाहिये ।

अर्थात् जिन स्थानों में धारणा की जाती है उन को योग की भूमियाँ कहते हैं । उन भूमियों में संयम को दृढ़ और परिपक्व करना चाहिये । इस प्रकार धारणा, ध्यान, समाधि वा संयम को स्थिर करने का नाम भूमिजय है ।

विद्वान् उपदेशक को उचित है । कि धारणाविषय में कहे शरीर के देशों में से किसी एक स्थान में कि जहाँ जिस का

ध्यान ठहरे और सुगमता से बोध हो, अधिकारी जिज्ञासु को आरम्भ में स्पष्टतया विदित करादें। योग निपुण विद्वान उपदेशक ऐसा ही प्रत्यक्ष बोध विदित करा भी देते हैं। जब तक जिज्ञासु को किसी प्रकार का प्रत्यक्ष न हो, तब तक उपदेश झूंठा जानो, क्योंकि उस में श्रद्धा और विश्वास न होने के कारण जिज्ञासु की प्रवृत्ति नहीं होती और उपदेश निष्फल जाता है।

संयम किसी एक देश में परिपक्व हो जाने के पश्चात् नीचे की भूमि से लेकर ऊपर की योगभूमि तक करना उचित है॥

भगवान पतञ्जलिमुनि ने योगदर्शन में अनेक प्रकार के संयम तथा उनके अनेक भिन्न २ प्रकार के फल कहे हैं, उनमें से थोड़े यहां भी आगे कहे जाते हैं। यथा—

(१) नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्। यो०पा० ३ सू० २७

नाभि चक्र में चित्त की वृत्तियों को स्थिर करके संयम करने से नाड़ी आदि शरीरस्थ स्थूल पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

(२) कंठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः। यो० पा० ३ सू० २८

कंठकूप में स्थित इड़ा नाड़ी में संयम करने से भूख और प्यासकी निवृत्ति होती है, अर्थात् जब तक योगी कण्ठकूप में संयम करे, तब तक क्षुधापिपासा अधिक बाधा नहीं करतीं। इस बातका यह विश्वास मिथ्याभ्रममूलक है। तत्ववेत्ता और संयमी योगी जान सकते हैं कि कण्ठकूप में चन्द्रमा की नाड़ी (पिंगला) चलती है, इस कारण भूख प्यास की तीव्रता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि भूख प्यास लगाने वाली सूर्य की नाडी (इडा) उस समय बन्द रहती है।

[३] कूर्मनाड्याम् स्थैर्यम् । यो० पा० ३ सू० ३१

कूर्मनाड़ी में संयम करने से चित्त की स्थिरता होती है, और इसी प्रकार समाधि प्राप्त होती है कि जिस प्रकार पूर्वोक्त निद्राविषय वर्णित स्वप्नावस्था होती है

(४) मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् । यो० पा० ३ सू० ३२

(मूर्द्धा ज्योतिषि) अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् कपाल के त्रिकुटीस्थ (भ्रू मध्यस्थ) छिद्र में जो ज्ञानरूपी प्रकाश है, उस में संयम करने से परमसिद्ध जो परमात्मा है, उस का साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है। इस समय जीव को ऐसा भासता है कि मानो कोई योगीश्वर सिद्ध पुरुष वा निजगुरु कुछ उपदेश करता हो। जैसे ऋ० भा० भू० के पृष्ठ ४३ में कहे नचिकेता और यम का संवाद मानो अलंकार रूप से वर्णित जीव और ब्रह्म का संवाद है, अर्थात् परमात्मा ने जीवात्मा को उपदेश किया है। इसही प्रकार योगियों को अन्तर्यामी परमात्मा ज्ञान के प्रकाशद्वारा उपदेश किया करता है॥

मूर्द्धा में जो प्रकाश का कथन ऊपर आया है, इसको किसी प्रकार की चमक (रोशनी) कदापि न समझनी चाहिये। प्रत्युत, सब रोशनियों का भी जानने वाला जो ज्ञानरूपी प्रकाश है, वही सर्वत्र ऐसे स्थलों में अभिप्रेत होता है॥

(५) बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ यो० पा० ३ सू० २३

अपने शरीर के बल से संयम करने से हाथी के समान बल प्राप्त होता है, यही सूत्रकार का अभिप्राय है। क्योंकि अपने शरीर से बाहर कोई संयम नहीं कर सकता। और न कोई पुरुष हाथी के शरीर में से बल निकाल कर अपने शरीर में प्रविष्ट कर सकता है। बाहर के संयम का सर्वथा निषेध

है और अन्य के बल को अपने शरीर में धारण करना भी असम्भव है ॥

[६] हृदये चित्तसंवित् ॥ यो० पा० ३ सू० ३२

हृदय जो शरीर का एक अंग है वह दहर [तड़ाग] के समान स्थल है। तड़ाग में जैसे कमल होता है, उसही प्रकार हृदयदहर में नीचे की ओर मुखवाला [अधोमुख] कमल के आकर का स्थान है उस के भीतर कमलस्थानापन्न अन्तः-करणचतुष्टय है। उस में संयम करने से मन जीता जाता है और ज्ञान प्रकाश होता है ॥

अर्थात् उस हृदयदेश में जितना अवकाश है, वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भर रहा है, इसी लिये उस स्थान का कि जो कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर है, ब्रह्मपुर नाम परमेश्वर का नगर कहते हैं। उस के बीच में जो गर्त्त है, उस में कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उस के बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एक रस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उस के मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं ॥

संयम, इन्द्रियोंकी दिव्यशक्तियोंमें ॥

[७] ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शस्वादवार्त्ता जायन्ते ॥ यो० पा० ३ सू० ३४

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि कर्णेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, नेत्र, रसना, इत्यादि इन्द्रियों की दिव्यशक्तियों में संयम करने से प्रातिभ (बुद्धिवर्द्धक) दिव्यश्रवण, दिव्यस्पर्श, दिव्यदृष्टि, दिव्य रसज्ञान, दिव्यगन्धज्ञान, उत्पन्न होता है ॥

अर्थात् इन्द्रियगणरूप देवों के स्वरूप का भिन्न २ यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है । यथा—आकाश के परमाणुओं से श्रवणेन्द्रिय, वायु के परमाणुओं से स्पर्शेन्द्रिय, (सूर्य) के परमाणुओं से नेत्र, जल के परमाणुओं से रसना, पृथिवी के परमाणुओं से घ्राणेन्द्रिय, ईश्वर ने रचे हैं । उन का यथावस्थित सूक्ष्म, अपरोक्ष ज्ञान (बोध) होता है परन्तु बहुत अधिक दूर देश से कि जहाँ पर इन्द्रियों की पहुंच नहीं, शब्द सुनलेना पदार्थों को स्पर्श कर लेना, देख लेना, स्वाद जान लेना, गन्धज्ञान कर लेना, सर्वथा मिथ्या है । श्रवण, दर्शन तथा गन्धज्ञान उतनी दूरी से कि जहाँ तक इन्द्रियों की शक्ति की पहुंच है योगी अयोगी, साधारण विशेष सब जीवों को होता है, परन्तु इस प्रकार का ज्ञान अधिकतर दूरी से नहीं होता । यदि सम्भव हो तो योगी की त्वचा तथा रसना को भी अपने २ विषयों का ज्ञान होना चाहिये सो होता नहीं । इस लिये हज़ार पाँच सौ कोश के पदार्थों के देख लेने, सुन लेने, आदि की कथा, जो मिथ्याग्रन्थों में पाई जाती है, उन पर विश्वास न लाना चाहिये ॥

धनञ्जय में संयम

ओं—राये नु यं जज्ञतू रोदसी मे राये देवी धिषणा धाति देवम् । अध वायुं नियुतः सश्चत स्वा उत श्वेतं वसुधितिं निरेके ॥ यजु० अ० २७ मं० २४

अर्थ [हे] 'हे [मनुष्यः] मनुष्यो ! [इमे] ये [रोदसी] [द्यावापृथिव्यौ] आकाश भूमि [राये] धन के अर्थ [यं] जिस को [जज्ञतुः] उत्पन्न करें [देवी] उत्तम गुणवाली [धिषणा] बुद्धि के समान वर्त्तमान स्त्री [यं]

जिस [देवं] उत्तम पति को [राये] धन के [द्रु] शीघ्र [धाति] धारण करती है [अध] इस के लिये अनन्तर [निरेके] निश्शंक स्थान में [स्वः] अपने सम्बन्धी [नियुतः] निश्चय कर के मिलाने या पृथक् करने वाले जन [श्वेतम्] वृद्ध [उत] और वसुधिति] पृथिव्यादि वस्तुओं के धारण के हेतु [वायु] वायु को [सश्चत] प्राप्त होवे हैं [तं] उस को यूयं] तुम लोग [विजानीत] विशेष करके जानो अर्थात् उसे में संयम करके योगसिद्धि को प्राप्त करो"

[भावार्थ] हे मनुष्यो ! आप लोग बल आदि गुणों से युक्त, सब के धारण करने वाले वायु को जान के धन और बुद्धि को बढ़ाओ। जो एकान्त में स्थिर हो के इस प्राण के द्वारा अपने स्वरूप और परमात्मा को जानना चाहो तो इन दोनों आत्माओं [अर्थात्] जीवात्मा और [परमात्मा] का साक्षात्कार होता है ॥

सूत्रात्मा में संयम

ओं—आपोह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् । ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० अ० २७ मं० २५

(अर्थ) (बृहतीः) महत् परिमाण वाली (जनयन्तीः) पृथिव्यादि को प्रकट करने हारी (यत्) जिस (विश्वम्) सब में प्रवेश किये हुये (गर्भम्) सब के मूल प्रधान को (दधानाः) धारण करती हुई (आपः) व्यापक जलों की सूक्ष्ममात्रा (व्यापिकास्तन्मात्राः) [आयन्] प्राप्त हों

[ततः] उस से [अग्निम्] सूर्यादि रूप अग्नि को [देवानाम्] उत्तम पृथिव्यादि पदार्थों का सम्बन्धी [एकः]

एक = असहाय [असुः] प्राण समवर्त्तत [सम - अवर्चत] सम्यक्—प्रवृत्त करें

[तस्मै] उस [ह] ही [कस्मै] सुख के निमित्त [देवाय] उत्तम गुण युक्त ईश्वर के लिये [वयं] हम लोग [हविषा] धारण करने से [विधेम] सेवा करने वाले हों ॥

[भावार्थ] हे मनुष्यो ! जो स्थूल पञ्चतत्त्व दीख पड़ते हैं. उन को सूक्ष्म प्रकृति के कार्य पञ्चतन्मात्रा नामक से उत्पन्न हुये जानो जिन के बीच जो एक सूत्रात्मा वायु है. वह सब को धारण करता है। यह जानो । जो उस वायु के द्वारा योगाभ्यास से परमात्मा को जानना चाहो तो उस को साक्षात् जान सको ॥

वासनायाम की व्याख्या

मोक्षहेतुक उपासनायोग के सिद्ध करने के लिये ध्यान-योगद्वारा समाधियोग [नाम चित्त की एकाग्रता वा समाधान वा चित्तवृत्तिनिरोध] सिद्ध करना होता है । उस समाधियोग के तीन मुख्य उपाय हैं—(१) वृत्तियाम, (२) प्राणायाम और (३) वासनायाम वृत्तियाम के सिद्ध होने पर प्राणायाम सिद्ध होता है, तथा प्राणायाम के सिद्ध हो जाने से वासनायाम भी सिद्ध किया जा सकता है । इन में से आदि के दो यामों का वर्णन पूर्व हो चुका है । आगे वासनायाम की व्याख्या की जाती है ॥

दुष्ट वासनाओंका जो निरोध नाम रोकना, सो वासनायाम कहाता है ॥

वासना, कामना, राग, इच्छा और संकल्प, ये सब यहां पर्यायवाची शब्द हैं । अर्थात् साँसारिक सुख भोग की इच्छा

से सुख की सामिग्रियों के संचय करने के अर्थ जो तृष्णा होती है। वही वासना कहाती है। भेद यह है कि वासना की उत्पत्ति तो जीवात्मा की निजशक्ति से होती है, परन्तु संकल्प की उत्पत्ति मन से होती है अर्थात् जीवात्मा की निज कामना, इच्छा वा प्रेरणा वासना है और मन की प्रेरणा संकल्प है॥

अर्थात् वासनारूप जीव का आभ्यन्तर प्रयत्न जीव की निज शक्तिद्वारा जब उत्पन्न होता है, तब मन द्वारा संकल्प उत्पन्न होता है। अतएव वासना संकल्प का सूक्ष्म पूर्व रूप है, जिस (वासना) का प्रथम परिणाम संकल्प, दूसरा परिणाम शब्द, तीसरा परिणाम कर्म और चौथा वा अन्तिम परिणाम सुख दुःखरूप कर्म फल भोग होता अतएव सुख दुःख, स्वर्ग नरक जन्म मरण, इन सब फल भोगों तथा संकल्पादिकर्मपर्यन्त चेष्टाओं की जननी (मूलकारण) वासना ही अगले प्रमाण से भी स्पष्टतया सिद्ध है। क्यों कि कहा है कि—

> यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति,
> यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति,
> यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते ॥

जीव और प्रकृति के संयोग से वासना उत्पन्न होती है और उपर्युक्त प्रमाण से मनुष्य (जीव) निज दिव्य और गूढ शक्तिद्वारा जिस विषय की वासनारूप में इच्छा करता है, उस ही को मन [मनन शक्ति] द्वारा ध्यान करता है और उस ही को वाणी से शब्द रूप में कहता है। तत्पश्चात् कर्म कर के उस के फल सुख वा दुःख का भागी होता है अर्थात् वाणी वा शब्द द्वारा प्रकट करने से पूर्व मानसी व्यापार नाम

आभ्यन्तर चेष्टा (प्रयत्न) ही रहती है । अर्थात् किये हुये कर्म के फल के समान अधिक पाप पुण्य का भागी यद्यपि नहीं होता, तथापि मानसिक सुख दुःख भोगना ही पड़ता है। इस लिये शब्द (वाणी) का संयम करना भी आवश्यक है। इस ही अभिप्राय से आगे वासना के तथा शब्द (वाणी) के संयम का विधान किया जाता है ॥

अब स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रणीत वेदांगप्रकाश प्रथम भाग अर्थात् वर्णोच्चारण शिक्षा के अनुसार शब्द की उत्पत्ति, स्वरूप, फल और लक्षण कहते हैं ।

शब्द की उत्पत्ति ।

आकाशवायु प्रभवः शरीरात्,
समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः ।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो,
वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ॥ १ ॥

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्दं जनयति स्वरम् ॥ २ ॥

(अर्थ) आकाश और वायु के संयोग से उत्पन्न होने वाला नाभि के नीचे से ऊपर को उठता हुआ जो मुखको प्राप्त होता है उसको नाद कहते हैं। वह कण्ठ आदि स्थानों में विभाग को प्राप्त हुआ वर्णभाव को प्राप्त होता है, उसको शब्द कहते हैं॥ १ ॥

जीवात्मा बुद्धि से अर्थों को संगति करके कहने की इच्छा से मन को युक्त करता, विद्युत्रूप मन जठराग्नि को ताड़ता, वह वायु को प्रेरणा करता और वायु उरःस्थल से विचरता हुआ मन्द स्वर को उत्पन्न करता है ॥ २ ॥

शब्द का स्वरूप और फल ।

तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः ।
स श्रेयसा चाभ्युदयेन चैव सम्यक्प्रयुक्तः पुरुषं युनक्ति ॥ १ ॥

(अर्थ) (विप्राः तम्) विद्वान् लोग उस आकाश वायु प्रतिपादित (अक्षरम् गुहाशयम्) नाशरहित विद्या सुशिक्षा सहित बुद्धि में स्थित (परं पवित्रं ब्रह्म) अत्युत्तम शुद्ध शब्द ब्रह्मराशि की (सम्यक् उशन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्ति की कामना करते हैं और (स एव सम्यक्प्रयुक्तः) वह ही अच्छे प्रकार प्रयोग किया हुआ शब्द (अभ्युदयेन च) शरीर, आत्मा, मन और (च) स्वसम्बन्धियों के लिये इस संसार के सब सुख तथा (श्रेयसा च) विद्यादि शुभ गुणों के योग (च) और मुक्तिसुख से (पुरुषं युनक्ति) मनुष्य को युक्त कर देता है । इस लिये इस वर्णोच्चारण की श्रेष्ठ शिक्षा से शब्द के विज्ञान में सब लोग प्रयत्न करें ।

शब्द का लक्षण ।

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः ॥ महाभाष्य अ० १ पा० १ सू० २ आ० २

(अर्थ) जिसका कान इन्द्रिय से ज्ञान, बुद्धि से निरन्तर ग्रहण और उच्चारण से प्रकाश होता है, तथा जिसके निवास का स्थान आकाश है, वह शब्द कहाता है ।

शब्दब्रह्म का माहात्म्य।

आगे प्रणव (ओ३म्) शब्दब्रह्म का माहात्म्य वर्णन करते हैं। पूर्वोक्त कथन से ज्ञात होता है कि अच्छे प्रकार प्रयुक्त किये शब्द का फल मुक्ति है, क्योंकि श्रवण मनुष्य द्वारा तृण से लेकर पृथिवी और परमेश्वर पर्यन्त साक्षात्कार नाम विज्ञान प्राप्ति होता है। अतएव ओ३म् महामन्त्र (महावाक्य) के जप की (जो कि ईश्वर का निज नाम है) महिमा (माहात्म्य) तो अकथनीय ही जानो। इस ही कारण से मुमुक्षु जनों को अत्यन्त उचित है कि ध्यानयोग में जब प्रवृत्त हों तब ओं शब्द का अच्छे प्रकार उच्चारण करें और उसके अर्थ को समझें।

धारणा तथा संयम करने के लिये शरीरान्तर्गत अनेक देशों का वर्णन प्रथम हो चुका है, उनमें से जिस किसी एक देश में ध्यान ठहरा कर "ओ३म्" का मानसिक जप किया जाता है, वहां मन तथा सब इन्द्रियों का संयोग होने के कारण मन तो "ओ३म्" महामन्त्र का मानसिक (उपांशु) जाप वा उच्चारण करता है, कान (श्रवणेन्द्रिय की दिव्य अन्तर्गत शक्ति) सुनता है और बुद्धि द्वारा ओं शब्द के अर्थ, ईश्वर का ग्रहण (चिन्तन) आदि सब क्रिया उक्त महाभाष्योक्त प्रमाणानुसार होती है।

इन सब प्रमाणों से स्पष्टतया सिद्ध है कि इच्छा अर्थात् वासना ही शब्द का मूल कारण है।

जीवात्मा के सूक्ष्म शरीर का लक्षण मुक्ति के साधन विषय में वर्णित हो चुका है, उस शरीर में जब जीवात्मा वासना को ध्यानयोग से ध्येय करके निवारण करता है, तब वासना के स्वरूप का ज्ञान होता है। इस प्रकार संयम करने रूप अभ्यास

को वासनायाम कहते हैं। जिससे अन्य सब वासनाओं का सम्यक् निरोध करने के उपरान्त ओं महामन्त्र के उच्चारण की इच्छा या वासना करके मानसी व्यापार में जब ध्यानयोग द्वारा जो कोई ओंकाररूपी शब्द ब्रह्म को ध्येय करता है, वही समाधिस्थ बुद्धि से उसही परब्रह्म को प्राप्त होता है, जिस का कि परमोत्कृष्ट नाम "ओ३म्" है। सारांश यह है कि सम्पूर्ण वेदों का साररूप तत्त्व जो ओंपदरूप शब्द ब्रह्म है वह परमात्मा के जानने और मुक्ति का साधन है।

वासनायाम की विधि।

जीव की निजशक्तिमें धनञ्जय अथवा सूत्रात्मा प्राणद्वारा वासनायाम किया जाता है, तब सब वासना निवृत्त हो जाती हैं और जीव को अपने स्वरूप का भी ज्ञान होता है। यही वासनायाम की विधि है। सब प्राणों से अत्यन्त सूक्ष्म धनञ्जय प्राण हैं और उससे भी अतीव सूक्ष्म सूत्रात्मा है। अतः वासनायाम का अनुष्ठान महा कठिन है कि जिसका समझना समझाना भी वाणी से दुस्तर है। अतएव इस अभ्यास का करने वाला योगी ही समझ सकता है।

सर्वभूत शब्दज्ञान।

जिन प्राणों में वासनायाम का संयम किया जाता है, उन ही पवनों में संयम करने से शब्द का भी यथावत् ज्ञान होता है, तथा पूर्वोक्त वर्णोच्चारण शिक्षानुकूल, वेदांग प्रकाशोक्त अक्षरों के उच्चारण के भिन्न२ स्थानों को अच्छे प्रकार समझ कर एक२ अक्षर के भिन्न २ स्थान में उस२ प्रयत्न पूर्वक पृथक्२ संयम करने से शब्द ब्रह्म का जब यथावस्थित पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, तब योगी—पशु पक्षियों की समस्त

चारिणियों को भी समझ सकता है, तथा सामवेदादिगान और हृस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त अनुदात्त, स्वरित आदि भेदसे वर्णों का स्पष्ट यथावत् उच्चारण वही मनुष्य कर सकता है जिस ने उक्त प्रकार शब्द ब्रह्म का संयम किया हो। और जिस ने अंगुष्ठ के मूल की नाड़ी की गति को ध्येय कर के इस में संयम किया हो, वही हृस्व, दीर्घ, प्लुत, स्वरों का यथावत उच्चारण करना जान सकता है, क्योंकि उन स्वरों के काल का नियम यह कहा गया है कि जितने समय में अंगुष्ठ मूलस्थ नाड़ी की गति एक बार होती है। उतने समयमें हृस्व, उस से दूने समय में दीर्घ, और उसके तिगुने काल में प्लुत का उच्चारण करना चाहिये। नाड़ी की इस गति का निश्चित बोध करनेके लिये उस नाड़ी में संयम करना चाहिये। इस संयम के लिये बिना वर्णों के उच्चारण का संयम तथा नाड़ीकी गति का भी ज्ञान यथावत् नहीं होता क्योंकि बाल, युवा, वृद्ध, रोगी, दुर्बल और बलवान्, स्त्री पुरुषोंकी नाड़ी की गति एकसी नहीं होती इस ही कारण योगी वैद्य जिस ने इस नाड़ी में संयम किया हो, वही रोग का निदान यथावत् कर सकेगा, अन्य साधारण वैद्य रोगों की ठीक२ परीक्षा कदापि नहीं कर सकते॥

जिस जिस वर्ण के उच्चारण के लिये जैसा विधान वर्णोच्चारण शिक्षामें किया है, उस को ठीक२ जान कर शब्दाक्षरों का प्रयोग ज्यों का त्यों करना उचित है॥

प्राचीन समयके विद्यार्थियों को आरम्भ में इस ही प्रकार शिक्षा दी जाती थी, बड़े होने पर योगाभ्यास की रीति से उन स्थानों में संयम कराने से पूर्ण ज्ञान हो जाता था। अर्थात् वर्णोच्चारण शिक्षा से ही योग की शिक्षा का भी आरम्भ होता था। अब भी वैसा ही जब होगा, तब ही कल्याण का भी उदय होगा।

पाप कर्मों का जबतक क्षय नहीं होता, तबतक जीव मुक्त नहीं होता। और अधर्म युक्त (अवैदिक काम्य वा पाप) कर्मों का क्षय तब ही होता है, जब कि दुष्ट वासनाओं का सम्यक् निरोध हो जाता है। इस में वेदान्त का प्रमाण भी है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे पराऽवरे॥

मु० २ ख० २ मं० ८ (स० प्र० पृ० २४६ समु० ६

अर्थात्—जब इस जीवके हृदयकी अविद्यारूपी गांठ कट जाती है, तब सब संशय छिन्न होते और दुष्टकर्म क्षय को प्राप्त होते हैं। तभी उस परमात्मा में जो कि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है, उस में निवास करता है। अर्थात् तभी जीव मुक्त हो कर परमेश्वर के आधार में मुक्ति के आनन्द को भोगता है

धनञ्जय तथा सूत्रात्मा नामक वायुओं (प्राणों) में संयम करने का वेदोक्त प्रमाण संयम विषय में पहिले कह चुके हैं॥

मोक्ष वा मुक्ति।

इस "ध्यान योग प्रकाश" नामक ग्रन्थ के अनुसार योगाभ्यासरूपी परमात्मा की उपासना करने का मुख्य प्रयोजन मोक्ष की प्राप्ति है वह (मोक्ष) जीव को तब प्राप्त होता है। कि जब उसकी अविद्या सर्वथा नष्ट हो जाती है। जैसा कि यजुर्वेद के अध्याय ४० में ईश्वर ने उपदेश किया है। यथा—

विद्या और अविद्या के उपयोग से मोक्ष प्राप्ति।

ओं—विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳसह। अवि-

यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते । य० अ० ४० मं ११

(अर्थ)—(यः) जो (विद्वान्) विद्वान् [विद्याम्] विद्या [च] और उस के सम्बन्धी साधन उप साधनों तथा

(अविद्याम्] अविद्या [च] और इस के उपयोगी साधन समूह को-और

[तत्] इन [उभयम्] दोनों के ध्यानगम्य मर्म और स्वरूप को [सह] साथ ही साथ [वेद-सः] जानता है वह

[अविद्यया] शरीरादि जड़ पदार्थ समूह से किये पुरुषार्थ [कर्मकाण्डात्मक कर्मयोग वा कर्मोपासना] से [मृत्युम्] मरण दुःख के भय को [तीर्त्वा उल्लंघन कर के या तरके

[विद्यया] आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के संयोग में जो धर्म उस से उत्पन्न हुवे पदार्थ दर्शन रूप विद्या से [अर्थात् यथार्थ ज्ञान वा ज्ञानकाण्ड के परिणामरूप विज्ञान से] [अमृतम्] नाशरहित अपने स्वरूप वा परमात्मा को अर्थात् मोक्ष को [अश्नुते] प्राप्त होता है ॥

[भावार्थ] जो मनुष्य विद्या और अविद्या को उनके स्वरूप से जान के, "इन के जड़ चेतन साधक हैं" ऐसा निश्चय कर सब शरीरादि जड़ पदार्थ और चेतन आत्मा को धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये साथ ही साथ प्रयोग करते हैं, वे लौकिक दुःख छोड़ परमार्थ के सुख को प्राप्त होते हैं। जो जड़ प्रकृति आदि कारण वा शरीरादि कार्य न हो तो परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति और, जीव कर्म उपासना और ज्ञान के करने को कैसे समर्थ हों इस से न केवल जड़ न केवल चेतन से अथवा न केवल कर्म से तथा न केवल ज्ञान से कोई धर्मादि पदार्थों की सिद्धी करने को समर्थ होता है ॥

अर्थात् अनादि गुण युक्त चेतन से जो उपभोग होने योग्य हैं अज्ञान युक्त जड़ से कदापि नहीं सिद्ध होता और जो जड़ से प्रयोजन सिद्ध होता है, वह चेतनसे नहीं होता। अतएव सब मनुष्यों को विद्वानोंके संग, योग विज्ञान और धर्माचरण से इन दोनों का विवेक कर के दोनों से उपयोग लेना चाहिये।

(क) विद्या और अविद्या चार२ प्रकार की।

विद्या और अविद्या दोनों चार२ प्रकार की हैं। प्रथम अविद्या का वर्णन कर के पश्चात् विद्या के स्वरूप को कहेंगे।

उपरोक्त मन्त्र में किये उपदेश से विद्या और अविद्या के स्वरूप जानने की आवश्यकता पाई जाती है, अतएव प्रथम अविद्या का वर्णन करते हैं॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसुनित्यशुचिसुखात्म ख्यातिरविद्यया। यो० पा० २ सू० ५

(१) अविद्या का प्रथम भाग = (अनित्य) जो अनित्य संसार और देहादि में नित्यपने की भावना करना अर्थात् जो कार्य जगत् देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है, वैसी विपरीत बुद्धि होना, अविद्या काप्रथम भाग है। अर्थात् शरीर तथा लोक लोकांतरादि पदार्थों का समुदाय जो कार्यरूप जगत् अनित्य है, उसको नित्य मानना, तथा जीव, ईश्वर जगत् का कारण, क्रिया क्रियावान्, गुण, गुणी और धर्म, धर्मी, इन नित्य पदार्थों को तथा उनके सम्बन्ध को अनित्य (नाशवान्) मानना अविद्या का प्रथम भाग है।

(२) अविद्या का दूसरा भाग = (अशुचि) मल मूत्र आदि के समुदाय, दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण, स्त्री आदि के शरीरों में पवित्र बुद्धि का करना तथा तालाब, बावड़ी कुण्ड, कुआ और नदी, मूर्त्ति आदि में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना और उनका चरणामृत पीना एकादशी आदि मिथ्या व्रतों के भोग में अत्यन्त प्रीति करना, इत्यादि अशुद्ध (अपवित्र) पदार्थों को शुद्ध मानना और सत्यविद्या, सत्य-भाषण, धर्म, सत्संग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सब से प्रेमभाव से वर्त्तना आदि शुद्ध व्यवहार और पदार्थों में अपवित्र बुद्धि करना वह अविद्या का दूसरा भाग है॥

(३) अविद्या का तीसरा भाग = दुःख में सुखबुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम,क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुःख रूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना, जिते-न्द्रियता, निष्काम, शम, सन्तोष, विवेक प्रसन्नता, प्रेम, मित्र-ता आदि सुख रूप व्यवहारों में दुःख बुद्धि का करना, यह अविद्या का तीसरा भाग है॥

(४) अविद्या का चौथा भाग = अनात्मा में आत्म-बुद्धि का होना, अर्थात् जड़ में चेतन का भाव वा चेतन में जड़ का भाव करना, अविद्या का चतुर्थ भाग है॥

विद्या का लक्षण = उक्त अविद्या से विपरीति अर्थात् (१) अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, (२) अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, (३) दुःख में दुःख और सुख में सुख, (४) अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या है। इस प्रकार विद्या के भी चार भाग हुए॥

अर्थात् यथार्थज्ञान को विद्या और मिथ्याज्ञान को अविद्या कहते हैं ॥ स० प्र० पृ० २३२ (भू० पृ० १८२-१८३)

(ख) सम्भूति और असम्भूति की उपासना का निषेध

उक्त चार प्रकार की अविद्या अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होकर उनको संसार में सदा नचाती रहती है। जैसा कि वेद में कहा है। सो आगे ३ मन्त्रों में कहते हैं—

ओ३म्—अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याथंरताः ॥
य० अ० ४० मं० ६

(ये) जो लोग परमेश्वर को छोड़ के (असम्भूतिम्) अनादि अनुत्पन्न सत्व रज और तमोगुणमय प्रकृतिरूप जड़ वस्तु को (उपासते) उपास्यभाव से जानते वा मानते हैं, वे सब लोग (अन्धन्तमः) आवरण करने वाले अन्धकार को (प्रविशन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं और (ये) जो (सम्भूत्याम्) महत्तत्व आदि स्वरूप से परिणाम को प्राप्त हुई सृष्टि में (रताः) रमण करते हैं (ते) वे (उ) वितर्क के साथ (ततः) उस से भी (भूयइव) अधिक (तमः) अविद्यारूप अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

(भावार्थ) जो मनुष्य समस्त जड़जगत् के अनादि नित्य कारण को उपास्यभाव से स्वीकार करते हैं और जो उस कारण से उत्पन्न स्थूल सूक्ष्म कार्यकारण रूप अनित्य संयोगजन्य कार्य जगत् को इष्ट उपास्य मानते हैं, वे गाढ़ अविद्या को पा के अधिकतर क्लेशों को प्राप्त होते हैं।

परन्तु इस कार्यकारणरूप सृष्टि से क्या २ सिद्ध करना चाहिये अर्थात् उस का किस प्रकार उपयोग करना उचित है सो आगे कहते हैं।

सम्भूति और असम्भूति के उपयोग से मोक्षप्राप्ति की विधि ॥

ओं—सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयꣳसह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥
यजु० अ० ४० मन्त्र ११

(अर्थ) हे मनुष्यो ! (यः) जो विद्वान् (सम्भूतिम्) जिस में सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उस कार्यरूप सृष्टि [च] और उस के गुण कर्म स्वभावों को तथा [विनाशम्] जिस में पदार्थ नष्ट होते हैं उस कारणरूप जगत् [च] और उस के गुण कर्म स्वभावों को [सह] एक साथ [उभयम्] दोनों [तत्] उन कार्य और कारण स्वरूपों को [वेद] जानता है व विद्वान् [विनाशेन] नित्यस्वरूप जाने हुए कारण के साथ [मृत्युम्] शरीर छूटने के दुःख को [तीर्त्वा] उल्लघन करके [सम्भूत्या] शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप उत्पन्न हुई कार्यरूप, धर्म में प्रवृत्त कराने वाली सृष्टि के साथ [अमृतम्] मोक्ष सुख को [अश्नुते] प्राप्त होता है ॥

[भावार्थ] हे मनुष्यो ! कार्यकारणरुप वस्तु निरर्थक नहीं हैं, किन्तु कार्यकारण का गुण कर्म स्वभावों को जानके धर्म आदि मोक्ष के साधनों में संयुक्त करके, अपने शरीरादि के कार्य कारणको नित्यत्व से जानके, मरण का भय छोड़ के मोक्ष की सिद्धि करो । इस प्रकार कार्यकारण से अन्य ही फल सिद्ध करना चाहिये । इन कार्य करण का निषेध उस प्रकरण में करना चाहिये कि जिस में इन की उपासना अज्ञानी लोग ईश्वर के स्थान में करते हैं ॥

इस मन्त्र से "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" वादी वेदान्तियों तथा मूर्त्ति आदि जड़पदार्थों के पूजकों के मतों का खण्डन भी होता है ॥

आगे विद्या और अविद्या की उपासना का फल लिखते हैं-

(ग) विद्या और अविद्याके विपरीत उपयोगमें हानि

ओम् अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो यऽउ विद्यायाॅंरताः य० अ० ४० मं० १२

(अर्थ) (ये) जो मनुष्य (अविद्याम्) अनित्य, अशुद्ध में शुद्ध, दुःख में सुखऔर अनात्मा शरीरादि में आत्मबुद्धिरूप अविद्या की अर्थात् ज्ञानादिरहित कार्यकारणरूप परमेश्वर से भिन्न जड़ वस्तु की (उपासते उपासना करते हैं वे अन्धन्तमः) दृष्टि के रोकने वाले अन्धकार और अत्यन्त अज्ञान को (प्रविशन्ति) प्राप्त होते हैं और (ये) जो अपने आत्मा को पंडित मानने वाले (विद्या याम्) शब्द, अर्थ और इन के सम्बन्ध के जानने मात्र अवैदिक आचरण में (रताः) रमण करते हैं (ते) वे (उ) भी (ततः) उस से (भूय इव) अधिकतर (तमः) अज्ञानरूपी अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥

भावार्थः—जो २ चेतन ज्ञानादिगुणयुक्त वस्तु हैं,वह जानने वाला है और जो अविद्यारूप है, वह जानने योग्य है। जो चेतन ब्रह्म तथा विद्वान् का आत्मा है, वह उपासना के योग्य है। जो इस से भिन्न है वह उपास्य नहीं है, किन्तु उपकार लेने योग्य है। जो मनुष्य-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशनामक क्लेशों सेयुक्त हैं, वे परमेश्वर को इस से भिन्न जड़ वस्तुकी उपासना करके महान् दुःखसागर में डूबते हैं और जो शब्द अर्थ का अन्वयमात्र संस्कृत पढ़के सत्यभाषण पक्षपातरहित न्याय का आचरणरूप धर्म का आचरण

नहीं करते अभिमान में आरूढ़ हुवे विद्या का तिरस्कार कर, अविद्या ही को मानते हैं, वे अत्यन्त तमोगुणरूप दुःखसागर में निरन्तर पीड़ित होते हैं ॥

अर्थात् इस मन्त्र में कहे अविद्यादि क्लेशों तथा अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति कर के जीव मुक्तिको पाता है।

[घ] अविद्याजन्य पांच क्लेश

अतएव अविद्यादि क्लेशों की व्याख्या आगे कहते हैं।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ॥

योऽ पा० २ सू० ३

(अर्थ) (१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष और (५) अभिनिवेश, ये पाँच प्रकार के क्लेश हैं। इनमें से अविद्या का स्वरूप और लक्षण प्रथम कह चुके हैं ॥

(अस्मिता) दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता

यो० पा० २ सू० ६

द्रष्टा और दर्शनशक्ति को एक ही जानना अस्मिता कहाता है अर्थात् जीव और बुद्धि को मिले के समान देखना, अभिमान और अहंकार से अपने को बड़ा समझना इत्यादि व्यवहार को अस्मिता जानो। जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इस की निवृत्ति होजाती है, तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है।

(राग) सुखानुशयी रागः। यो० पा० २ सू० ८

जो २ सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते हैं, उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभसागरमें बहना है इस

का नाम राग है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि "संयोगवियोग" "संयोग वियोगान्त" हैं अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है, तब राग की निवृत्ति हो जाती है। अतएव सुखभोग की वासना, इच्छा वा तृष्णा का नाम राग है।

(द्वेष) दुःखानुशयी द्वेषः। यो० पा० २ सू० ८

जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो, उसपर और उसके साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना, अर्थात् पूर्व भोगे हुवे दुःख का जिसको ज्ञान है, उसका स्मरण संस्कारस्मृति वृत्ति द्वारा रहता है, उन दुःख के साधनों को इकट्ठा करने की इच्छा न करना, प्रत्युत उनकी निन्दा करना वा उनपर क्रोध करना द्वेष कहाता है। इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से होती है।

(अभिनिवेश) स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः। यो० पा० २ सू० ९

सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें अर्थात् कभी मरें नहीं। सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है। इससे पूर्व जन्म भी सिद्ध होता है, क्योंकि छोटे छोटे कृमि चींटी आदि जीवों को भी मरण का भय बराबर रहता है। इसी से इस क्लेश को अभिनिवेश कहते हैं, जो कि विद्वान्, मूर्ख तथा क्षुद्र जन्तुओं में भी बराबर दीख पड़ता है। इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होती है कि जब मनुष्य जीव, परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्यद्रव्य के संयोग वियोग को अनित्य जान लेता है।

अविद्यादि क्लेशोंके नाशसे मोक्षप्राप्ति

तदभावात्संयोगाभावो हानन्तद्दृशेः कैवल्यम् ॥

यो० पा० २ सू० २५

जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से छूट के मुक्तिको प्राप्त हो जाता है तथा—

अविद्यारूप बीज के नाशसे मोक्षप्राप्ति

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥

यो० पा० ३ सू० ४८

शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है, उसके नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करें, क्योंकि उसके नाश के विना मोक्ष कभी नहीं हो सकती। अर्थात् सब दोषों का बीज जो अविद्या है, उसके विनष्ट हो जाने से जब सिद्धियों से वैराग्य होता है, तब जीव को कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त होता है।

बुद्धि और जीव की शुद्धि से मोक्षप्राप्ति

सत्वपुरुषयोःशुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति

यो० पा० ३ सू० ५३

तथा सत्व जो बुद्धि और पुरुष जो जीव, इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं।

विवेक नाम ज्ञान से मोक्षप्राप्ति।

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारंचित्तम्।

यो० पा० ४ सू० २६

तब जो योगी का चित्त पूर्व काल में विषयों के प्रकृष्ट भार से भरा था, सो अब उस योगी का चित्त विवेक से उत्पन्न हुये ज्ञान कर के भर जाता है, अर्थात् कैवल्य (मुक्ति) का भागी होता है।

सारांश यह है कि जब सब दोषों से अलग हो के ज्ञानकी ओर योगी का आत्मा झुकता है, तब कैवल्य (मोक्ष) धर्म के प्राप्त संस्कार से चित्त परिपूर्ण हो जाता है। तभी जीव को मोक्ष होता है, क्यों कि जब तक बन्धन के कामों में जीव फंस जाता है, तब तक उस को मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है।

मोक्ष का लक्षण।

आगे कैवल्य मोक्ष का लक्षण कहते हैं।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरीति ॥ यो० पा० ४ सू० ३३

कैवल्य मोक्ष का लक्षण यह है कि कारण के सत्व, रजस् और तमोगुण और उनके सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् होके स्वरूपप्रतिष्ठा जैसे जीवका तत्व है, वैसाही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होके शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञानप्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है उसी को कैवल्य मोक्ष कहते हैं।

अब मोक्ष विषयक वेदोक्त प्रमाण आगे लिखते हैं।

मोक्ष विषयक वेदोक्त प्रमाण।

ओं—ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश। तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तुप्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ऋ० अ० ८ अ० २ व० १ मं० १

(अर्थ) ज्ञानरूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग मोक्षसुख में प्रसन्न होते हैं। जो परमेश्वर की सख्य (मित्रता) से मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं, उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख नियत किये गये हैं। उनके जो (अंगिरसः) प्राण हैं वे उनकी बुद्धि को अत्यन्त बढ़ाने वाले होते हैं और उस मोक्ष प्राप्त मनुष्य को पूर्वमुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं और फिर वे परस्पर अपने ज्ञानसे एक दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते और मिलते हैं।

ओं–यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्स-त्यमङ्गिराः॥ ऋ०अ०१।अ०१।व०१ म०१।अ०सू०मं०६

(अर्थ) हे अङ्गिराः = हे ब्रह्माण्ड के अङ्गों पृथ्वी आदि पदार्थों को प्राण रूप से तथा शरीर के अङ्गों को अन्तर्यामी रूपसे रसरूप होकर रक्षा करने वाले परमेश्वर ! और (अंग) हे सब के मित्र ! (अग्ने) परमेश्वर ! (यत्) जिस हेतु से (दाशुषु) निर्लोभता से उत्तम२ पदार्थों के दान करने वाले मनुष्य के लिये (त्वं) आप (भद्रम्) कल्याण जो कि शिष्ट विद्वानों के योग्य है। उनको (करिष्यसि) करते हो (तव+इत्=तत्=सत्यम्) वह आप ही शील है॥

(भावार्थ) जो न्याय, दया, कल्याण और सब का मित्र भाव करने वाला परमेश्वर है,उसही की उपासना करके जीव इस लोक के और मोक्ष के सुख को प्राप्त होता है क्योंकि इस प्रकार सुख देने का स्वभाव और सामर्थ्य केवल परमेश्वर का है, दूसरे का नही जैसे शरीर को धारण करता है, वैसे ही परमेश्वर सब संसार को धारण करता है और इसी से संसार की यथावत् रक्षा और स्थिति होती है॥

मुक्त जीवोंको अणिमादि सिद्धि की प्राप्ति ।

ओं-स्वर्यन्तो नापेक्षन्तऽआद्याथंरोहन्ति रोदसी यज्ञं ये विश्वतोधारथंसविद्वाथंसो वितेनिरे यो० अ० १७ मं० ३८

अर्थ (ये) जो (सुविद्वांसः) अच्छे पण्डित योगीजन (यन्तः) योगाभ्यास के पूर्ण नियम करते हुओं के (न) समान (स्वः) अत्यन्त सुख की (अपेक्षन्ते) अपेक्षा करते हैं "वा,

(रोदसी द्यावापृथिव्यौ) आकाश और पृथिवी को चढ़ जाते अर्थात् लोक लोकान्तरों में इच्छा पूर्वक (अरोहन्ति) चले जाते—"व'

(द्यां) प्रकाशमयी योग विद्या (विश्वतोधारं) सब ओर से सुशिक्षा युक्त वाणी हैं जिस में (यज्ञम्) उस प्राप्त करने योग्य यज्ञादि कर्म का (वितेनिरे) विस्तार करते हैं (ते) वे (अक्षयं) अविनाशी (सुखम्) सुख को (लभन्ते) प्राप्त होते हैं"

[भावार्थ] जैसे सारथि घोड़ों को अच्छे प्रकार सिखा कर और अभीष्ट मार्ग में चला कर सुख से अभिष्ट स्थान को शीघ्र जाता है वैसे ही अच्छे विद्वान् योगीजन जितेन्द्रिय हो कर नियम से अपने इष्ट देव परमात्मा को पाकर आनन्द का विस्तार करते हैं ।

इस मन्त्र में कहीं आकाश मार्ग गमन आदि (अणिमादि) सिद्धि शरीर छूटनेके उपरान्त मुक्त हुवे जीवोंको प्राप्त हाती हैं

ओ३म्—यज्ञेन यज्ञमजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्या सन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः संति देवाः ॥ यजुः० अ० ३१ मं० १६

(हे मनुष्याः) हे मनुष्यो ! (ये) जो (देवाः विद्वांसः) विद्वान् लोग (यज्ञेन) ज्ञान यज्ञ से (यज्ञम् ज्ञानेन पूजनीयं सर्वरक्षकमग्निवत्तपनम्) पूजनीय सर्व रक्षक अग्निवत् तेजस्वी ईश्वर की (अयजन्त पूजयन्ति] पूजा करते है (तानि) वे ईश्वरकी पूजादि (धर्माणि) धारणा रूप धर्म प्रथमानि) पहले (आसन् तानिधारणात्मकानि) अनादि भूतानि मुख्यानि सन्ति) अनादिरूप से मुख्य हैं (ते) वें विद्वान् (महिमानःते महत्वयुक्ताः सन्तः) महत्व से युक्त हुवे (यत्र) जिस सुखमें (पूर्वे यस्मिन्सुखे इत पूर्व सम्भवः) इस समय से पूर्व हुवे।

(साध्याः) साधनों को किये हुवे (देवाः) प्रकाशमानि विद्वान् (सन्ति कृतसाधनाः देदीप्यमाना विद्वाँसः सन्ति) हैं (नाकं) उस सर्व दुःख रहित मोक्ष सुख को (ह) हि (सचन्त तत् अविद्यमान दुःखं मुक्ति सुखम् एव समवयन्ति प्राप्नुवन्ति तद्यूयमप्याप्नुत) प्राप्त होते हैं "उस को तुम लोग भी प्राप्त होओ,

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि योगाभ्यास आदि से सदा ईश्वर की उपासना करें। इस अनादि काल से प्रवृत्त धर्म से मुक्ति सुखको पाके पहिले मुक्त हुवे विद्वानोंके समान आनन्द भोगें।

ओं- रायो बुध्नः संगमनो वसूनां यज्ञस्य केतुर्मन्म. साधनो वेः। अमृतत्वं रक्षमाणास एनं देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥ ऋ०अ०१। अ०७। व०४। मं०१। अ० १५। सू० ६६। मन्त्र ६।

(हे मनुष्याः) हे मनुष्यो ! (यः) जो (परमेश्वरः) परमेश्वर (वेः=कमनीयस्य) मनोहर और (यज्ञस्य) सङ्गमनीयस्य विद्यां वोधस्य) अच्छे प्रकार समझाने योग्य विद्या

बोध का तथा (बुध्नः) यो बोधयति सर्वान् पदार्थान्वेदद्वारा सः) वेद विद्याद्वारा संपूर्ण पदार्थों का बोध कराने हारा (केतुः = ज्ञापक) सब व्यवहारों को अनेक प्रकारों से चिताने वाला (मन्मसाधनः) यो मन्मानि विचारयुक्तानि कार्याणि साधयतिसः) विचार युक्त कामों को सिद्ध कराने वाला (रायः विद्याचक्रवर्त्तिराज्यधनस्य) विद्या तथा चक्रवर्त्तिराज्य धन का और (वसूनाम् = अग्नि पृथिव्याद्यष्टानां त्रयस्त्रिंशद्देवान्तर्गतानाम) तैंतीस देवताओं के अन्तर्गत अग्नि पृथिवी आदि आठ देवताओं का (संगमनः = यः सम्यग्गमयति सः) अच्छे प्रकार प्राप्त कराने वाला है (वा-अमृतत्वम् = प्राप्तमोक्षणाम्भावम्) अथवा मोक्ष मार्ग की (रक्षमाणासः = ये रक्षन्ति ते) रक्षा करने वाले (देवाः = आप्तविद्वज्जनाः 'यम् = आप्त विद्वान् तम "जिस, द्रविणोदाम द्रव्याणि धनादि पदार्थादीनि ददाति तम्) धन आदि पदार्थों के देने वाले (अग्निम् परमेश्वरम्) परमेश्वर को (धारयन् धारयन्ति) धारण करते व कराते हैं (तमेव परमम् इष्टदेवं यूयं मन्यध्वम्) उस ही परमेश्वर को तुम लोग इष्ट देव मानो ।

संस्कृत-भावार्थः-जीवन्मुक्ता विदेहमुक्ता वा विद्वांसो यमाश्रित्यानन्दन्ति स एव सर्वैरुपासनीयः ॥

[भाषा—भावार्थ] जीवन्मुक्त अर्थात देहाभिमान आदि को छोड़े हुए वा शरीर त्यागी मुक्त विद्वान जन जिस आश्रय करके आनन्द को प्राप्त होते हैं वही परमेश्वर सब के उपासना करने योग्य है ॥

ओम्—येदेवा देवेष्वाधि देवत्वमायन्ये ब्राह्मणाः पुरएतारो अस्य । येभ्यो न ऋते पवते धाम किञ्चन न ते दिवो न पृथिव्या अधिस्नुषु । य०अ०१७म० १४ ॥

अर्थ-(ये) जो ।(देवाः) पूर्ण विद्वान् (देवेषु) विद्वानों में (अधि)' सब से उत्तम कक्षा में विराजमान (देवत्वम् आयत्) अपने गुण कर्म स्वभाव को प्राप्त होते हैं (ये) जो (अस्य) इस (ब्रह्मणः) परमेश्वर को (पुरः) पहिले (एनारः) प्राप्त होने वाले हैं ॥

(येभ्यः) जिन के (ऋते) विना (किञ्चन) कोई भी (धाम) सुख का स्थान (न) नहीं (पवते) पवित्र होता (ते) वे विद्वान् लोग (न , न (दिवः) सूर्यलोक के (स्नुषु) प्रदेशों में (न) और न (पृथिव्याः) पृथिवी के अधिस्नुष्यायश्) किसी भाग में (नाधिवसन्तीति यावत्) अधिक वसते हैं ॥

भावार्थ–जो इस जगत् में उत्तम विद्वान् योगाधिराज यथार्थता से परमेश्वर को जानते हैं, वे सम्पूर्ण प्राणियों को शुद्ध करते और जीवन्मुक्तदशा में परोपकार करते हुये विदेहमुक्ति अवस्था में न सूर्य लोक और न पृथिवी पर नियम से वसते हैं, किन्तु ईश्वर में स्थिर होके अव्यहातगति से सर्वत्र विचरा करतेहैं ।

ओं पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तारिक्षाद्दिव मारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥
य० अ० १७ मं० ६७

अर्थ—(हे मनुष्याः) हे मनुष्यो ! (यथा) जैसे (कृतयोगाँगानुष्ठान संयमसिद्धः) किये हुवे योग के अंगों के अनुष्ठान संयम सिद्ध अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि में परिपूर्ण (अहम्)मैं(पृथिव्याः पृथिवी के बीच (अन्तरिक्षम्) आकाश को (उत् आ अरुहम्) उठ जाऊं "वा" (अन्तरिक्षात्) आकाश से (दिवम्) प्रकाशमान सूर्य लोक को (आ अरुहम्) चढ़

जाऊं "वा" (नाकस्य) सुख कराने हारे (दिवः) प्रकाशमान उस सूर्यलोक के (पृष्ठात्) समीप से (स्वः) अत्यन्त सुख (ज्योतिः) और ज्ञान के प्रकाश को (अहम्) मैं (अगाम्) प्राप्त होऊं।

(संस्कृतभावार्थः) यदा मनुष्यः स्वात्मना सह परमात्मानं युङ्क्ते तदाऽणिमादयः सिद्धयः प्रादुर्भवन्ति ततोऽव्याहतगत्याभीष्टानि स्थानानि गन्तुं शक्नोति नान्यथा

(भाषा भावार्थ) जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है, अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती हैं। उस के पीछे कहीं से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों को पासकता है, अन्यथा नहीं॥

आकाश में उठ जाने, सूर्य चन्द्र आदि लोक लोकांतरों में स्वेच्छानुसार अव्याहतगतिपूर्वक भ्रमण करने आदि की शक्तियां (अणिमादि सिद्धियां) मरण के पश्चात् मुक्त जीवों को ही प्राप्त होती है, जीवित दशा में कदापि नहीं। जो लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि जीते जी (जीवन्मुक्त योगी) पुरुषों को उक्त शक्तियां सिद्ध होजाती हैं, वे वृथा भ्रम में ही पड़े हैं। यह बात निस्संदेह निश्चित जानो कि कोई भी योगी न तो अपने देह को रबड़वत् खैंच तान वा सकोड़कर बड़ा वा छोटा कर सकता है, न कायप्रवेश, न वे रोक टोक (अव्याहतगति से सूर्य चन्द्रादि लोक लोकान्तरों में आकाशमार्ग द्वारा गमन और न संकल्पमात्र से शरीर बना, तथा उस का धारण वा त्याग कदापि करसकता है। किन्तुमृत्यु के पश्चात् शरीर से पृथक होने पर वे अपनी इच्छापूर्वक मोक्ष का आनन्द भोगते हुए छोटे व बड़े अभीष्ट देहको धारण तथा आकाश में सर्वत्र जहां चाहते हैं, वहीं चले जा सकते हैं। इसी कारण श्रीयुत

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने भी मुक्तिविषय में ही इन सिद्धियों का वर्णन उपनिषद् तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में प्रमाणपूर्वक किया है।

आत्मब्रह्मज्ञानी विद्वान् महात्माओंका सत्संगसेवा शुश्रूषा विषयक उपदेश तथा मुक्तजीव का लक्षण यंयं लोकं मनस। संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते याँश्च कामान्। तंतं लोकं जायते ताँश्च कामाँस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः॥ १०॥ ३ मुण्डके खण्ड १ मं० १०॥

(विशुद्धसत्वः) जब विद्वान् उपासक योगी प्रकृति का आधार छोड़ कर अपने विशुद्धसत्व आत्पदित्य स्वरूप से निष्केवल परमशुद्ध परमात्मा के ही आधार में मृत्यु को उल्लंघन कर के अमृत (मोक्ष) सुख को प्राप्त होता है तब (यंयं-लोकम्) जिस २ सूर्यादि लोक में पहुंचे का (मनसा-संविभाति)मन से संकल्प अर्थात् इच्छा करता है (यान्-च-कामान्) और जिन सुखभोगों की (कामयते अभिलाषा करता है (तं तं—लोकम्—तान्—कामान्—च) उस २ लोक और उन सर्व कामनाओं को (जायते) प्राप्त होता है (तस्मात्—भूतिकामः) इस लिये योगसम्बन्धि सिद्धियों के चाहने वाले जिज्ञासु पुरुष को उचित है कि-(आत्मज्ञंहि अर्चयेत्) ब्रह्मज्ञानी महात्मा की सेवा शुश्रूषा सत्कार अवश्य करे॥

ओम्—अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्द्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः।
त्वꣳसाहस्रस्य रायऽईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय
स्वाहा यजु० अ० १७ मं० ७१॥

अर्थ (हे) हे [सहस्राक्ष] हजारहों व्यवहारों में अपना विशेष ज्ञान [शतमूर्द्धन्] "वा" सैकड़ों प्राणियों में मस्तक

वाले [अग्ने] अग्नि के समान प्रकाशमान अर्थात् [योगिराः-ज) योगिराज "जिन" (ते) आप के (शतम्) सैकड़ों (प्राणाः) जीवन के साधन 'तथा' (सहस्रम्) हजारहों (व्यानाः) क्रियाओं के निमित्त शरीरस्थ वायु "तथा जो" (त्वम्) आप (सहस्रस्य) हजारहों जीव और पदार्थों का आधार जो जगत् उस के (रायः) धन के (ईशिषे) स्वामी हैं (तस्मै) उस (वाजाय) विशेष ज्ञान वाले (ते) आप के लिये (वयम्) हम लोग (स्वाहा*विधेम ,=सत्यवाणी से सत्कार पूर्वक व्यवहार करें ॥

[भावार्थ] जो योगी पुरुष तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान आदि योग के साधनों से योग (धारणा, ध्यान,-समाधिरूप संयम) के वल को प्राप्त होके और अनेक प्राणियों के शरीरों में प्रवेश कर के अनेक शिर नेत्र आदि अङ्गों से देखने आदि कार्यों को कर सकता है अनेक पदार्थों वा धनों का स्वामी हो सकता है उस का हम लोगों को अवश्य सेवन करना चाहिये ॥

इस मन्त्र में योग की कायप्रवेश की सिद्धि प्राप्त होने का वर्णन है सो जैसे अणिमादि सिद्धियाँ कैवल्यमुक्ति प्राप्त योगी को सिद्ध होती हैं, वैसेही यह सिद्धि भी कैवल्य मुक्त को ही प्राप्त होती है ।

अधर्मी मनुष्य ब्रह्मविद्या के अधिकारी नहीं होते अतः उनको मोक्ष भी नहीं प्राप्त होता

ओं—नतं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरंबभूव नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरंति ॥

यजु० अ० १७ मं० ३१

[अर्थ] [हे मनुष्योः] हे मनुष्यो ! [यथा] जैसे [अ-ब्रह्मविदः] ब्रह्म को न जानने वाले [जनः] पुरुष [नीहारेण "वाऽक्षानीत"] धूम के आकार कुहर के समान अज्ञानरूप अन्धकार से [प्रावृताः] अच्छे प्रकार से ढके हुये [जल्प्या] =थोड़े सत्य असत्य वादानुवाद में स्थिर रहने वाले [असु-तृपः] प्राण पोषक [उकथशासः च] और योगाभ्यास को छोड़ शब्द अर्थ सम्बन्ध के खण्डन मंडन में रमण करते हुये करते हुये [चरन्ति] विचरते हैं । तथा [भूताः] वैसे हुये तुम लोग [तं] उस परमात्मा को [न] नहीं [विदाथ] जानते हो [यः] जो [इमा] इन प्रजाओं को [जजान] उत्पन्न करता है [यद्] जो ब्रह्म [युष्माकम्] तुम अधर्मी अज्ञानियों के सकाश से [अन्यत्] अन्यत् कार्य कारण रूप जगत और जीवों से भिन्न तथा [अन्तरम्] सबों में स्थिर हुआ भी दूरस्थ के समान [बभूव] होता है [तदतिसूक्ष्ममा-त्मन आत्मभूतं न विदाथ] उस अतिसूक्ष्म आत्मा के आत्मा अर्थात् परमात्मा को नहीं जानते ॥

[भावार्थ] जो पुरुष ब्रह्मचर्य आदि व्रत, आचार, विद्या, योगाभ्यास, धर्म के अनुष्ठान, सत्संग और पुरुषार्थ से रहित हैं, वे अज्ञानरूप अन्धकार में दबेहुये ब्रह्म को नहीं जान सकते जो ब्रह्म जीवों से पृथक,अन्तर्यामी,सब का नियन्ता औरसर्वत्र व्याप्त है, उस के जानने को जिन का आत्मा पवित्र है, वे ही योग्य होते हैं अन्य नहीं ॥

तात्पर्य यह है कि दुष्ट जन ब्रह्मविद्या [योगाभ्यास द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करने] के अधिकारी नहीं हैं, अतएव उन को मुक्ति मिलना भी दुर्लभ है । अर्थापत्ति से यह आशय निकला कि जिन के अन्तःकरण के संस्कार शुद्ध हो कर आच-

स्थ अर्थात् गुण कर्म स्वभाव शुभ हैं, वे ही जन मोक्ष मार्ग प्राप्ति के अधिकारी हो सकते हैं ॥

अथ उपासनायोगे विज्ञानयोगः

तत्रादौ—आत्मवादः

वेद वेदान्तादि शास्त्रों में बहुधा "आत्मा" इस एक पद से ही दोनों आत्माओं [जीवात्मा और परमात्मा] का ग्रहण होता है, किन्तु विद्वान् लोग प्रकरणानुकूल यथार्थ अभिप्राय जान ही लेते हैं और अविद्वानों तथा वेद विरुद्ध मतानुयायी जनों को भ्रम ही होता है, उसभ्रम के निराकरणार्थ तथा जीव ब्रह्म का भेद स्पष्टतया दर्शाने के हेतु से वेदों तथा वेदान्त ग्रंथों के अनुसार अब इस आत्मवाद का संक्षिप्त वर्णन करते हैं ॥

जीवात्मज्ञान

अथाग्निदृष्टान्तेन जीवगुणा उपदिश्यन्ते ॥

अग्नि के दृष्टान्त से जिसप्रकार ईश्वर ने वेदों में जीवात्मा के गुणों का उपदेश किया है, उस की व्याख्या आगे करते हैं—

ओं—वृचित्सहोजा अमृतो नि तुन्दते होता यद्दूतो अभवद्विवस्वतः । वि साधिष्ठेभिः पथिभीरजोमम आ देवताता हविषा विवासति ॥

ऋ० अ० १ । अ० ४ । व० २२ । मं० १ । अ० १० । सू०५८ मं०१।

[पदार्थ] "हे मनुष्यो !" [यत्] जो [वित्त] विद्युत के समान स्वयंप्रकाशमान [सहोजाः] बल को उत्पादन करने हारा [अमृतः] स्वरूप से नाशरहित [होता] कर्मफल का भोक्ता मन और शरीर आदि सब का धर्ता [धारण करने हारा] और

[दूतः] सब के चलाने हारा [देवताता]=दिव्यपदार्थों के मध्य में दिव्यस्वरूप [अभवत्] होता है और जो [अधिष्ठेभिः] अधिष्ठानों के सहवर्त्तमान [पथिभिः] मार्गों से पृथिवी आदि लोक समूह के [रजः नु] शीघ्र २ बनाने हारे [विवस्वतः] [" मध्ये वर्त्तमानः सन् "] स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर के मध्य में वर्त्तमान होकर [हविषा] ग्रहण किये हुये शरीर से सहित [नितुन्दते] [नितराम् व्यथते] निरन्तर जन्म मरण आदि दुखों से पीड़ित होता है। [विवासति] अपने कर्मों के फलों का सेवन करता है [वि आममं] [व्याममं] " और अपने कर्म में " सब प्रकार से वर्त्तता है " सजीवात्मा वेदितव्यः "=सो जीवात्मा है, ऐसा तुम लोग जानो ॥

[भावार्थ] अनादि अर्थात् उत्पत्तिरहित, सत्यस्वरूप, ज्ञानमय आनन्द स्वरूप, सर्वशक्तिमान्, स्वप्रकाश स्वरूप, सब को धारण करने वाला, सब का उत्पादक, देश काल और वस्तुओं के परिच्छेद से रहित और सर्वव्यापक परमेश्वर के आधार में नित्य व्यापक सम्बन्ध से जो अनादि, नित्य, चेतन, अल्प, एक देशस्थ और अल्पज्ञ है, हे मनुष्यो ! वही जीव है, ऐसा तुम लोग निश्चित जानो ॥

[१] उपर्युक्त मन्त्र तथा उसके भावार्थ से ज्ञात होता है कि जीव अपने ज्ञान रूपी प्रकाश और सामर्थ्य को शरीरस्थ बुद्धि, इन्द्रिय, मन आदि समस्त स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों में फैलाकर फिर उन सब से यथावत् काम लेता है जैसे कछुआ इच्छानुसार अपने अङ्गों को फैला वा सकोड़ लेता है। दूसरे यह कि जीवात्मा अपने देह में सर्वज्ञ है, किन्तु व्यापक नहीं। निज देह में सर्वज्ञ न होता तो सर्वत्र देह का ज्ञान उस को न होता और जो देह में व्यापक होता तो कीड़ी में छोटा और

हाथी में बड़ा होना पड़ता, इस लिये व्यापक नहीं, अव्यापक ही है ॥

[२] इस वेदवाक्य से आधुनिक अद्वैतवादी [जीव ब्रह्म की एकता मानने वाले] तथा श्रीमान स्वामी शङ्कराचार्योद्दिष्ट मतानुयायी आदिक के मत का सर्वथा खंडन होता है क्योंकि अग्नि के दृष्टान्त से जीव ईश दोनों अर्थात् १ सर्वज्ञ और ज्योतिःस्वरूप परमात्मा (ब्रह्म) और २-अल्पज्ञ और स्वयं प्रकाशमान जीवात्मा (जीव) का भिन्नत्व (भेदभाव) स्पष्टतया दर्शा दिया गया है ॥

ओं—आ स्वमद्मयुवमानो अजरस्तृ विष्वयन्नतसेषु तिष्ठति । अत्योन पृष्ठं प्रुषितस्य रोचते दिवो न सानु स्तनयन्नचिक्रदत् ॥ २ ॥

ऋ०अ० १ । अ० ४ । व० २२ । मं०२ अ०१० सू०५८ मंत्र ।

पदार्थः—"यो" जो (युवमानाः) संयोग और विभाग करता है "स्वस्वरूपेण" "अपने स्वरूप से" (अजरः) जीर्णावस्था वा जरादि रोगरहित है (देहादिकम्) देह आदि की [अविष्वन्] रक्षा करने वाला होता हुआ [अतसेषु] आकाश पवनादि विस्तृत पदार्थों में [तिष्ठति] वर्त्तमान वा स्थित रहता है, (प्रुषितस्य = स्निग्धस्य पूर्णस्य मध्येस्थितः सन्) पूर्ण परमात्मा के आधार में कार्यका सेवन करता हुवा (अत्यः = अश्वः न = इवपृष्ठम् = पृष्ठ भागम्, अर्थात् पृष्ठमत्योन देहादि वहति) जैसे घोड़ा अपनी पीठ पर भार को लाद कर लेजाता है उस ही प्रकार देहादि के भार को जो वाहन है (दिवः) सूर्य के प्रकाश से (न = सानु) जैसे पर्वत के शिखर वा मेघ की घटा प्रकाशित होती है, वैसे (रोचते)

प्रकाशमान होता है। (स्तनयन् शब्दयन् अर्थात् विद्युत्स्तनयन्निव) बिजुली शब्द करती है। वैसे (अचिक्रदत्=विकलयति) सर्वथा शब्द करता है।

(स्वम् स्वकीयम्) अपने किये (अदम् अत्तुमर्हं कर्मफलं) भोक्तव्य कर्म को (तृपु शीघ्रम्) शीघ्र (आ समन्तात्) सब प्रकार से (भुंक्ते) भोगता है (स देही जीव इति मन्तव्यम्) वह देह का धारण करने वाला जीव है, यह बात निश्चित जानो ॥

[भावार्थ] जिस को पूर्ण ईश्वर ने धारण किया है, जो आकाशादि तत्वों में प्रयत्न करता है, जो सब बुद्धि आदि का प्रकाशक है और जो ईश्वर के न्यायनियम से अपने किये शुभाशुभ कर्म के सुख दुख रूप फल को भोगता है, सो इस शरीर में स्वतंत्र कर्ता भोक्ता जीव है। ऐसा सब मनुष्यों को जानना और मानना उचित है।

इस मन्त्र में भी जीव और ईश के यथार्थ लक्षण और स्वरूप का वर्णन कर के दोनों का भेदभाव स्पष्टता से जनाया गया है ॥

ओं—रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥

ऋ० अ०४ । अ०७ । व०३३ । मं०६ । अ०४ । सू०४७ । म०१८ ।

(अर्थ) (हे मनुष्याः) हे मनुष्यो ! (यः) जो (इन्द्रः-मायाभिः) जीव बुद्धियों से (प्रतिचक्षणाय) प्रत्यक्ष के लिये (रूपं रूपम्) रूप रूप के (प्रतिरूपः) प्रति रूप अर्थात् जिस देह को जीव धारण करता है, उस२ प्रत्येक देह के स्वरूप से तदाकार वर्तमान (बभूव) होता है और (पुरु रूपः) बहुत

शरीर धारण करने से अनेक प्रकार का (ईयते) पाया जाता है (तत्) वह (अस्य जीवात्मनः) इस शरीर धारण किये हुये जीवात्मा का वा शरीर का (रूपम्) रूप (अस्ति) है अस्य (देहिनः) इस 'देहधारी जीवात्मा के' (हि) निश्चय करके (दश) दश संख्यासे विशिष्ट और (शता) सौ संख्या से विशिष्ट (हरयः) घोड़ों* के समान इन्द्रिय अन्तःकरण और प्राण (युक्ताः शरीरं वहन्ति) युक्त हुवे शरीरको धारण करते हैं (तत्) वह (अस्य सामर्थ्यं वर्त्तते) इस जीवात्मा का सामर्थ्य है ॥

(भावार्थ) हे मनुष्यो ! जैसे बिजुली पदार्थ२ के प्रतिरूप होता है वैसे ही जीव शरीर२ के प्रति तत्तत्स्वभाव वाला होता है और जब बाह्य विषय के देखने की इच्छा करता है, तब उस को देख कर तत्स्वरूप ज्ञान इस जीव को होता है, और जो जीव के शरीर में बिजली के सहित असंख्य नाड़ियां हैं, इन नाड़ियोंसे यह सब शरीरके समाचार को जानता है ।

ओं—क्राणा रुद्रेभिर्वसुभिः पुरोहितो होता निषत्तो रयिषाडमर्त्यः । रथो न विक्ष्वृञ्जसान आयुषु व्यानुषग्वार्या देव ऋण्वति ॥ ऋ०अ०१ । अ०४ । व०२३ । म०१ । अ०११ । सू०५८ । मन्त्र ३ ॥

[पदार्थ] यः=जो (रुद्रेभिः=प्राणैः) प्राणों [वसुभिः पृथिव्यादिभिरष्टवसुभि सह) तथा वास देने हारे पृथिव्यादि आठ वसुओं के साथ (निषत्तः=निसत्तः स्थितः) स्थित और चलने फिरने हारा (होता अत्ता सत्यादाता कर्मफल का भोक्ता और देहादि का धारण करने हारा (पुरोहित=पूर्व

* हरयः=अश्वइवेन्द्रियाऽन्तःकरणप्राणाः ।

ग्रहीता] प्रथम ग्रहण करने योग्य (रयिषाड् यो रयिं द्रव्यं स-हते) धन सहन करने हारा अमर्त्यः=नाश रहितः] अपने स्वरूप से मरण धर्म रहित कारणा=कर्त्ता] कर्मों का कर्त्ता [ऋञ्जसानः=यो ऋञ्जति प्रसाध्नोति सः] किये हुए कर्मको प्राप्त होने वाला [विक्षु=प्रजासु] प्रजाओं में [रथः=रम-णीयस्वरूपः] रथ के [न=इव] समान सहित होके [आ-युषु बाल्ययौवनजराद्यवस्थासु] बाल्यादि जीवनावस्थाओं में [आनुषक अनुकूलतया] अनुकूलता से वर्त्तमान [वर्या=धर्तुं योग्यानि वस्तूनि सुखानि वा] उत्तम सुखद पदार्थों वा सुखों को [व्यृण्वति=वि= विशिष्टार्थे । ऋण्वति=कर्माणि साध्नोति] तथा कर्मों को विविध प्रकार से सिद्ध करता है [देवः=देदीप्यमानः] अर्थात् सएव देवो जीवात्माऽस्तीति वेद्यम] वही शुद्ध प्रकाश स्वरूप जीवात्मा है ऐसा निश्चय करके जानो ॥

[भावार्थ] जो पृथिवी में प्राणों के साथ चेष्टा, रथ के समान शरीर के साथ मनके अनुकूल क्रीडा, श्रेष्ठ वस्तु और सुख की इच्छा करते हैं, वे ही जीव हैं, ऐसा सब लोग जानें।

ओं-विवाजूतो अतसेषु तिष्ठते वृथा जुहूभिः सृण्या तुविष्वणिः । तृषु तदग्ने वनिनो वृषायसे कृष्णन्त एम रुशदूर्मे अजर ॥ ऋ० अ०१ अ०४ व०२३ । मं०१ अ० ११ सू० ५८ मन्त्र ४ ॥

[पदार्थ] हे [रुशदूर्मे=रुशन्त्य ऊर्मयो ज्वाला यस्यत-त्सम्बुद्धौ] अपने स्वभाव की लहर से युक्त [अजर=स्वयं जरादिदोषरहित] अपने स्वरूप से स्वयं जरा [वृद्धा] अ-वस्थादि से रहित [अग्ने विद्युद्वर्त्तमान यस्त्वम्] बिजुली के तुल्य वर्त्तमान जीव जो तू [अतसेषु=विस्तृतेष्वाकाशपव-

नादिषु पदार्थेषु व्याप्तव्येषु तृणकाष्ठभूमिजलादिषु वा] आकाश पवनादि विस्तृत नाम व्यापक पदार्थों में वा तृण काष्ठ भूमि जलादि व्याप्तव्य पदार्थोंमें [वि तिष्ठते=विशेषेण वर्त्तते] विशेष करके ठहरता है [यत् यः]जो वातजूतः=वातेन वायुना जूतः प्राप्तवेगः] वायु का प्रेरक और वायु के समान वेग वाला [तुविष्वणिः=यस्तुविषो बहून् पदार्थान् वनति सम्भजाति सः] बहुत पदार्थों का सेवक [जुहुभिः जुह्वति याभिः क्रियाभिः] ग्रहण करनेके साधनरूप क्रियाओं और [स्रुण्या धारणेन हननेन वा] धारण तथा हननरूप कर्मके साथ वर्त्तमान [वनिनः=प्रशस्ता रश्मयो धनानि वा येषां-येषु वा तान्] किरण्युक्त प्राणों को प्राप्त होके [त्वम् क्षु शीघ्रम्] तू शीघ्र ही [वृषायसे=वृष इव आचारसि] वृष के समान् बलवान् होता है [यस्य ते, कृष्णम्=कर्षति विलिखति येन ज्योतिःसमूहेन तम्] जिस तेरे कर्षणरूप गुण को वयम् [एम विज्ञाय प्राप्नुयाम] जान कर हम लोग प्राप्त होते हैं [सः त्वम् सो तू [वृथा व्यर्थे । वृथाभिमानं परित्यज स्वात्मानं जानीहि] वृथाभिमान को छोड़ के अपने स्वरूप को जान ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को ईश्वर उपदेश करता है कि जैसा मैंने जीव के स्वभाव का उपदेश किया है वही तुम्हारा स्वरूप है यह निश्चय जानो । इस मन्त्र से स्थावरों में जीवका होना सिद्ध होता है ॥

ओम्—तपुर्जम्भो वन आ वातचोदितो यूथे न साह्वाँ अव वाति वंसगः । अभिव्रजन् नक्षितं पाजसा रजः स्थातुश्चरथं भयते पतत्रिणः ॥ ५ ॥ ऋ० अ०१ अ०४ व०२३ । मं० १ अ०११ सू०५८ मन्त्र ५

पदार्थः—[यो] जो [धंसगः यो धंसान् संभक्तान् पदार्थान् गच्छति प्राप्नोति सः वने रश्मौ आ समन्तात्] भिन्न२ पदार्थों को सब ओर से प्राप्त होता है।

[वातचोदितः वायुना प्रेरितः] प्राणों से प्रेरित [तपुर्जम्भः तपंषि तापा जम्भो वक्त्रमिव यस्य सः] जिस का मुख के समान प्रताप वह जीव अग्नि के सदृश जैसे [यूथे सैन्ये न इव साक्षात् सहनशीलवीरों वा जीवः] सेना में सहनशील जीव [अवयाति अव विनिग्रहे याति गच्छति] अर्थात् विस्तृतो भूत्वा हिनस्ति सब शरीर को चेष्टा कराता है अर्थात् विस्तृत होके दुःखों का हनन करता हैं यो [अभिव्रजन् अभितः सर्वतो गच्छन्] जो सर्वत्र जाता आता हुआ [चरन्थम् चर्यते गम्यते भक्ष्यते यस्तम्) चरने हारे [अक्षितम् क्षयरहितम्] क्षयरहित [एजः सकारणं लोक समूहम्) कारण के सहित लोक समूह को (पाजसा बलेन] बल से [धरति] धारण करता है [स्थातुः कृतस्थिते पतत्रिणः पक्षिणः स्थातुस्तिष्ठतो वृक्षादेर्मध्ये पतत्रिण इव] स्थिर वृक्ष में बैठे हुए पक्षी के समान [भगते भयं जनयति] भय उत्पन्न करता है [हे मनुष्यस्तद्युष्माकं मात्मस्वरूपमस्तीति विजानीत] हे मनुष्यों ! वह तुम्हारा आत्म स्वरूप है । इस प्रकार तुम लोग जानो ॥

भावार्थः-जो अन्तकरणचतुष्टय [अर्थात् मन बुद्धि, चित्त, अहंकार] प्राण [प्राणादि दश वायु] और इन्द्रियों [श्रोत्रादि दश इन्द्रिय] का प्रेरक, इनका धारण करने हारा, नियन्ता, स्वामी तथा इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख और ज्ञान आदि गुण वाला है, वह इस देहमें जीव है सब मनुष्योंको उचित है कि ऐसा सब लोग जाने ।

न्याय तथा वैशेषिक में भी इसी प्रकार के कर्म और गुण जीव के कहे हैं। यथा—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिङ्गमिति।

न्याय० अ० १। सू० १०॥

जिस में [इच्छा] राग, [द्वेष] वैर, [प्रयत्न] पुरुषार्थ सुख दुःख, [ज्ञान] जानना, गुण हों वह जीवात्मा कहाता है। वैशेषिक में इतना विशेष है कि:—

प्राणाऽपाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनोलिंगानि॥

वै०। अ० ३। आ० २। सू० ४।

[प्राण] बाहरसे वायु को भीतर लेना अर्थात् श्वास लेना [अपान] भीतर से वायु को निकालना अर्थात् प्रश्वास छोड़ना [निमेष] आँख को नीचे ढाँकना आँख मीचना वा पलक मारना [उन्मेष] आँख को ऊपर उठाना अर्थात् आँख वा पलक खोलना [जीवन] प्राण का धारण करना अर्थात् जीवित रहना, जीना [मनः] मनन विचार अर्थात् ज्ञान [गति] यथेष्ट-गमन करना अर्थात् चलना फिरना आना जाना [इन्द्रिय] इन्द्रियों को विषयों में चलना, उनसे विषयों का ग्रहण करना [अन्तर्विकार] क्षुधा, तृषा, ज्वर, पीड़ा आदि विकारों का होना और पूर्वोक्त सुख दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न, ये सब आत्माके लिंग अर्थात् कर्म और गुणहैं।(स०प्र०पृ०६०समु०३)

ओं—दधुष्ट्वा भृगवो मानुषेष्वा रयिं न चारुं सुहवं जनेभ्यः। होतारमग्ने अतिथिं वरेण्यं मित्रं न शेवं दिव्याय जन्मने॥ ६॥

ऋ० अ० १ अ० ४ व० २४। मं० १ अ० ११ सू० ५८ मन्त्र ६.

पदार्थः—हे [अग्ने] हे अग्नि के सदृश स्वप्रकाशस्वरूप जीव ! " यं [त्वा त्वाम्] जिस तुझको [भृगवः परिपक्व-विज्ञान मेधाविनो विद्वांसः] परिपक्व ज्ञान वाले मेधावी विद्वान् । लोग [मानुषेषु मानवेषु] मनुष्यों में [जनेभ्यः विद्वद्भ्योमनुष्यादिभ्यः विद्यां प्राप्य] विद्वानों के सङ्ग से विद्या को प्राप्त होके [चारुम् सुन्दरम्] सुन्दर स्वरूप वाले [सुहवम् सुखेन होतुम् योग्यम्] सुखों के देने हारे [रयिम् न धनमिव] धन के समान [होतारम् दातारम्] दान शील [अतिथिम् न विद्यते नियता तिथिर्यस्य तम्]अनियत स्थिति वाले अर्थात् अतिथि के सदृश देह देहान्तर और स्थान स्थानान्तर में जाने हारे (वरेण्यम् वरितुमर्हं श्रेष्ठम्) ग्रहण करने योग्य (शेवं सुखस्वरूपम्) सुखरूप [मित्रं न सखायमिव जीवं लब्ध्वा] मित्र के सदृश जीव को प्राप्त होके [दिव्याय दिव्यभोगान्विताय] शुद्ध वा दिव्य सुख भोगोंसे संयुक्त [जन्मने प्रादुर्भावाय. जन्म के लिये [आदधुः आ समन्तात्] [धरन्तु] सब प्रकार धारण करते हैं तमेव [तमेवजीव विजानीहि] उसी को तू जीव जान ।

भावार्थः—जैसे मनुष्य विद्या वा लक्ष्मी तथा मित्रों को प्राप्त होकर सुखों को प्राप्त होते हैं,वैसे ही जीव के स्वरूप को जानने वाले विद्वान् लोग अत्यन्त सुखों को प्राप्त होते हैं ।

सारांश यह है कि जीव को स्वशरीरस्थ तथा संसारस्थ पदार्थों का और अपने भी स्वरूप का जब यथावत् ज्ञान होता है, तब उसको समस्त आनन्द भोग और सुख प्राप्त होते हैं ।

अतएव मूल सिद्धान्त यह निकला कि सबको अपने आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये अवश्य पुरुषार्थ करना चाहिये, जिससे कि परमात्मा को भी जानकर मोक्ष प्राप्त हो । इस मन्त्र से पुनर्जन्म भी सिद्ध होता है ।

ओं-होतारं सप्त जुह्वो यजिष्ठम् यं वाघतो वृणते अध्वरेषु। अग्निं विश्वेषामरतिं वसूनां सपर्यामि प्रयसा यामि रत्नम् ॥ ७ ॥

ऋ०अ० १ आ० ४ व० २४। मं० १ अ० १० सू०५८ मं० ७

पदार्थः-[हे मनुष्या] हे मनुष्यों! [यस्य] जिस के [सप्त सप्तसंख्याकाः] सात [जुह्वः याभिर्जुह्वत्युपदिशन्ति परस्परं ताः] सुख की इच्छा के साधन हैं कि जिनसे विद्वान् लोग परस्पर उपदेश करते हैं "तम्" उस [होतारम् सुखदातारम्] सुखों के दाता [यजिष्ठम अतिशयेन यष्टारम्] अतिशय संगति में निपुण [विश्वेषां वसूनाम्] सर्वेषां पृथिव्यादीनाम] सब पृथिव्यादि लोकों के [अरतिम् प्रापकम्] प्राप्त होने हारे [यम् शिल्पकार्योपयोगिनम्। जिस शिल्पविद्या से उपयोग लेने वाले को [वाघतः मेधाविनः] बुद्धिमान् लोग [प्रयसा प्रयत्नेन] पुरुषार्थपूर्वक प्रीति से [अध्वरेषु अनुष्ठातव्येषु कर्ममयेषु यज्ञेषु] कर्मकाण्डमय कर्त्तव्य यज्ञ कर्मों में अर्थात् अहिंसनीय गुणों में अग्निम् पावकम्] अग्नि के सदृश [वृणते संभजन्ते] स्वीकार करते हैं "तम्" उस [रत्नम् रमणीयानन्दस्वरूपम्] रमणीयानन्द स्वरूप वाले जीव को अहम् [यामि प्राप्नोमि] मैं प्राप्त होता हूं और [सपर्यामि परिचरामि] सेवा करता हूं।

भावार्थः-जो मनुष्य अपने आत्मा को जान के परब्रह्म को जानते हैं वे ही मोक्षको पाते हैं अभिप्राय यही हैकि जीवात्मा और परमात्मा दोनों भिन्न भिन्न हैं। इनके भेदभाव का जब यथावत् ज्ञान होता है, तबही सम्पूर्ण क्लेशोंकी निवृत्ति और मोक्ष रूपी आनन्द की प्राप्ति होती है। किन्तुजो लोग अहं ब्रह्मास्मि के अभिमानी होते हैं; उन को परमात्मा का भय न

होने के कारण न लोदुष्कर्मों से निवृति और न मोक्ष की प्राप्ति संभव है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परंमनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तुसः ।*भ०गी०अ०३श्लो०४२

अर्थ-विद्वान् लोग कहते हैं कि स्थूलशरीर और शरीरस्थ प्राणादि वायुओं की अपेक्षा इन्द्रियों और उनकी शक्तियां तथा उन के विषय परे हैं। मन की अपेक्षा बुद्धि और बुद्धि से भी परे वह (जीवात्मा) है। इस श्लोक से यह भी आशय निकलता है कि जीवात्मा से भी अत्यंत परे श्रेष्ठ वा सूक्ष्म परमात्मा है। जैसा कि इस ग्रन्थ में कठोपनिषत् वल्ली ३ मं० १० और ११ के प्रमाण द्वारा पूर्व कहा गया है॥

परमात्मज्ञान

वा

ब्रह्मज्ञान

आगे ईश्वर विषय का वर्णन करते हैं:—

ओं—सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः । य० अ० ४० मं० ८

निर्गुण ईश्वर की स्तुति सगुण ईश्वर की स्तुति ।

अर्थ-वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी, अनन्त

---

*यहां 'सः' इस पद से जीवात्मा और परमात्मा दोनों ग्राह्य हैं ऐसे ही अन्य स्थलों में 'आत्मा' 'पुरुष' 'चेतन' आदि एक २ पद से प्रकरणानुकूल दोनों का ग्रहण बहुधा होता है।

बलवान शुद्ध, सर्वज्ञ, सब का अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, और स्वयंसिद्ध है और अपनी जीवरूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेदद्वारा कराता है ॥

तथा वह कभी शरीर धारण नहीं करता अर्थात् जन्म नहीं लेता उस में छिद्र नहीं होता, वह नाड़ी आदि के बंधन में नहीं आता और कभी पापाचरण नहीं करता अर्थात् क्लेश दुख वा अज्ञान उसको कभी नहीं होता अर्थात् वह परमात्मा रागद्वेषादि दुर्गुणों से सर्वथा रहित है ॥

इस मन्त्र में ईश्वर की सगुण और निर्गुण स्तुति है तथा, ईश्वर के अवतार का सर्वथा निषेध है और यह बात भी सिद्ध है कि जैसे जीवात्मा अज्ञानवश पापाचरणों में फंसकर दुखादि क्लेशों को प्राप्त होता है, उस प्रकार परमात्मा कभी न तो पापाचरणों को करता है और न अविद्यादि क्लेशों में पड़ता है। जैसा कि ' क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः , इस सूत्र में पूर्व कहागया है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ श्वेताश्वतर उप० अ० ३ मं० १६

(अर्थ) परमेश्वर के हाथ नहीं, परन्तु अपनी शक्ति रूप हाथ से सब का रचन ग्रहण करता है। पग नहीं, परन्तु व्यापक होने से सब से अधिक वेगवान् है। चक्षु का गोलक नहीं परन्तु सब को यथावत् देखता है। श्रोत्र नहीं, तथापि सब की बात सुनता है। अन्तःकरण नहीं परन्तु सब जगत् को जानता है और उस को अवधि सहित जानने वाला कोई भी नहीं। उसी को सनातन, सब से श्रेष्ठ, सब में पूर्ण होने से पुरु-

प कहते हैं। अर्थात् ईश्वर इन्द्रियों और अन्तःकरण के विना अपने सब काम अपने सामर्थ्य से करता है। यही विलक्षणता दर्शायी है कि जीव और ईश भिन्न २ हैं॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वभाविकीज्ञानवल क्रिया च ॥ श्वेताश्वतर उप० अ० ६ मं०८

(अर्थ) परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य और उसको करण अर्थात् साधकतम दूसरा अपेक्षित नही। न कोई उस के तुल्य और अधिक है। सर्वोत्तम शक्ति अर्थात् जिस में अनन्त ज्ञान अनन्तवल और अनन्तक्रिया है, वह स्वभाविक अर्थात् सहज उस में सुनी जाती है इस मन्त्र से भी जीव और ईश का भिन्नत्व स्पष्ट सिद्ध है॥

ओं—अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति। य० अ० ४० मं० ४

(अर्थ) (हे विद्वांसो मनुष्या) हे विद्वान् मनुष्यो (यत्) जो (एकम्) अद्वितीय (अनेजत्) नही कंपने वाला अर्थात् अचल। अपनी अवस्था से हटना कंपन कहाता है उस से रहित (मनसः) मन के वेग से भी (जवीयः) अति वेगवान (पूर्वम्) सव से आगे (अर्षत्) चलता हुआ अर्थात् जहां कोई चलकर जावे वहां प्रथम ही सर्वत्र व्याप्ति से पहुंचता हुआ ब्रह्म है (एनत्) इस पूर्वोक्त ईश्वर को (देवाः) चक्षु आदि इन्द्रिय (न) नहीं (आप्नुवन्) प्राप्त होते (तत्) वह परब्रह्म (तिष्ठत्) अपने आप (स्वत्रं) स्थिर हुआ अपनी अनन्त व्याप्ति से (धावतः) विषयों की ओर गिरते हुये

(अन्यान्) आत्मा के स्वरूप से विलक्षण मन वाणी आदि इन्द्रियों का (अति एतिअत्येति) उल्लंघन कर जाता है (तस्मिन) उस सर्वत्र अभिव्याप्त ईश्वर की स्थिरता में (मातरिश्वा) मातरि=अन्तरिक्षे श्वसिति=प्राणान् धरति वायुः तद्वत्=जीवः) अन्तरिक्ष में प्राणों का धारण करने हारे वायु के तुल्य जीवात्मा (अपः) कर्म क्रिया को (दधाति) धारण करता है (इति विजानति) यहबात तुम लोग विशेष निश्चय करके जानो ।

[भावार्थ] ब्रह्म के अनन्त होने से जहां २ मन जाता है, वहां २ प्रथम से ही अभिव्यास, पहिले से ही स्थिर, ब्रह्म वर्त्तमान है, उस का विज्ञान शुद्ध मन से होता है । चक्षु आदि इन्द्रियों और अविद्वानों से देखने योग्य नहीं है । वह आप निश्चित हुआ सब जीवों को नियम से चलाता और धारण करता है । उस के अति सूक्ष्म होने तथा इन्द्रियगम्य न होने के कारण धर्मात्मा विद्वान योगीको उसका साक्षात् ज्ञान होता है अन्य को नही ॥

ओम्-तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्यवाह्यतः य० अ०४० म० ५ ॥

अर्थ (हे मनुष्यः) हे मनुष्यो ! (तत् ब्रह्म) वह ब्रह्म (एजति) मूर्खों की दृष्टि से चलायमान होता है । (तत्) वह (न) अपने स्वरूप से न (एजति) और न चलाया जाता है (तत् दुरे) वह अधर्मी अविद्वान् अयोगियों से दूर अर्थात् करोड़ों वर्ष में भी नहीं प्राप्त होता (तत्) वह (उ) ही (अन्तिके) धर्मात्मा विद्वान् योगियों के समीप है (तत्) वही(अस्य) इस (सर्वस्य) सब जगत् वा जीवों के (अन्तः) भीतर है (उ) वह (अस्य) इस (सर्वस्य) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूप जगत्

(बाह्यतः वर्त्तते) बाहर भी वर्त्तमान है (इति निश्चिनुत) यह बात तुम निश्चय करके जानो।

(भावार्थ) हे मनुष्यो ! वह ब्रह्म मूढ़ की दृष्टि में कांपता जैसा है, वह आप व्यापक होने से कभी चलायमान होता। जो जन उसकी आज्ञासे विरुद्ध हैं वे इधर उधर भागतेहुए भी उसको नहीं जानते और जो ईश्वर की आज्ञा का अनुष्ठान करने वाले हैं वे अपने आत्मा में स्थित अतिनिकट ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। ब्रह्म सब प्रकृति आदि के बाहर भीतर अवयवों में अभिव्याप्त होके अन्तर्यामी रूप से सब जीवों के पाप पुण्य कर्मों को जानता हुआ यथार्थ फल देता है, यही सबको ध्यान में रखना चाहिये और उसी से सबको डरना चाहिये।

ओम्—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभी चाकशीति ॥

ऋ०अ०२। अ०३। व०१७। मं०१ अ०२२। सू०१६४। मं० २०

(अर्थ) 'हे मनुष्याः'हे मनुष्यो। (यौ)यो(द्वा''ब्रह्मजीवौ पक्षिणौ)ब्रह्म और जीव दो पक्षी (पखेरू) (सुपर्णा) शोभनानि पर्णानि गमनागमनादीनि कर्माणि वा (ययोस्तौ अथवा पालनचेतनादिषु गुणेषु सदृशौ) सुन्दर पंखों वाले अर्थात् गमनागमनादि कर्मों में एक से अथवा चेतनता और पालनादि गुणों में सदृश [सयुज यौ] समानसम्बन्धौ व्याप्यव्यापकभावेन सहैव युक्तौ वा] समान सम्बन्ध रखने वाले अथवा व्याप्यव्यापक भाव वा सम्बन्ध से संयुक्त रहने वाले [सखाया मित्रवद्वर्त्तमानौ अनादि सनातनौ समानख्याती आत्मापदवाच्यौ वा] परस्पर मित्रतायुक्त वर्त्तमान और अनादि तथा सनातन अथवा चेतन वा आत्मादि एक से नाम से कहाने

वाले हैं और "[समानम्=तमेववैकम्] उस एक ही [वृक्षम् यो वृश्च्यत छिद्यते तं:कार्यकारणाख्यम्] वृक्ष का, जो काटा जाता है अर्थात् अनादिमूलरूप कारण और शाखा रूप कार्ययुक्तवृक्ष जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न भिन्न हो जाता है। उस कार्यकारणरूप वृक्ष का [परिषस्वजाते सर्वतः स्वजेते आश्रयतः) सर्वथा आश्रय करते हैं [तयोर्जीवब्रह्मणोरनाद्योर्द्वयोः] उन ब्रह्म और जीव दोनों अनादि पदार्थों वह इस में से [अन्यः एको जीवःस वृक्षरूपेऽस्मिञ्जगति]एक जो जीव है वृक्षरूप संसार में [पिप्पलम् परिपक्वफलम् पापपुण्यजन्यं सुखदुःखात्मकभोगम् वा] पापपुण्यजन्य सुखदुःखात्मक परिपक्व फल रूप भोग को [स्वादु अत्ति=स्वादुभुंक्ते] स्वादु ले लेकर अच्छे प्रकार भोगता है [अन्यः=परमात्मा=ईश्वरः] और दूसरा अर्थात् परमात्मा ईश्वर] अनश्नन्=उक्तभोगमकुर्वन्] उक्त कर्मों के फलों को न भोगता हुआ [अभि=अभितः=सर्वतः) चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वथा [चाकशीति=पश्यति] प्रकाशमान हो रहा है (अर्थात् साक्षि भूतःपश्यन्नास्ते] साक्षीरूप होकर जीवकृत व्यवहारों को देखता हुआ व्यापक हो रहा है।

अर्थात् जीव ईश इन दोनों में से एक तो चलने फिरने आदि अनेक क्रियाओं का करने वाला, दूसरा क्रियाजन्य काम को जानने वाला, दोनों क्रमपूर्वक व्याप्य व्यापक भावके साथ ही सम्बन्ध रखते हुये मित्रों के समान वर्त्तमान हैं। और समाज कार्यकारणरूप देह और ब्रह्माण्ड का आश्रय करते हैं। उन दोनों अनादि जीव ब्रह्म में जो जीव है वह पाप पुण्य से उत्पन्न हुये सुखदुःखात्मक भोग को स्वादुपन से भोगता है और दूसरा महात्मा न तो कर्मों को करता ही है और न विवेक=ज्ञान की अत्यन्त अधिकता वा प्रबल प्रकाश

के कारण भोगता ही है, किन्तु उक्त भोगते हुये जीवात्मा को सब ओर से देखता है, अर्थात् उस जीवात्मा के कर्मों का साक्षी परमात्मा है।

[भावार्थ] [१] जीवात्मा, [२] परमात्मा [३] ब्रह्मात्मा और पूर्वोक्त महान् [आत्मा] जगत् का कारण [प्रकृति] ये तीन पदार्थ अनादि और नित्य हैं। जीव ईश (परमात्मा] यथाक्रम से अल्प, अनन्त, चेतन, विज्ञानवान्, सदा विलक्षण [अर्थात् एक दूसरे से भिन्न गुण कर्म स्वभाव लक्षणादि वाले] व्याप्य व्यापक भाव से संयुक्त और मित्र के समान हैं वैसे ही जिस अव्यक्त परमाणुरूप कारण से कार्यरूप जगत् होता है वह भी अनादिः और नित्य है। समस्त जीव पाप पुण्यात्मक कर्मों को करके उनके फलों को भोगते हैं और ईश्वर एक सब ओर से व्याप्त होता हुआ न्याय से पाप पुण्य के फलों को देने से न्यायधीश के समान देखता है।

इस मन्त्र में अत्यन्त स्पष्टता के साथ जीव और ईश इन दोनों के भेदभाव को दर्शाया है। क्योंकि द्विवचनान्त पदों के प्रयोग से जीव और ब्रह्म इन दोनों के पृथक् २ होने में किञ्चि-न्मात्र भ्रम नहीं रहता। इन दोनों को एक मानने रूप जो भ्रम कभी किसी को होता भी है तो उसका कारण यह है। कि आत्मा, पुरुष, चेतन, सनातन, नित्य शुद्ध, अजर, अमर, आदि विशेषण गौण और मुख्यभाव से दोनों में घट जाते हैं। अतः आत्मा पुरुष आदि नाम से दोनों ही कहाते हैं किन्तु प्रकरण-वित् विद्वानों को उस शब्दप्रयोग से तात्पर्यार्थ जान लेना कठिन नहीं है। अविद्वान् पुरुष वा हठी के लिये वह वचन ठीक ही है कि–" ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति " ब्रह्मा भी उस पुरुष को समझा कर प्रसन्न वा सन्तुष्ट नहीं कर सकता।

वर्त्तमान समय से आर्यावर्त्तमें अद्वैतवाद अधिक प्रचलित

है, इसी कारण इस विषय को स्पष्ट करने की आवश्यकता जानी गई।

ओम्–त्रिपाजस्यो वृषभो विश्वरूप उत त्र्युधा पुरुध प्रजावान्। त्र्यनीकः पत्यते माहिनावान्त्सरेतोधो वृषभः शश्वतीनाम् ॥

ऋ०अ०३। अ०४। व० १। मं०३। अ०५। सू०५६। मं०३

[अर्थ] [हे] हे [पुरुध] बहुतों को धारण करने वाले [विद्वन्] विद्वान् पुरुष [यः] जो [त्रिपाजस्यः] तीन अर्थात् शरीर, आत्मा और सम्बन्धियों के बलों में निपुण [वृषभः] वृष्टिकर्ता है [त्र्युधा] जिसमें तीन अर्थात् कारण, सूक्ष्म, और स्थूल बड़े हुवे जीव शरीर [विद्युत-इव] और अन्य सम्पूर्ण रूप विद्यमान हैं "जो विजुली के सदृश" है [उत] और (प्रजावान्) बहुत प्रजाजन (त्र्यनीकः-इव) तथा त्रिगुणित सेना से युक्त के समान [माहिनावान्] बहुत सत्कारवान् है [पत्यते] "वा जो" स्वामी के सदृश आचरण करता है [सः] वह [वृषभ] अत्यन्त बलयुक्त [शश्वतीनाम्] अनादि काल से हुई प्रकृति और जीव नामक प्रजाओं का [रेतोधाः सूर्यइव वीर्यप्रदोऽस्तीति विजानीहि] जल के सदृश वीर्य का धारण करने वाले सूर्य के सदृश वीर्य का देने वाला जगदीश्वर है ऐसा जानो"

(भावार्थ) जो जगदीश्वर विजुली के सदृश सब जगह व्यापक होके प्रकाश कर्त्ता फिर न्यायाधीश स्वामी अनन्त महिमा से युक्त और अनादि जीवों का न्यायाधीश वर्त्तमान है, उस से डर के और पापों का त्याग करके प्रीति से धर्म का आचरण कर अपने अन्तःकरण में सब लोग उसी का ध्यान करें॥

ओ३म्—सस्त्वांसमिवत्मन-ऽग्निमित्था तिरोहितम् ।
एनंनयन्मातरिश्वा परावतो देवेभ्यो मथितंपरि ॥
ऋ० अ०३ । व०५ । म०३ । अ०१ । सू०६ । मन्त्र ५ ।

(अर्थ) (हे मनुष्याः) हे मनुष्यो ! (यथा) जैसे (मातरिश्वा परावतः देवेभ्यः वायु) दूर देश से विद्वानों के लिये (मथितम्) मथन किये (तिरोहितम् अग्निम् प्रच्छन्न. अग्नि को (सस्त्वासं परि आनयत् पर्यानयत् प्राप्त होते हुवे मनुष्य के समान) सब ओर से सब प्रकार प्राप्त कराता है (इत्था) इस प्रकार (तम्) उस एनम्) अग्नि को (त्मनात्मना आत्मना) आत्मा से (यूयं विजानीत) तुम लोग विशेष कर के जानो ॥

भावार्थ—हे मनुष्यों ! जैसे प्रयत्न के साथ मन्थन आदि से उत्पन्न हुए अग्नि को वायु बढ़ाता और दूर पहुंचाता है, तथा अग्नि प्राप्त हुए पदार्थों को जलाता और दूरस्थ पदार्थों को नहीं जलाता इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, विद्या योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान और सत्पुरुषों के संग से साक्षात् किया आत्मा और परमात्मा सब दोषों को जला के सुन्दर प्रकाशित ज्ञान को प्रकट कराता है ॥

—०—

कौन जीव आत्मविद्या को प्राप्त होता है

ओम्—य ईंचकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्शहिरूगिन्नु तस्मात् । स मतुर्योना परिवितो अन्तर्बहुप्रजानिर्ऋतिमाविवेश ॥ ऋ० अ०२ ॥ अ०३ । व०२० । मं १. अ २२ । सू० १६४ । मं० ३२ ॥

(अर्थ) (यः) जो (जीवः) जीव क्रिया मात्र (ईम् च, कार) करता है (सः) वह (अस्य स्वरूपम्) इस अपने स्वरूप को (न) नहीं (वेद) जानता (यः) जो (ईम्) समस्त क्रिया को (ददर्श स्वरूपं पश्यति) देखता और अपने स्वरूप को जानता है (सः) वह (तस्मात्) उस से (हिरुक्) अलग (सन्) होता हुआ (मातुः) माता के [योना] गर्भाशय को [अन्तः] बिच [परिवीतः] सब ओर से ढका हुआ [बहुप्रजाः ; जन्म लेने वाला [निर्ऋतिम्] भूमि को [इत्] ही [नु] शीघ्र [अविवेश] प्रवेश करता है ॥

भावार्थ–जो जीव कर्म करते हैं किन्तु उपासना और ज्ञान को नहीं प्राप्त होते वे अपने स्वरूप को भी नहीं जानते और जो कर्म उपासना और ज्ञान में निपुण हैं वे अपने स्वरूप और परमात्मा को जानने के योग्य है । जीवों के अगले अर्थात् गत जन्मों का आदि और पीछे होने वाले जन्मों का अन्त नहीं है, जब शरीर को छोड़ते हैं तब आकाशस्थ हो गर्भ में प्रवेश कर और जन्म पाकर पृथिवी में चेष्टा (क्रिया) वान् होते हैं ॥ इस मन्त्र से भी पुनर्जन्म स्पष्ट सिद्ध हैं ॥

बहुत लोग ईश्वर को निष्क्रिया जानते और मानते हैं सो यहां यह बात भी सिद्ध होती है कि ईश्वर में अनन्त विविध क्रिया विद्यमान है । । यदि वह निष्क्रिया होता तो जगत् की उपत्ति स्थिति प्रलय न कर सकता, अतः वह विभु तथाचे : तन होने से उस में क्रिया भी है किन्तु विना किसी साधन व सहायक के अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब कुछ करता है । यही जीव की अपेक्षा ईश में विलक्षणता है जिस से वे दोनों परस्पर भिन्न२ जाने जाते है ॥

इत्यादि सत्य सत् शास्त्रों के अनेक वाक्यों से ईश्वर और जीव भाव प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, भिन्न२ पाये जाते हैं।

इत्यलम्बुद्धिमद्वरसज्जनेषु

—o—

विज्ञानोपदेश

योगी का कर्त्तव्य।

अथेश्वरः प्राथमकल्पिकाय योगिने विज्ञानमाह

योग में प्रथम ही जो कोई प्रवृत्त होता है, उस के लिये ईश्वर ने जिस प्रकार वेद द्वारा विज्ञान का उपदेश किया है सो आगे वर्णन करते हैं॥

ओम्-अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्। सजुर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व १ यजु० अ० ७ मं० ५

[अर्थ] [मघवन् हे परमोत्कृष्टधनितुल्य योगिन्) हे परम उत्कृष्ट धनी के समान योगी ! (ते अन्त. अहम् आकाशाभ्यन्तर इव तव शरीराभ्यन्तरे हृदयाकाशे] आकाशान्तर्गत अवकाश के तुल्य तेरे शरीरके अन्तर्गत हृदयाकाश में "मैं परमेश्वर [द्यावापृथिवीं इव भूमि सूर्याविव विज्ञानादिपदार्थान्] सूर्य और भूमि के समान विज्ञानादि पदार्थों को (दधामि=स्थापयामि) स्थापित करता हू (उरु अन्तरिक्षं=बहुविस्तृतं अन्तरालमवकाशम्) बहुत विस्तारयुक्त अवकाश को [अंतः दधामि शरीराभ्यन्तरे स्थापयामि] शरीर के भीतर धरता हूं [सजु त्वम् मित्रइव त्वम्] मित्र समान तू [देवेभिः वि-

द्भिः प्राप्तैः] विद्वानों से विद्या को प्राप्त होके [अवरैः परैः च निकृष्टैः उत्तमैश्वर्यव्यवहारैः सह च] थोड़े वः बहुत योग व्यवहारों से [अन्तर्यामे यमानामयं यामः अन्तश्चासौ यामश्च तस्मिन्नन्तर्यामे वर्त्तमानः सन्] भीतर ले नियमोंमें वर्त्तमान होकर [मादयस्व अन्यान् हर्षयस्व] अन्य सबको प्रसन्न किया कर।

भावार्थ—ईश्वर का यह उपदेश है कि ब्रह्माण्ड में जिस प्रकार के जितने पदार्थ हैं उसी प्रकार के उतने ही मेरे ज्ञानमें वर्त्तमान हैं। योग विद्या को नहीं जानने वाला उन को नहीं देख सकता। और मेरी उपासना के विना कोई योगी नहीं हो सकता॥

पुनरीश्वरो जिज्ञासुं प्रत्याह

फिर ईश्वर योगविद्या चाहने वाले के प्रति उपदेश करता है,

ओम्—स्वांकृतोसि विश्वेभ्यऽइन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा। त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यऽउदानायत्वा॥ २॥ य० अ० ७ मं० ६

(अर्थ)—(सुभव हे सुष्ठ्वैश्वर्यवन् योगिस्त्वम्) हे शोभन ऐश्वर्ययुक्त योगी! तू (स्वाँकृतः असि स्वयं सिद्धोऽनादिस्वरूपोऽसि "अहम्" "मैं") अनादिकाल से स्वयं सिद्ध है विश्वेभ्यः अखिलेभ्यः समस्त दिव्येभ्यः निर्मलेभ्यःशुद्ध) (देवेभ्यः प्रशस्तगुणपदार्थेभ्यो विद्वद्भ्यश्च प्रशस्त गुणों, प्रशंसनीय पदार्थों तथा प्रशंसनीय गुण और पदार्थों से युक्त विद्वानों (इन्द्रियेभ्यः कार्यसाधकतमेभ्य इन्द्रियेभ्यः)कार्य सिद्ध करने के लिये उत्तम साधकरूप इन्द्रियों और (मरीचिपेभ्यः रश्मिभ्यः)योगके प्रकाशयुक्त व्यवहारोंसे(त्वा त्वां स्वीकरोमि)

तुझ को स्वीकार करता हूं और (पार्थिवेभ्यः पृथिव्यां विदितेभ्यः पदार्थेभ्यः) पृथिवी पर प्रसिद्ध पदार्थों के लिये भी (त्व त्वा स्वीकरोमि) तुझ को स्वीकार करता हूं (सूर्याय सूर्यस्येव योगप्रकाशाय) सूर्य के समान योगप्रकाश करने के लिये—तथा [उदानाय च उत्कृष्टाय जीवघवलसाधनायैव] उत्कृष्ट जीवन और बल के अर्थ (त्वा त्वां स्वीकरोमि) तुझे ग्रहण करता हूं (यतः त्वा त्वां योगगमीप्सुम् जिस से कि तुझ योग चाहने वाले को मनः योगमननम्) योगसमाधियुक्त मन [स्वाहा सत्यवचनरूपा सत्यानुष्ठानरूपा सत्यारूढा च क्रिया] सत्य भाषण और सत्य कर्म करने तथा सत्य पर आरूढ़ होने की क्रिया [अष्टु प्राप्नोतु] प्राप्त हो ॥

[भावार्थ] मनुष्य जब तक श्रेष्ठाचार करने वाला नहीं हो, तब तक ईश्वर भी उस को स्वीकार नहीं करता । जब तक जिस को ईश्वर स्वीकार नहीं करता है, तब तक उसका पूरा २ आत्मबल नहीं हो सकता और तब तक आत्मबल नहीं बढ़ता, तब तक उस को अत्यन्त सुख भी नहीं होता ॥

पुनर्योगिकृत्यमाह

अगले मन्त्र में फिर योगी का कृत्य कहा है ॥

ओ३म्—आ वायो भूष शुचिपाऽउप नः सहस्रन्ते नियुतो विश्ववार उपो तेऽअन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयं वायवे त्वा ॥ ३ ॥ यजु० अ० ७ मं० ७

अर्थ[हे शुचिपाः शुचि पवित्रतां पालयतीति शुचिपः] [हे पवित्रपाल !] अत्यंत शुद्धता को पालनेहारे और[वायो वायुरिव वर्त्तमानः] पवन के तुल्य [प्रयत्न, पुरुषार्थ वा बल तथा संवेगपूर्वक निरन्तर] योगक्रियाओं में प्रवृत्त होने वाले

[अधिमात्रोपायतीव्रसंवेग तीव्राधिकारी] योगी (त्वम्) तू न, अस्मान इन सहस्रम् सहस्रशः बहूनि अगणितानि अखिलानि वा] हज़ारों अगणित [नियुतः] नियुज्यन्ते तान् निश्चिनान् शमादिगुणान्) निश्चित शमादिक गुणों को (उप) अपने निज आत्माके सकाशसे (आभूप स्वात्मसकाशात् आसमन्तात अलंकुरु) सर्वथा भूषित कर [हे विश्वधार विश्वान् सर्वानानन्दान्कृणोति तत्सम्बुद्धौ]हे समस्त गुणोंके स्वीकार करने वाले (तं मयम् तव तृप्तिप्रदम् , तेरा अच्छी तृप्ति देने वाला जो (अन्धः) [अन्नम्] अन्न है उस को मैं (उपो तवसकाशात्) तेरे समीप (अयामि प्राप्नोमि) पहुंचाताहूं [हे देव योगेनात्मप्रकाशित हे आत्मविद् ब्रह्मविद् ब्राह्मण] हे योगबल से आत्मा को प्रकाशित करने वाले ब्रह्मज्ञ योगी ! [यस्य ते यस्य तव] जिस तेरा [पूर्वपेयम् पूर्वैःपातुं योग्यमिव योगबलमस्ति] श्रेष्ठ योगियों की रक्षा करने योग्य योग बल है [दधिषे यच्च त्व धरसि] जिस को तू धारण कर रहा है [वावेवे तद्धायचे तद्योगबलप्रापणाय] उस योगबल के ज्ञान की प्राप्ति के लिये (त्वा त्वां) तुझ को [अहं स्वीकरोमि] मैं स्वीकार करता हूं ॥

[भावार्थ] जो योगी प्राण के तुल्य अच्छे २ गुणों में व्याप्त होता है और अन्न और जल के सदृश सुख देता है, वही योगी योग के बीच में समर्थ होता है ॥

अभिप्राय यह है कि योगमार्ग में प्रवृत्त होने वाले जिज्ञासु को उचित है कि उत्तम अधिकारी होने के लिये अत्यन्त पवित्रता से रहना, तीव्रसंवेगयुक्त योगक्रियाओं के अभ्यास में आलस्यरहित पुरुषार्थ करना, यमनियमशमादि षट्सम्पत्ति इत्यादि जो विविध मुक्ति के साधन हैं उन का यथावत

पालन करना आप्त विद्वानों से शिक्षा पाकर अन्यों को शिक्षा वा उपदेश करना अत्यन्त आवश्यक है। जो कोई इस प्रकार से प्रवृत्त और कटिबद्ध होता है, उस ही को ईश्वर स्वीकार करके अनेक प्रकार के आनन्द भोगों से तृप्तकरता और मोक्षानन्द का दान करता है।

पुनः स योगी कीदृशो भवतीत्युच्यते

फिर वह योगी कैसा होता है, यह अगले मन्त्र में कहा है॥

ओं—इन्द्रवायूऽइमे सुताऽउप प्रयोभिरागतम्। इन्दवोवामुशंतिहि। उपयाम गृहीतोसि वायवऽइन्द्रवाभ्यान्त्वेप ते योनिः सजोभ्यां त्वा॥ य० अ० ७ मं० ८

अर्थ—[इन्द्रवायू हे प्राणसूर्यसदृश योगस्योपदेष्टभ्योसिनो] हे प्राण और सूर्य के सदृश योगशास्त्र के पढ़ने पढ़ाने वालो! जिस कारण से (यतः [क्योंकि] इनेमि प्रत्यक्षाः समक्षाः) ये (सुताः निष्पन्नाः) उत्पन्न हुये इन्द्वः सुखकारक जलादिपदर्थाः) सुखकारक जलादि पदार्थ वाम् (युवाम्) तुम दोनों को (उशंतिहि निश्चयेन कामयन्ते , निश्चय करके प्राप्त होते ही हैं (तस्मात्) इस लिये (युवां] तुम दोनों (एतैः) इन (प्रयोभिःकमनीयैर्लक्षणैः पदार्थैः सदैव) मनोहर पदार्थों के साथ ही (उप आगतम् उपागच्छतन्) अपना आगमन जानो (साथ २ आये हो) (भोयोगमभीप्सोत्वमनेनाध्यापकेन) हे योग चाहने वाले जिज्ञासु! तू इस योग पढ़ाने वाले अध्यापक से (वायवे वायुवद्गत्यादिसिद्धये यद्वावाति प्रापयति योगबलेन व्यवहारानिति वायुर्योगविचक्षणस्तस्मै तादृश सम्पन्नाय) पवन के तुल्य योगसिद्धि को पाने के लिये अथवा योगबल से चराचर के ज्ञान की प्राप्ति

के लिये (उपयामगृहीतोसि योगस्य यमनियमांगैः सह स्वीकृतोसि) योग के यम नियमों के साथ स्वीकार किया गया है (हे भगवन् योगाध्यापक) हे योगाध्यापक भगवन् (एषः ते तव) आप का (अयं) यह (योगः) योग (योनिः सर्वदुःखनिवारकं गृहमिवास्ति) सर्व दुःखों के निवारण करने वाले घर के समान है (इन्द्रवायुभ्यां त्वा विद्युत्प्राणाभ्यामिव) बिजुली और प्राण वायु के समान (योगाकर्षणनिकर्षणाभ्यां) योग वृद्धि और समाधि चढ़ाने और उतारने की शक्तियों से (जुष्टम्) प्रसन्न हुये (त्वाम्) आप को (तथा हे योगमभीप्सो) और हे योग चाहने वाले जिज्ञासु ! (सजोषोभ्यां त्वा जोषसा सेवनेन सह वर्त्तमानाभ्यामुक्त गुणाभ्यां) सेवन किये हुये उक्त गुणों से (जुष्टम्) प्रसन्न हुवे (त्वाँ च) तुझ को (अहं वश्मि) मैं अपने सुख के लिये चाहता हूं ।

(भावार्थ) वे ही लोग पूर्ण योगी और शुद्ध हो सकते हैं जो कि योग विद्याभ्यास करके ईश्वर से लेके पृथिवी पर्यन्त पदार्थों को साक्षात् करने का यत्न किया करते और यम नियमादि साधनों से युक्त योग में रम रहे हैं और जो इन सिद्धियोंका सेवन करते हैं, वे भी इस योग सिद्धि को प्राप्त होते हैं, अन्य नहीं ॥

इस मन्त्र में चार उपदेश हैं:—

(१) प्रथम तो यह कि योग विद्या के जिज्ञासु को सदैव पूर्ण विश्वास रखना चाहिये कि ईश्वरने हमारे संसार व्यवहार के निर्वाहार्थ सब प्रकार के पदार्थ हमारे जन्म के साथ ही उत्पन्न किये हैं, उन के निमित्त कभी शोक, सन्ताप चिंता आदि न करे, किन्तु उपार्जन का प्रयत्न सन्तोष के साथ करता रहे ।

(२) दूसरा यह कि ईश्वर से लेकर सम्पूर्ण चराचर जगत् के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करे ॥

(३) यम नियमादि योगांगों तथा अन्य विविध साधनों का यथावत् सेवन करता रहे ॥

(४) चौथा यह कि योग सिद्ध पुरुषों का संग और सेवन किये बिना यह विद्या सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि यह गुरुलब्ध विद्या है, इसमें विद्वानों के संग तथा उन की सेवा और प्रसन्नता की आवश्यकता है ॥

ओं–त्रीरोचना दिव्या धारयन्त हिरण्मयाः शुचयो धारपूताः। अस्वप्नजो अनिमिषा अदब्धा उरुशंसा ऋजवे मर्त्याय। ऋ० अ०२। अ०७। व०७। मं०२। अ०३। सू०२७। मन्त्र ९ ॥

अर्थ–(ये) जो लोग (हिरण्मयाः) तेजस्वी हैं (धारपूताः) और जिनकी वाणी उत्तम विद्या और शिक्षा से पवित्र हुई है वे (शुचयः) शुद्ध पवित्र (उरुशंसाः) बहुत प्रशंसा वाले (अस्वप्नजः) अविद्यारूप निद्रा से रहित विद्या के व्यवहार में जागते हुवे (अनिमिषाः) निमेष अर्थात् आलस्य रहित (अदब्धा) हिंसा करने के अयोग्य अर्थात् रक्षणीय विद्वान लोग (ऋजवे] सरल स्वभाव वाले [मर्त्याय] मनुष्य के लिये [त्री] तीन प्रकारके [दिव्या] शुद्ध दिव्य [रोचना] रुचियोग्य ज्ञान वा पदार्थों का [धारयन्त] धारण करते हैं [ते जगत्कल्याणकराः स्युः] वे जगत् के कल्याण करने वाले हों

[भावार्थ] जो मनुष्य, जीव, प्रकृति और परमेश्वर की तीन प्रकार की विद्या को धारण करके दूसरों को देते हैं और सब को अविद्या रूप निद्रा से उठा के विद्या में लगाते हैं वे मनुष्यों के मंगल कराने वाले होते हैं ॥

अर्थात् मन्त्रोक्त तीन प्रकार की विद्या को जानकर अन्यों को भी उस का उपदेश करनारूप कल्याणकारी कर्म जीव का मुख्य कर्तव्य है ॥

ओम् -आधर्णसिर्बृहद्दिवोरराणोविश्वेभिर्गन्त्वोमभिर्हुवानः । ग्ना वसान ओषधीरमृध्रस्त्रिधातुशृंगो वृषभो वयोधाः ॥

ऋ०अ० ४ । अ० २ । व०२२ । मं०५ । अ०३ । सू०४३ । मं०१३

अर्थ—(हे विद्वान् तथा हेविद्वन् ! जैसे (धर्णसिः) धारण करने वाला (बृहद्दिवः) बड़े प्रकाश का (रराणः) दान करता हुआ (विश्वेभिः ओमभिः संपूर्ण) रक्षण आदि के करने वालों के साथ (हुवानः) ग्रहण करता हुआ और (ग्नाः) वाणियों को (वसानः) आच्छादित करता हुआ (ओषधीः) सोमलता आदि औषधियों का (अमृध्रः) नहीं नाश करने वाला (त्रिधातुशृंगः) तीन धातु अर्थात् शुक्ल, कृष्ण,रज गुण शृंगों के सदृश जिसके हैं और (वयोधाः) सुन्दर आयु को धारण करने वाला (सूर्यजगदुपकारी) वृष्टिकारक सूर्य संसार का उपकारी (वर्त्तते) हैं (तथैवभवान् जगदुपकाराय) वैसे ही आप संसार के उपकार के लिये (आगन्तु) उत्तम प्रकार प्राप्त हूजिये ।

(भावार्थ) जो विद्वान् तीन गुणों से युक्त प्रकृति के जानने, वाणी के जनाने, नहीं हिंसा करने, औषधों से रोगों को निवारने,और ब्रह्मचर्य आदि के बोध से अवस्था के बढ़ाने वाले होते हैं, वे ही संसार के पूज्य होते हैं । अर्थात् मन्त्रोक्त गुणों से संयुक्त होने का उपाय करके अपनी तथा अन्यों की उन्नति सबको करनी चाहिये ।

ओम्-शृण्वन्तु नो वृषणः पर्वतासो ध्रुवक्षेमास इलया मदन्तः। आदित्यैर्नो अदितिः शृणोतु यच्छन्तु नो मरुतः शर्म भद्रम् ॥

ऋ०अ०३। अ० ३। व०२७। मं० ३। अ० ५ सू०५४। मं० २०

अर्थ—(हे विद्वांसः) हे विद्वानो (भवन्तः) आप लोग (इलयाइडया) प्रशंसित वाणी के (सहवर्त्तमानान्) साथ वर्त्तमान (नःअस्मान्कीर्तिमतः) हम कीर्तिमान् लोगों की स्तुतिमय प्रार्थना को (शृण्वन्तु) सुनिये (वृषणः) वृष्टि करने वाले और (ध्रुवक्षेमासः) निश्चित रक्षा करने वाले मेघों के (पर्वतासः इवअस्मान्) समान हमारी (मदन्तः उन्नयन्तु) प्रसन्न होते हुये आप वृद्धि [उन्नति] कीजिये (आदित्यैःसह) विद्वानों के साथ (अदितिः नः) माता हम लोगों को (शृणोतु) सुने (मरुतः) मनुष्य लोग अथवा प्राणादि पवन (नः) हम लोगों के लिये (भद्रं) कल्याण करने वाले (शर्म) श्रेष्ठ गृह के सदृश सुख को (यच्छन्तु) देवें।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सब प्राणियों से प्रथम उत्तम शिक्षा, तदनन्तर विद्या, पुनः सत्सङ्ग से कल्याणकारक आचरण, उत्तम बातों का श्रवण और उपदेश करके सबके योग्य अर्थात् भोजन, आच्छादन के निर्वाह और कल्याण को सिद्ध करें।

उपास्यदेव कौन है ?

ओं—वीरस्य नु स्वश्व्यं जनासः प्रनु वोचाम विदुरस्य देवाः। षोढा युक्ताः पञ्चपञ्चावहन्ति महद्देवानामसुरत्व-मेकम् ॥ १८ ॥

ऋ०अ० ३ । अ० ३ । व० ३१ । मं० ३ । अ०५ । सू० ५५ । मंत्र १८

अर्थः—(हे जनासः) हे विद्याओं में प्रकट हुये पुरुषो ! (वयम्) हम (अस्य) इस (वीरस्य) शौर्यादि गुणों को प्राप्त हुये शूर को (स्वश्व्यं) अति उत्तम अश्वविषयक अच्छे वचन का (नु) शीघ्र (प्रवोचाम) उपदेश देवें (ये युक्ताः) जो संयुक्त हुये (देवाः) विद्वान् जन (देवानाम्) विद्वानों में (महत्) बड़े (एकम्) एक (असुरत्वं) दोषों के दूर करने के लिये (विदुः) जानते और (येषोढा) जो छः प्रकार की (युक्ताः) संयुक्त इन्द्रियां और (पञ्च पञ्च) पांच २ प्राण (यत् आ वहन्ति) जिस विषय को प्राप्त होते हैं (तत् विदुः तान् प्रति वयम् एतत् ब्रह्म) उस को भी जानते हैं उन के प्रति हम लोग इस ब्रह्म का (नु) शीघ्र (वोचाम) उपदेश देवें ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जिसकी प्राप्ति में पांच प्राण निमित्त और जिसको सब योगी लोग समाधि से जानते हैं उसी की उपासना भृत्यों के वीरत्व को उत्पन्न करने वाली है, ऐसा हम उपदेश देवें ।

ओ३म्—निवेवेति पलितो दूतआस्वन्तर्महांश्चरति रोचनेन ।
वपूंषि बिभ्रदभि नो विचष्टे महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥

ऋ०अ० ३ । अ०३ । व०२९ । मं० ३ । अ०५ । सू०५५ । मंत्र९ ।

अर्थ—[हे मनुष्याः] हे मनुष्यो ! [यः] जो [जगदीश्वर] जगदीश्वर [आसु] इन प्रजाओं के [अन्तः] भीतर [निवेवेति] अत्यन्त व्याप्त है [पलितः] श्वेत केशों से युक्त [दूतः इव] समाचार देने वाले दूत के समान [महान्] व्याप्त होकर [रोचनेन] अपने प्रकाश से [चरति] प्राप्त होता है [वपूंषि] रूपों को [बिभ्रत्] धारण करता हुआ [नः] हम लोगों को [अभि] सन्मुख होकर [विचष्टे] विशेष करके उपदेश देता है [तत्

एव] वही [देवानाम्] दिव्यगुणों पृथिवी, सूर्य, जीव आदि दिव्य [उत्तम] पदार्थों तथा विद्वानोंके मध्य में [अस्माकम्] हम लोगों का [एकम् अद्वितीयम् असहायं चेतनमात्रं तेजः स्वरूपं ब्रह्म] केवल एक अद्वितीय, सहायरहित, चेतनमात्र, तेज स्वरूप, परब्रह्म परमात्मा [असुरत्वम् यत् असुषु प्राणेषु रमते तत् प्राणाधारम्। अस्यति प्रक्षिपति दूरीकरोति सर्वाणि दुःखानि तत् सर्वेषां दुःखानां प्रक्षेप्तृ] प्राणों में रमण करने वाला, प्राणाधार तथा समस्त दुःखों को दूर करनेवाला [महत् सर्वेभ्यो बृहत्पूज्यं सत्कर्तुमर्हम् अस्ति] सब से बड़ा, पूजनीय और सत्कार करने योग्य है ।

भावार्थ—हे मनुष्यो जो जगदीश्वर योगियों को वायु के द्वारा कुछ दूत के सदृश दूर देश में वर्त्तमान समाचार वा पदार्थ को जानता है और अन्तर्यामी हुआ अपने प्रकाश से सब को प्रकाशित करता है और जीवों के कर्मों को जान कर फलों को देता है, अन्तःकरण में वर्त्तमान हुआ न्याय और अन्याय करने और न करने को चिताता है । वही हम लोगों को अतिशय पूजा करने योग्य ब्रह्म वस्तु है। आपलोग भी ऐसा जानें।

मनुष्याः कस्योपासनं कुर्युरित्याह

मनुष्य किस की उपासना करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ।

ओं—यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा । यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजाᳮसि देवः सविता महित्वना ॥ यजु० अ० ११ मं० ६

अर्थ—हे योगी पुरुषो ! तुम को चाहिये कि (यस्य) जिस (देवस्य) सब सुख देने हारे ईश्वर के (महिमानं) स्तुति विषय को (प्रयाणम्) कि जिस से सब सुख प्राप्त होवें (अनु)

उस के पीछे (अन्ये) जीवादि और (देवाः) विद्वान् लोग (ययुः) प्राप्त होवें (यः) जो (एतशः) सब जगत में अपनी व्याप्ति से प्राप्त हुआ (सविता) सब जगत का रचने हारा (देवः) शुद्धस्वरूप भगवान् (महित्वना) अपनी महिमा और [ओजसा] पराक्रम से [पार्थिवानि] पृथिवी पर प्रसिद्ध [रजांसि] सब लोकों को [विममे] विमानादि यानों के समान रचता है। [इत्] उसे ही निरन्तर उपासनीय मानो।

भावार्थ—जो विद्वान् लोग सब जगत के बीच २ पोल में अपने अनन्त बल से धारण करने, रचने और सुख देने हारे, शुद्ध, सर्वशक्तिमान, सब के हृदयों में व्यापक ईश्वर की उपासना करते हैं, वे ही सुख पाते हैं, अन्य नहीं ॥

अथ गृहाश्रमसिच्छद्भ्यो जनेभ्यः परमेश्वर एवोपास्य इत्युच्यते

अब गृहाश्रम की इच्छा करने वालों को ईश्वर ही की उपासना करनी चाहिये, यह उपदेश अगले मंत्र में किया है।

ओं—यस्मान्नजातः परो अन्योऽस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा । प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥ य० अ० ८ मं० ३६

अर्थ—[यस्मात्] जिस परमेश्वर से [परः] उत्तम [अन्यः] और दूसरा कोई [न] नहीं [जातः] हुआ [यः] जो परमात्मा [विश्वा] समस्त [भुवनानि] लोकों को (आविवेश) व्याप्त हो रहा है [सः] वह (प्रजापतिः) संसार मात्र का स्वामी परमेश्वर (प्रजया) सब संसार से (संरराणः) उत्तमदाता होता हुआ

षोडशी

१ २ ३ ४ ५

इच्छा (कर्म चेष्टा वा ईक्षण), प्राण, श्रद्धा, पृथिवी, जल

७ ८ ९ १० ११ १२ १३

वायु, आकाश, दशों इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य (पराक्रम) तप

१४ १५ १६

[धर्मानुष्ठान], मन्त्र [वेदविद्या], लोक और नाम [लोक और अलोक ये नाम अर्थात् जिस संज्ञा से संज्ञी पहिचाना जाता है अथवा यश और कीर्त्ति जिस से कि सर्वत्र प्रसिद्धि होती है] इन सोलह कलाओं और [त्रीणि] सूर्य, बिजली, और अग्नि इन तीन [ज्योति] ज्योतियों को [सचते] सब पदार्थों में स्थापित करता है।

भावार्थ—गृहाश्रम की इच्छा करने वाले पुरुषों को चाहिये कि जो सर्वत्र व्याप्त, सब लोकों का रचने और धारण करने वाला, दाता, न्यायकारी, सनातन अर्थात् सदा ऐसाही बना रहता है सत्, अविनाशी, चेतन और आनन्दमय, नित्य शुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव और सब पदार्थों से अलग रहने वाला छोटे से छोटा, बड़े से बड़ा, सर्वशक्तिमान, परमात्मा, जिस से कोई भी पदार्थ उत्तम वा जिस के समान नहीं है, उस की उपासना करें। इन १६ कलाओं के बीच में सब जगत है और परमेश्वर में अनन्त कला हैं और जीव में भी ये १६ कला हैं।

अथ शिष्यायाध्यापककृत्यमाह

अथ शिष्य के लिये पढ़ने की युक्ति अगले मन्त्र में कही है

ओं—अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य

ददितारःस्याम । सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽग्निः ॥ १० ॥

यजु० अ० ७ मं० १४

अर्थ — देव = हे योग विद्या चाहने वाले ! सोम = प्रशंसनीय गुणयुक्त शिष्य ! " हम अध्यापक लोग "

[ते] तुझ योग के जिज्ञासु के लिये [सुवीर्यस्य] जिस पदार्थ से शुद्ध पराक्रम बढ़े । उस के समान [अच्छिन्नस्य] अखण्ड [रायः] योगविद्या से उत्पन्न हुये धन की [पोषस्य] दृढ़ पुष्टि के [ददितारः] देने वाले [स्याम्] हों [प्रथमा] " जो यह " पहली [विश्ववारा] सब हीं सुखों के स्वीकार कराने योग्य [संस्कृतिः] विद्यासुशिक्षाजनित नीति है [सा] वह तेरेलिये इस जगत में सुखदायक हो और हम लोगों में जो [वरुणः] श्रेष्ठ [अग्नि] अग्नि के समान सब विद्याओं से प्रकाशित अध्यापक है (सः प्रथमः मित्रः) वह सब से प्रथम ' तेरा ' मित्र ' हो ' ॥

भावार्थ—योगविद्या में सम्पन्न शुद्धचित्तयुक्त योगियों को योग्य है कि जिज्ञासुओं के लिये नित्ययोग और विद्यादान देकर उन्हें शारीरिक और आत्मबल से युक्त किया करें।

पुनरध्यापकशिष्यकृत्यमाह ॥

फिर अध्यापक और शिष्य का कर्म अगले मन्त्र में कहा है ।

ओम् —अयंवाम्मित्रावरुणा सुतः सोमऋतावृधा ममेदिह श्रुतꣳहवम । उपयामगृहीतोसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा ॥ ५ ॥ य० अ० ७ मं० ९

अर्थ-मित्रावरुणा=भो प्राणोदानाविव [वर्त्तमानौ] हे प्राण और उदान के समान वर्त्तमान [ऋतावृधा यौ ऋतं विज्ञानं वर्द्धयतस्तौ=सत्यविज्ञानवर्द्धकयोगविद्याध्यापकाध्येतारौ] सत्यविद्यावर्द्धक योगविद्या के पढ़ने पढ़ाने वालो [वाम् अयम्] तुम दोनों का यह [सोमः=योगैश्वर्यवृन्दः] योग के ऐश्वर्य का समूह [सुतः=निष्पादितः "अस्ति"] सिद्ध किया हुआ "है" [इह=अस्मिन् योग विद्याया के व्यवहारे] इस योगविद्या के ग्रहण करने रूप व्यवहार में [मम हवम्=स्तुतिसमूहम्मे] योगविद्या प्रसङ्ग से होने वाले मेरी स्तुति को [श्रुतम्=शृणुतम्] सुनो।

[हे यजमान ! यस्त्वम्] हे यजमान जिस कारण तू [उपयामगृहीतः ही इत् असि] अच्छे नियमों के साथ स्वीकार किया हुआ है [अतोऽहम्] इस कारण मैं [मित्रावरुणाभ्यां सह वर्त्तमानम्] प्राण और उदान के साथ वर्त्तमान [त्वा=त्वां गृह्णामि] तुझको ग्रहण करता हूं।

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि इस योगविद्या का ग्रहण करके श्रेष्ठ पुरुषों का उपदेश सुन कर और यमनियमों को धारण कर के योगाभ्यास के साथ अपना वर्त्ताव रक्खें ॥ ५ ॥

पुनरध्यापकशिष्यकृत्यमाह

पुनः अध्यापक और शिष्य का कर्म अगले मन्त्र में कहा है

ओं—रायावयथंससवाथंसोमदेम हव्येन देवा यव सेन गावः। तान्धेनुम्मित्रावरुणायुवन्नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष तेयोनिर्ऋतायुभ्यान्त्वा ॥ ६ ॥

य०-अ० ७ मं० १०

अर्थ—[सस्वांसः=हे संविभक्ताः] हे भले बुरे के अलग २ करने वाले [देवाः=विद्वांसः] [च] विद्वानो ! आप और [वयम्] [पुरुषार्थिनः] हम पुरुषार्थी लोग [यवसेन-अभीष्टेन तृणबुसादिना] अभीष्ट तृण घास भूसा से [गावः इव=गवादयः पशव इव] गो आदि पशुओं के समान इड्येन=राया ग्रहीतव्येन धनेन सह] ग्रहण करने योग्य धन से [मदेम=हर्षेम] हर्षित हों और [हे मित्रा-वरुणा हेप्राणवत् सखायावुत्तमौ जनौ] हे प्राण के समान उत्तम जनो ! [युवं नः=युवां अस्मभ्यम्] तुम दोनों हमारे लिये [विश्वाहा=सर्वाणि दिनानि] सर्व दिनों में [अनप-स्फुरन्तीम्=विरोपयित्रीमित्र योगविद्याजन्यम्] ठीक ठीक योगविद्या के ज्ञान को देने वाली [धेनुम्=वाचम्] वाणी को [धत्तम्] धारण कीजिये [एषः ते योनिः=हे यजमान ! यस्य एष ते विद्यावोधो योनिः अस्ति अतः] हे यजमान ! जिस से तेरा यह विद्याबोध घर है, इस से [ऋतायुभ्याम्-आत्मन ऋतमिच्छद्भ्यामिव सहितम्] सत्य व्यवहार चाहने वालों के सहित [त्वा=त्वां वयमाददीमहे] तुझ को हम लोग स्वीकार करते हैं ।

भावार्थ-मनुष्यों को चाहिये कि अपने पुरुषार्थ और विद्वानों के संग से परोपकार की सिद्धि और कामना को पूर्ण करने वाली वेदवाणी को प्राप्त हो कर आनन्द में रहें ॥

पुनरप्येतयोः कर्त्तव्यमुपदिश्यते ॥

फिर भी इन योगविद्या केपढ़ने पढ़ाने वालों के करने योग्य काम का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

ओं—याः वाङ्कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती तया यज्ञ-

म्मिमिक्षितम् । उपयामगृहीतोस्यश्विभ्यान्त्वैष ते यो-निर्माध्वीभ्यान्त्वा ॥ ७ ॥ य० अ० ७ मं० ११

अर्थ-[हे अश्विनौ] सूर्य्य और चन्द्र के तुल्य प्रकाशित योग के पढ़ने पढ़ाने वालो ! [या वां मधुमती] जो तुम्हारी प्रशंसनीय मधुरगुणयुक्त [सूनृतावती कशा] प्रभात समय में क्रम २ से प्रदीप्त होने वाली उषा के समान वाणी है [तया-यज्ञम् उस से ईश्वर से संग कराने हारे योगरूपी यज्ञ को (मिमिक्षितम्) सिद्ध करना चाहो-हे योग पढ़ने वाले ! तू (उपयामगृहीतोसि) यम नियमादिकों से स्वीकार किया गया है [ते] तेरी [एषः] यह योग [योनिः घर के समान सुखदायक है इस से [अश्विभ्याम् त्वा] प्राण और अपान के योगोचित नियमों के साथ वर्त्तमान तेरा और हे योगाध्या-पक [माध्वीभ्याम् त्वा] माधुर्य लिये जो श्रेष्ठ नीति और योगरीति है, उन के साथ वर्त्तमान आप को हम लोग आश्रय करते हैं, अर्थात् समीपस्थ होते हैं ।

भावार्थ—योगी लोग मधुर प्यारी वाणी से योग सीखने वालों को उपदेश करें और अपना सर्वस्व योग ही को जानें तथा अन्य मनुष्य वैसे योगी का सदा आश्रय किया करें ।

अथ योगिगुणा उपदिश्यन्ते ॥

फिर भी अगले मंत्र में योगी के गुणों का उपदेश किया है ।

ओं—तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदꣳ स्वर्विदम् । प्रतीचीनंवृजनन्दोहसे धुनिमाशुं जयन्त-मनुयासु वर्द्धसे ॥ उपयामगृहीतोसि शण्डाय त्वैष

ते योनिर्वीरतां पाह्यपमृष्टःशण्डो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि ॥ ८ ॥ यजु० अ० ७ मं० १२

अर्थ-[हे योगिन्] हे योगी ! आप [उपयामगृहीतः असि] योग के अंगों अर्थात् शौचादि नियमों के ग्रहण करने वाले हैं [ते] आप का [एषः] यह योगयुक्तस्वभाव [योनिः] सुख का हेतु है जिस योग से आप [अपमृष्टः] अविद्यादि दोषों से अलग हुवे हैं 'तथा" [शण्डः असि] शमादिगुणयुक्त हैं और [यासु वर्द्धसे] जिन योगक्रियाओं में आप वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा [विश्वथा] समस्त [प्रत्नथा] प्राचीन महर्षि [पूर्वथा] पूर्वकाल के योगी [इमथा] और वर्त्तमान योगियों के समान आप उस [ज्येष्ठतातिम्] अत्यन्त प्रशंनीय [बर्हिषदम्] हृदयाकाश में स्थिर (स्वर्विदम्) सुखलाभ करने वाले (प्रतीचीनम्) अविद्यादि दोषों से प्रतिकूल होने वाले [आशु] शीघ्र सिद्धि देने वाले [जयन्तम्] उत्कर्ष पहुंचाने वाले और (धुनिम्) इन्द्रियों को कंपाने वाले (वृजनम्) योग बल को [दोदसे] परिपूर्ण करते हैं उस योग बल को [शुक्रपः] जो योग वीर्य योगबल की रक्षा करने हारे और [देवः] योगबल के प्रकाश से प्रकाशित योगी लोग हैं वे [त्वा] आप को [प्रणयन्तु] अच्छे प्रकार पहुंचावें [सिखावें] [शण्डाय] शमदमादि गुण युक्त उस योगबल को प्राप्तहुइ आप के लिये उसी योग की (अनाधृष्टा असि) दृढ़वीरता हो प्राप्त हो (वीरताम्) और आप उस वीरता की [पाह] रक्षा किजिये [अनु त्व] रक्षा को प्राप्त हुई वह वीरता आपको पालो

भावार्थ-हे योगविद्या की इच्छा करने वाले ! जैसे शमदमादिगुणयुक्त पुरुष योगबल से विद्याबल की उन्नति कर

सकता है, वही अविद्यारूपी अन्धकार का विध्वंस करने वाली, वैसे आप को दे ॥

उक्तयोगानुष्ठाता योगी कीदृग्भवतीत्युपदिश्यते

उक्त योग का अनुष्ठान करने वाला योगी कैसा होता है वह उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

ओं-सुवीरोवीरान्प्रजनयन्परीह्यभि रायस्पोषेणयजमानम्
संजग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा
निरस्तःशण्डःशुक्रस्याधिष्ठा नमसि ॥ ६ ॥
यजु० अ० ७ मं० १३ ॥

अर्थ-सुवीरः="हे योगिन्" श्रेष्ठ वीर के समान योगवल को प्राप्त हुवे आप (वीरान् प्रजनयन्) अच्छे गुणयुक्त पुरुषों को प्रसिद्ध करते हुवे (परीहि) सब-जगह भ्रमण कीजिये "और इसी प्रकार" (यजमानम्*अभि) धन आदि पदार्थों को देने वाले उत्तम पुरुषों के सम्मुख (रायस्पोषेण*संजग्मानः) धन की पुष्टि से*स गत हूजिये "और आप"(दिव*पृथिव्या) सूर्य और पृथिवी के गुणों के साथ (शुक्रः * शुक्रशोचिषा) अतिवलवान् सब को शोधने वाले।सूर्यकी दीप्ति से (निरस्तः) अन्धकार के समान पृथक् हुवे ही योगवल के प्रकाश से वि-षयवासना से छूटे हुवे (शण्डः) शमादि गुणयुक्त (शुक्रस्य) अत्यन्त योगवल के (अधिष्ठानम्) आधार (असि) हैं।

भावार्थ-शमदमादि गुणों का आधार और योगाभ्यास में तत्पर योगीजन अपनी योगविद्या के प्रचार से योगविद्या चाहने वालों का आत्मवल वढ़ाता हुआ सब जगह सूर्य के समान प्रकाशित होता है।

—०—

परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये।

अथ किमर्थं परमेश्वर उपास्यः प्रार्थनीयश्चास्तीत्याह

अब किस लिये परमेश्वर की उपासना और प्रार्थना करनी चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है—

ओम्–देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्न पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नःस्वदतु ॥ १२ ॥ यजु० अ० ११ मं० ७ ॥

अर्थ—(देव सवितः) हे सत्य योगविद्या से उपासना के योग्य शुद्धज्ञान देने और सब सिद्धियों को उत्पन्न करने हारे परमेश्वर ! आप (नः) हमारे (भगाय यज्ञं प्रसुव अखिल ऐश्वर्य की प्राप्ति के अर्थ सुखोंको प्रार्थना कराने हारे व्यवहार को उत्पन्न कीजिये (यज्ञपतिं) इस सुखदायक व्यवहार के रक्षक जन को (प्रसुव उत्पन्न कीजिये (गान्धर्वः दिव्यः केतपूः) पृथिवी को धारण करने हारे शुद्ध गुणकर्म और स्वभावों में उत्तम और विज्ञान से पवित्र करने हारे आप (नः) हमारे (केतम्) विज्ञान को पुनातु पवित्र कीजिये और (वाचस्पतिः) सत्यविद्याओं से युक्त वेदवाणी के रक्षा करने वाले आप(नः) हमारी (वाचं वाणी को (स्वदतु) स्वादिष्ठ अर्थात् कोमल मधुर कीजिये।

भावार्थ–जो पुरुष सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त शुद्ध निर्मल ब्रह्म की उपासना और योगविद्या की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं, वे सब ऐश्वर्य को प्राप्त अपने आत्मा को शुद्ध और योग-

विद्या को सिद्ध कर सकते हैं, वे सत्यवादी होने से सब क्रियाओं के फलों को प्राप्त होते हैं।

पुनस्तमेव विषयमाह ।

फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में भी कहा है।

ओं—इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यꣳ सखिविदꣳसत्राजितन्धनजितꣳस्वर्जितम्॥ऋचा स्तोमꣳसमर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद्गायत्रवर्त्तनि स्वाहा॥

यजु० अ० ११ मं० ८

अर्थ--(देव सवितः)हे सत्य कामनाओं को पूर्ण करने और अन्तर्यामिरूप से प्रेरणा करने हारे जगदीश्वर! आप (नः इमम्) हमारे पीछे कहे और आगे जिसको कहेंगे उस (देवाव्यम्) दिव्य विद्वान् वा दिव्य गुणों की जिस से रक्षा हो (सखिविदम् मित्रों को जिस से प्राप्त हो (सत्राजितम्) सत्य को जिससे जीतें (धनजितम्) धन की जिससे उन्नति होवे (स्वर्जितम्) सुख को जिससे बढ़ावें ऋचा स्तोमम्) ऋग्वेद से जिसकी स्तुति हो उस [यज्ञम् स्वाहा प्रणय] विद्या और धर्म का संयोग कराने हारे यज्ञ को सत्य क्रिया के साथ प्राप्त कीजिये [गायत्रेण] गायत्री आदिछन्द से [गायत्रवर्त्तनि] गायत्री आदि छन्दों की गानविद्या के [बृहत्] बड़े [रथन्तरम्] अच्छे२ यानों से जिसके पारहों, उस मार्ग को [समर्धय] अच्छे प्रकार बढ़ाइये।

भावार्थ—जो मनुष्य ईर्ष्या द्वेष आदि दोषों को छोड़कर ईश्वर के समान सब जीवों के साथ मित्रभाव रखते हैं, वे सम्पत् को प्राप्त होते हैं॥

ब्रह्मविद्या का उपदेश करने की आज्ञा

अगले मन्त्र में आत्मज्ञान नाम ब्रह्मविद्याविषयक उपदेश करने की वेदोक्त आज्ञा कहते हैं॥

ओं—अच्छिद्रा सूनो सहसो नो अद्य स्तोतृभ्यो मित्र महः शर्म यच्छ। अग्नो गृणन्तमंहस उरुष्योर्जो नपात्पूर्भिरायसीभिः ॥ १५ ॥

ऋ०अ०१। अ० ४। व० २४। मं० १। अ०११। सू०५८। मं०८

(अर्थ) (सहसः सूनो) हे पूर्ण ब्रह्मचर्य से शारीरिक बलयुक्त और विद्या द्वारा आत्मा के बलयुक्त जन के पुत्र (मित्रमहः अग्ने) सब के मित्र और पूजनीय तथा अग्निवत्प्रकाशमान विद्वान्! (नपात्) नीच कक्षा में न गिरने वाले पुरुष आप (अद्य नः अंहसः पाहि) आज अपने आत्मस्वरूप के उपदेश से हमारी पापाचरण से रक्षा कीजिये (अच्छिद्रा) छेदभेदरहित (शर्म) सुखों को (यच्छ) कीजिये (स्तोतृभ्यः विद्यां प्रापय) विद्वानों से विद्याओं की प्राप्ति कराय (गृणन्तम् पूर्भिः आयसीभिः ऊर्जः उरुष) आत्मा की स्तुति के कर्त्ता को रक्षा करने में समर्थ अन्न आदि क्रियाओं से परिपूर्ण और ईश्वर रचित सुवर्ण आदि भूषणों से पराक्रम के बल द्वारा दुःख से पृथक रखिये।

भावार्थ—हे आत्मा और परमात्मा के जानने वाले योगी जनो! आप लोग आत्मा और परमात्मा के उपदेश [आत्मविद्या वा ब्रह्मविद्या] से सब मनुष्यों को दुःख से दूर कर के निरन्तर सुखी कियाकरो क्योंकि जो लोग इस आत्मविद्या में पुरुषार्थ करते हैं उनकी सहायता ईश्वर भी करता है। जैसा अगले वेदमन्त्र में कहा है॥

ओं—महाँ २॥ऽइन्द्रोयऽओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ २॥ऽइ-व स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे । उपयामगृहीतोसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥ १९ ॥

य० अ० ७ मं० ४०

अर्थ—हे अनादि सिद्ध योगिन्! सर्वव्यापी ईश्वर जो आप योगियों के (उपयामगृहीतः) (असि) [तस्मात] [वयं] यम नियमादि योग के अङ्गों से स्वीकार किये हुये हैं, इस कारण हम लोग (महेन्द्राय) [त्वा] [उपाश्रयामहे] योग से प्रकट होने वाले अच्छे ऐश्वर्य के लिये आपका आश्रय करते हैं, (ते-एषः) [योनिः] अतएव आप का यह योग हमारे कल्याण का निमित्त है इस लिये [महेन्द्राय त्वा वयं ध्यायेम] मोक्ष कराने वाले ऐश्वर्य के लिये हम लोग आप का ध्यान करते हैं [यः महान] [वृष्टिमान] [पर्जन्य इव] जो बड़े २ गुण कर्म और स्वभाव वाला वर्षने वाले मेघ के तुल्य [वत्सस्यस्तोमैः] स्तुतिकर्त्ता की स्तुतियों से, [ओजसा] अनन्तबल के साथ प्रकाशित होता है, उस ईश्वर को जान कर योगी [वावृधे] अनन्त उन्नति को प्राप्त होता है ।

भावार्थ—जैसे मेघ वर्षा समय में अपने जल के समूह से सब पदार्थों को तृप्त करता हुआ उन्नति देता है वैसे ईश्वर भी योगाऽभ्यास करने के समय में योगाभ्यास करने वाले योगी पुरुष के योग को अत्यंत बढ़ाता है ॥

गुरुशिष्य का परस्पर वर्ताव

ब्रह्म विद्या सीखने और सिखाने हारों को किस प्रकार परस्पर वर्त्ताव करना उचित है सो आगे कहते हैं ।

ओं—सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सहवीर्यं करवावहै ।

तेजस्विनावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै ॥ १ ॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः। तैत्तिरीयआरण्यके नवमप्रपाठे के प्रथमानुवाके ॥

अर्थ—हे ओंवाच्य सर्वशक्तिमन् ईश्वर ! आपकी कृपा रक्षा और सहाय से हम दोनों (गुरुशिष्य) परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें; हम दोनों परम प्रीति से मिल कर सब से उत्तम ऐश्वर्य के आनन्द को आप के अनुग्रह से सदा भोगें, हे कृपानिधे ! आप के सहाय से हम दोनों ब्रह्मविद्या के अभ्यास द्वारा योगवीर्य अर्थात् ब्रह्मज्ञान और मोक्षप्राप्ति-मूलक सामर्थ्य को पुरुषार्थ से बढ़ाते रहें, हे प्रकाशमय सब विद्या के देने वाले परमेश्वर ! आप के अनुग्रह और सामर्थ्य से हमारा ब्रह्मविद्या का यथावत् ज्ञान और ब्राह्मतेज सदा उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करता है। हे प्रीति के उत्पादक परमात्मन् ! ऐसी कृपा कीजिये कि हम दोनों परस्पर विरोध कभी न करें किन्तु परस्पर प्रेम भक्ति और मित्रभाव से वर्त्तें। और हे भगवन् ! आप अपनी करुणासे हम दोनों के तापत्रय को सम्यक् शान्त और निवारण कर दीजिये ॥

इस मन्त्र में जो ब्राह्मतेज (ब्रह्मवर्चस) की वृद्धि के लिये प्रार्थना की गई है, सो यही ब्रह्मतेज सब प्रकार के बल, पराक्रम, विद्या, आयु, योग्यता और सामर्थ्य आदि प्राप्त करने का प्रथम उपाय है, सो यथावत् ब्रह्मचर्य के धारण करने से प्राप्त होता है। जिस का साँगोपांग पालन (सत्यार्थप्रकाश) के समग्र तृतीयसमुल्लासोक्त शिक्षा के अनुसार करना अति उचित है। ब्रह्मचर्य के धारण करने में वीर्यकी रक्षा और स्वाध्याय अर्थात् ब्रह्मविद्याविधायक वेदादि सत्य शास्त्रों का पठन पाठन तथा योगाभ्यास के अनुष्ठान की आवश्यकता

आवश्यकता है । अतः थोड़े से उपदेशरूप वाक्य आगे लिखते हैं ।

योग सब आश्रमों में साधा जा सकता है ।

स्वाध्याय नाम ऋषियज्ञ का है अर्थात् वेदादि सत्य शास्त्रों का अध्ययन अध्यापन और योगाभ्यासका अनुष्ठान, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् संध्योपासन जो स्वाध्याय का ही अंग है सो योगाभ्यास के ही अन्तर्गत है और वीर्य की रक्षा भी अष्टांगयोगान्तर्गत वीर्याकर्षक प्राणायाम के अभ्यास करने से सिद्ध होती है,अतएव इस ग्रन्थ का मुख्य विषय जो योगाभ्यास है, वही ऋषियज्ञ का प्रधान अंग है और वेदादि का पठन पाठन उसका साधन है । वक्ष्यमाण द्वादश वाक्यों में भी यही उपदेश किया है कि सब प्रकार से सर्वदा स्वाध्याय नाम योगाभ्यास का अनुष्ठान करते रहना चाहिये । यथा—

(१) ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ १ ॥

(अर्थ) ईश्वर की वेदोक्त आज्ञा के पालन पूर्वक यथार्थ आचरण द्वारा योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥१॥

(२) सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ २ ॥

(अर्थ) मन, कर्म और वचन से सत्य के आचरण द्वारा योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ २ ॥

(३) तपश्चस्वाध्यायप्रवचने च ॥ ३ ॥

(अर्थ) तपस्वी हो कर अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुये यम नियमों के सेवन पूर्वक करते रहो ॥ ३ ॥

(४) दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ४ ॥

(अर्थ) बाह्य इन्द्रियों को दमन अर्थात् दुष्टाचरणों से रोक के योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ ४ ॥

(५) शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ५ ॥

(अर्थ) मन को शमन और शान्त करके अर्थात् चित्त की वृत्तियों को सब प्रकार के दोषोंसे हटाके योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ ६ ॥

(६) अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ६ ॥

(अर्थ) विद्युत् अग्नि की विद्या जानकर उस से शिल्प विद्या कलाकौशल सिद्ध करते हुवे तथा आहवनीयाग्नि, गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों में अग्निहोत्रादि यज्ञों द्वारा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीन आश्रमों के नियमों का यथायोग्य पालन करते हुवे और संन्यासाश्रम में ज्ञानयज्ञ द्वारा प्राणों में प्राणों का हवन करते हुवे योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ ६ ॥

इस में अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, आदि अश्वमेधपर्यन्त सब यज्ञ आगये ॥

(७) अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ७ ॥

(अर्थ) अग्निहोत्रनामक नैत्यिक देवयज्ञ को कराते हुवे योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ ७ ॥

(८) अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ८ ॥

(अर्थ) अतिथियों की सेवा करते हुवे योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ ८ ॥

(९) मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ९ ॥

(अर्थ) मनुष्य संबन्धी अर्थात् विवाह आदि गृहाश्रमसंबंधी व्यवहारोंको यथा योग्य वर्त्तते हुवे योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ ९ ॥

(१०) प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ १० ॥

(अर्थ) सन्तान और राज्य का पालन करते हुवे योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ १० ॥ इस वाक्य में गृहस्थ के लिये सन्तानोत्पत्ति की आज्ञा और राजा के लिये राज्य और प्रजा का पालन करने की आज्ञा है, सो वेदोक्त ईश्वराज्ञानुसार न्यायादि नियम पूर्वक करना चाहिये। अगले वाक्यों में ऐसा ही उपदेश है।

(११) प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ११ ॥

(अर्थ) वीर्यकी रक्षा और वृद्धि करते हुये योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ ग्रहस्थ यदि ऋतुकालाभिगामित्व आदि नियमों के पालन पूर्वक सन्तानोत्पत्ति करे, तब भी उसका ब्रह्मचर्य और वीर्य नष्ट नहीं होता।

(१२) प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ १२ ॥

(अर्थ) अपने सन्तान और शिष्यका पालन करते हुये योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ १२ ॥

तैत्तिरीयोपनिषत्—शिक्षाध्याय—नवम अनुवाक ॥

(स० प्र० समु०३ पृ० ४६ ४७)

उक्त बारह उपदेशों में संसार सागर का उल्लंघन कर के मोक्ष प्राप्ति के हेतु चार प्रकार के कर्म की आज्ञा है। अर्थात् एक योगाभ्यास, दूसरा अग्निहोत्रादि यज्ञ, तीसरा मानस ज्ञानयज्ञ, चौथा ब्रह्मचर्य, ये उपदेश वेदानुकूल हैं। इन के वैदिक प्रमाण भी थोड़े से आगे लिखते हैं। उक्त उपदेशावलि से यह भी असंदिग्ध सिद्ध होता है कि मनुष्य सब देश, काल अवस्था, आश्रम और दशा में योगाभ्यास करता हुआ योगी हो सक्ता है। मिथ्याभ्रम है कि बिना मूंड मुड़ाये, काषाय-वस्त्र धारण किये, घर बार पुत्र कलत्र धन धान्य छोड़े, योग सिद्ध हो ही नहीं सकता ॥

वेदोक्त तीर्थ ।

अथ मनुष्यः किं कार्यमित्याह

मनुष्यों को क्या करना चाहिये इस विषय का उपदेश आगे कहते हैं।

इस मन्त्र में संसार सागर के पार करने का उपदेश है, सो उक्त १२ उपदेशों में कहे चारों प्रकार के उपाय इस एक मंत्र में आगये हैं ॥

ओं—ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषंगिणः
तेषाᳬसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ॥ १ ॥

(अर्थ) [ये सृकाहस्ताः] हम लोग जो हाथों में [निषंगिणः इव] वज्र धारण किये हुवे प्रशंसित बाण और कोश से युक्त जनों के समान [तीर्थानि प्रचरन्ति] दुःखों से पार करने हारे वेद, आचार्य, सत्य भाषण और ब्रह्मचर्यादि अच्छे नियम अथवा जिन से समुद्रादिकों के पार उतरते हैं, उन नौका आदि तीर्थों का प्रचार करते हैं और [तेषां] उन के [सहस्र योजने] हजार योजन के देश में (धन्वानि अवतन्मसि] शस्त्रों को विस्तृत करते हैं ॥

(भावार्थ) मनुष्यों के दो प्रकार के तीर्थ होते हैं। उन में पहिले तो वे जो ब्रह्मचर्य, गुरु की सेवा, वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, पढ़ाना, सत्सङ्ग, ईश्वर की उपासना और सत्यभाषण आदि दुःख सागर से मनुष्यों को पार करते हैं और दूसरे वे-जिन से समुद्रादि जलाशयों के इस पार उस पार आने जाने को समर्थ हो। योगाभ्यास विषयक वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा प्रथम लिख चुके हैं। अतः अग्निहोत्र विषय मन्त्र आगे लिखते हैं। अग्निहोत्रादि यज्ञ संन्यासाश्रम से अतिरिक्त तीन आश्रमों में कर्त्तव्य धर्म है ॥

ओं—समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन्हव्या जुहोतन ॥ १ ॥

यजु० अ० ३ मं० १ (भू० पृ० २४५—२४७)

अर्थ–[समिधा घृतैः] हे विद्वान् लोगो ! तुम लोग वायु औषधि और वर्षाजल की शुद्धि से सब के उपकार के अर्थ जिन इन्धनों से अच्छे प्रकार प्रकाश हो सकता है उन घृतादि शुद्ध वस्तुओं और समिधा अर्थात् आम्र वा ढाक आदि काष्ठों से [अग्नि] भौतिक अग्नि को [बोधत] नित्य प्रकाशमान् करो [तम् अतिथि इव दुवस्यत) उस अग्नि का अतिथि के समान सेवन करो अर्थात् जैसे उस संन्यासी का कि जिसके आने जाने वा निवास का कोई दिन नियत नहीं है, सेवन करते हैं, वैसे उस अतिथि रूप अग्नि का सेवन करो और [अस्मिन] उस अग्नि में [हव्या आ जुहोतन] होम करने योग्य जो चार प्रकार के साकल्य हैं (अर्थात् (१) पुष्ट-घृत दुग्ध आदि (२) मिष्ट शर्करा, गुड़ आदि, [३] सुगन्धित केशर कस्तूरी आदि [४] रोग नाशक—सोमलता अर्थात् गुडूची आदि औषधि उन को अच्छे प्रकार हवन करो ॥

भावार्थ—जैसे गृहस्थ मनुष्य आसन, अन्न, जल, वस्त्र और प्रिय वचन आदि से उत्तम गुण वाले सन्यासी आदिका सेवन करते हैं वैसे ही विद्वान् लोगों को यज्ञ, वेदी, कला-यन्त्र और यानोंमें स्थापन कर यथा योग्य ईंधन, घी, जलादि से अग्नि को प्रज्वलित करके वायु वर्षा, जल की शुद्धि वा यानों की रचना नित्य करनी चाहिये ॥

अब अग्निहोत्र का फल आगे कहते हैं

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनस्य-दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम १

प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनस्यदाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम२

अथर्व का० १६ अनु०७ मं० ३। ४। (भू० पृ० २४६–२४८)

अर्थ—प्रतिदिन सायंकाल में श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त यह गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर आने वाले प्रातःकाल पर्यन्त आरोग्य आनन्द और वसु अर्थात् धनका देने वाला है, इसी से परमेश्वर धन दाता प्रसिद्ध है। हे परमेश्वर! आप मेरे राज्य ऐश्वर्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित रहो। हे परमेश्वर! जैसे पूर्वोक्त प्रकार से हम आप का मान करते हुवे अपने शरीर से पुष्ट होते हैं, वैसे ही भौतिक अग्नि को भी प्रज्वलित करते हुवे पुष्ट हों॥

(प्रातः प्रातः) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्रके तुल्य जानो परन्तु इस में इतना अन्तर है कि जैसे प्रथम मन्त्र के आरम्भ के वाक्य का यह अर्थ है कि सायंकाल में किया हुआ अग्निहोत्र प्रातःकाल पर्यन्त आरोग्यआदि की वृद्धि करने वाला है, वैसे ही इस मन्त्र के प्रथम वाक्य का यह अर्थ है कि प्रातःकाल में किया हुआ होम सायंकाल पर्यन्त उक्त उत्कृष्ट सुखों का दाता है और दूसरे वाक्य का यह अर्थ है कि भौतिक अग्नि तथा ईश्वर की उपासना करते हुवे हम लोग सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत होजाने पर्यन्त अर्थात् सौ वर्ष तक धनादि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त हों।

अभिप्राय यह है कि प्रथम मन्त्रमें सायंकाल में अग्निहोत्र करने का और दूसरे में प्रातःकाल में अग्निहोत्र करने का फल कहा है। अर्थात् जो संध्याकाल में होम होता है, वह हुतद्रव्य प्रातःकाल तक वायु शुद्धि द्वारा सुखकारी होता है, और जो अग्नि में प्रातःकाल में होम किया जाता है वह हुत-

द्रव्य सायंकाल पर्यन्त वायु की शुद्धि द्वारा बल, बुद्धि और आरोग्यकारक होता है। इसी लिये दिन रात्रि की सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान (ध्यानयोग द्वारा उपासना) और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये।

मानसज्ञानयज्ञ।

अगले वेदमन्त्र में यह जताया गया है कि पाकशाला में बने वा अन्य उत्तम पदार्थ का भोजन गृहस्थ को अग्निहोत्र में बिना होम किये ग्रहण न करना चाहिये किन्तु संन्यासी योगी दधि मधु घृतान्नादि भोज्य पदार्थों का भोजन भौतिकाग्नि में हवन किये बिना भी कर सकते हैं क्योंकि वे प्राणाग्नि में प्राणायामादि योगक्रियाओं द्वारा महान् तपोनुष्ठान रूप होम सदैव किया करते हैं। इस प्रकार प्राणों में प्राणों का हवन करने हारे तपस्वी तथा ईश्वराग्नि के श्रेष्ठ उपासक निरग्नि कहाते हैं, क्योंकि भौतिक अग्निद्वारा यज्ञादि कर्मों का उल्लङ्घन करके वे केवल ज्ञान और विज्ञानकाण्ड के अधिकारी हो जाते हैं। उनसे कर्मकाण्ड छूट जाता है।

आगे मानसज्ञानयज्ञ विषयक वेदमन्त्र लिखते हैं। इसही को यथार्थ ध्यानयोग, उपासनायोग, योगाभ्यास, ब्रह्मविद्या विज्ञानयोग आदि जानो।

ओ३म्—यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥यजु०अ०३१मं०१४

अर्थ —(हे मनुष्याः) हे मनुष्यो (यत्) जब (हविषा) ग्रहण करने योग (पुरुषेण सह) पूर्ण परमात्मा के साथ (देवाः) विद्वान् लोग (यज्ञं) मानस-ज्ञानयज्ञ को (अतन्वत) विस्तृत करते हैं (तदा) तब (अस्य) इस यज्ञ का (वसन्तः)

पूर्वाह्न काल ही (आज्यम्) घी है (ग्रीष्मः इध्मः) मध्याह्न काल इन्धन प्रकाशक है (शरत्) और अर्द्धरात्र (हविः) नाम होमने योग्य पदार्थ (आसीत्) है (इति यूयं विजानीत) ऐसा तुम लोग जानो।

भावार्थ—जब बाह्य सामग्री के अभाव में विद्वान् लोग सृष्टिकर्ता ईश्वर की उपासनारूप मानस यज्ञ को विस्तृत करें तब पूर्वाह्न आदि काल ही साधनरूप से कल्पना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्यादि वानप्रस्थान्त तीनों आश्रम सुष्ठु तया समाप्त करके चतुर्थाश्रम में संन्यासी उपासकों को अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं रहनी, वहाँ मुख्यतया मानस यज्ञ का ही अनुष्ठान रहता है, अतः उनके लिये काल ही सामग्रीरूप साधन है।

ओम्—सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।

देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥२॥

यजु० अ० ३१ मं० १५

अर्थ—(हे मनुष्याः) हे मनुष्यो (यत्) जिस (यज्ञं) मानस ज्ञानमय यज्ञ को (तन्वाना) विस्तृत करते हुये (देवाः) विद्वान् लोग (पशुम्) जानने योग्य (पुरुषं) परमात्मा को (हृदि) हृदय में (अबधन्) बांधते हैं (तस्य) उस यज्ञ के (अस्य सप्त परिधयः) सातगायत्री आदि छन्द (आसन्) चारों ओर से सूत के सात लपेट के समान हैं (त्रिःसप्त समिधः कृताः) (७ × ३) इक्कीस अर्थात् प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पाँच सूक्ष्म भूत, पाँच स्थूलभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, और सत्व रजस् तमस तीन गुण ये समग्री रूप किये (तम्) उस यज्ञ को (यथावत्) यथावत् (विजानीत) जानो।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम लोग इस अनेक प्रकार से कल्पित परिधि आदि सामग्री से युक्त मानसयज्ञ को करके उससे पूर्ण ईश्वर को जानके सब प्रयोजनों को सिद्ध करो २॥

ओं—स घा यस्ते ददाशति समिधा जातवेद से । सो अग्ने धत्ते सुवीर्यं स पुष्यति ॥

ऋ० अ० ३। अ० १। व० ७। मं० ३। अ० १। सू० १० मन्त्र। २।

अर्थ—(हे. अग्ने !) हे सब के प्रकाशक जन ! (यः) जो (समिधा) सम्यक् प्रकाशक इन्धन वा विज्ञानसे (जातवेद-से ते = आत्मानं = ददाशति) उत्पन्न हुवे पदार्थों में विद्या-मान वा वृद्धि को प्राप्त हुवे आप के लिये (आत्मा) अपने स्वरूप को देता अर्थात् प्राप्त कराता है (सः. घ. सुवीर्यम्. धत्ते) वह ही सुन्दर विज्ञानादि धन वा पराक्रम को धारण करता है (सः) वह सब ओर से (पुष्यति) पुष्ट होता है (स!) और वह (अन्यान् पोषयति च) दूसरों को पुष्ट करता है ॥

भावर्थ—जैसे प्राणी-अग्नि में घृतादि उत्तम द्रव्य का होम कर वायु आदि की शुद्धि होने से सब आनन्द को प्राप्त होते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग परमात्मा में अपने आत्मा का समर्पण कर समस्त सुखों को प्राप्त होते हैं ।

ओं—ये देवानाँ यज्ञिया यज्ञियानाᳬंसंवत्सरीणमुपभाग-मासते । अहुतादो हविषो यज्ञेऽअस्मिन्त्स्वयम्पिबन्तु मधुनो घृतस्य ॥ यजु० अ० १७ । मं० १३ ।

अर्थ—[ये देवानां मध्ये अहुतादः देवः] जो विद्वानों के बीच में विना हवन किये हुवे पदार्थ का भोजन करने हारे विद्वान् वा [यज्ञियाना मध्ये] यज्ञ करने में कुशल पुरुषों में यज्ञियः] विद्वांसः] योगाभ्यासादि यज्ञ के योग्य विद्वान्

लोग [संवत्सरीणम्] वर्षभर पुष्ट किये [भागम्] सेवने योग्य उत्तम परमात्मा की [उप आसते-उपासते] उपासना करते हैं [ते] वे [अस्मिन्] इस [यज्ञे] समागम रूप यज्ञ में [मधनः] सहन [घृतस्य] घृत वा जल [हविषः] और हवन के योग्य पदार्थों के भाग को [स्वयम् पिबन्तु] अपने आप सेवन करें ॥

भावार्थ—जो विद्वान् लोग इस संसार में अग्निक्रिया से रहित अर्थात् आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि सम्बन्धी बाह्य कर्मों को छोड़ के आभ्यन्तर अग्निको धारण करने वाले संन्यासी हैं, वे विना होम किये भोजन करते हुवे सर्वत्र विचार के सब मनुष्यों को वेदार्थ का उपदेश किया करें।

ब्रह्मचर्य

आगे ब्रह्मचर्यविषयक वेदमन्त्र लिखते हैं ॥

ओं—ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो
दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः । स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं
समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥

अथर्व० का० ११ अनु० ३ मं० ६ [भू० पृ० २३७]

अर्थ—[ब्रह्मचारी] जो ब्रह्मचारी होता है वही [समिधा] विद्या और तप से [समिद्धः] अपने ज्ञान को प्रकाशित [कार्ष्णं वसानः] और मृगचर्म को धारण करके [दीर्घश्मश्रुः बड़े केश श्मश्रुओं से युक्त [दीक्षितः सन्] और दीक्षा को प्राप्त होके [परमानन्दम् एति] जो परमानन्द को प्राप्त होता है [सः पूर्वस्मात् उत्तरं समुद्रं सद्यः एति] वह विद्या को ग्रहण कर के पूर्व समुद्र जो ब्रह्मचर्याश्रम का अनुष्ठान है उस के पार उत्तरके समुद्रस्वरूप गृहाश्रम को शीघ्रही प्राप्त होता है [एवं] इस प्रकार [निवासयोग्यान् सर्वान् लोकान्]

विद्या का संग्रह कर के निवासयोग्य सब लोकों को [मंगृभ्यः] प्राप्त होकर जगत् में अपने धर्मोपदेश का विचारपूर्वक [मुहुः] वारंवार] [आचक्रित्] प्रचार करता है अर्थात् अपने धर्मोपदेश का ही सौभाग्य बढ़ाता है ॥

ओं—ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मा यो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् । गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रोह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥ २ ॥

अथर्व० कां० ११ अनु० ३ मं० ७ [भू० पृ० २३८]

अर्थ—[सः ब्रह्मचारी] वह ब्रह्मचारी [ब्रह्म=वेदविद्यां पठन्] वेदविद्या को पढ़ता हुआ [अपः=प्राणान्] प्राणविद्या=योगाभ्यास वा ब्रह्मविद्या लोकं=दर्शनम्] षट्दर्शनविद्या=वैदिक फिलासफी [परमेष्ठिनं प्रजापतिम्] सब से बड़े प्रजानाथ और [विराजम् विविधप्रकाशकम् परमेश्वरम्] विविध चराचर जगत् के प्रकाशक परमेश्वर को [जनयन्=प्रकटयन्] जानता और जनाता हुआ [अमृतस्य मोक्षस्य योनौ=विद्यायाम्] मोक्षमार्गप्रकाशक ब्रह्मविद्या के ग्रहण करने के लिये [गर्भोभूत्वा=गर्भवन्नियमेन स्थित्वा यथावद्विद्यां गृहीत्वा] गर्भवत् नियमपूर्वक स्थित हो कर यथावत् विद्योपार्जन कर के [इन्द्रोहभूत्व=सूर्यवत्प्रकाशकः सन्] सूर्यवत्प्रकाशक अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त होकर [असुरान्=दुष्टकर्मकारिणोमूर्खान्पाखण्डिनोजनान् दैत्यरक्षःस्वभावान्] असुरों अर्थात् दुष्टकर्म करने हारे मूर्खों, पाखण्डियों और दैत्य तथा राक्षसों के से स्वभाव वाले जनों को [ततर्ह=तिरस्करोति सर्वान्नि वारयति] तिरस्कार करता है अर्थात् उन सब का निवारण करता है वा उनकी अविद्या का छेदन कर देता है ॥

[यथेन्द्रः सूर्योऽसुरान् मेघान् रात्रिं च निवारयति तथैव ब्रह्मचारी सर्वशुभगुणप्रकाशकोऽशुभगुणनाशकश्च भवतीति] यथा इन्द्र नाम सूर्य असुरों मेघों वृत्रासुर का और रात्रि का निवारण कर देता है, वैसे ही ब्रह्मचारी सर्व शुभगुणों का प्रकाश करने वाला और अशुभगुणों का नाश करने वाला होता है ॥ २ ॥

ओं—ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत । इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ ३ ॥

अथर्व० का० ११ अनु० ३ मं० १६ (भू० पृ० २३८)

अर्थ—(देवाः विद्वांसः) विद्वान लोग (ब्रह्मचर्येण = वेदाध्ययनेन ब्रह्म विज्ञानेन) वेदाध्ययन पूर्वक ब्रह्म विज्ञान (आत्मविज्ञान) को प्राप्त होकर (तपसा धर्मानुष्ठानेन च) और धर्मानुष्ठानसे (मृत्युं = जन्ममृत्युप्रभवदुःखम्) जन्ममरणजन्य दुःख का (उपाघ्नत = नित्यं घ्नन्ति नान्यथा) नित्य नाश करते हैं, अर्थात् उस को जीत कर मोक्ष सुख को प्राप्त हो जाते हैं क्यों कि मुक्त होने का अन्य कोई उपाय नहीं (यथा ब्रह्मचर्येण = सुनियमेन] जैसे परमेश्वर के नियम में स्थित होके (इन्द्रोह सूर्यः) सूर्य (देवेभ्यः = इन्द्रियेभ्यः) सब लोकोंके लिये स्वः सुखं प्रकाशं च) सुख और प्रकाश को (आभरत् = धारयति) धारण करता है [तथा विना ब्रह्मचर्येण कस्यापि नैव विद्या सुखं च यथावद्भवति अतो ब्रह्मचर्यानुष्ठानपूर्वकाएव गृहाश्रमादयस्त्रयआश्रमाः सुखमेधन्ते अन्यथा मूलाभावे कुतःशाखाः किन्तु मूले दृढे शाखा पुष्पफलच्छायादयः सिद्धा भवन्त्येवेति) इसहीप्रकार ब्रह्मचर्यव्रत यथावत् धारण किये विना किसी को भी ब्रह्मविद्या और मोक्ष वा सांसारिकविद्या और सुख यथावत् नहीं होता, इस लिये ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान करने वाले पु-

रूप ही गृहाश्रमादि तीनों आश्रमों में सुख पाते हैं, अन्यथा मूल के अभाव में शाखा कहां, किन्तु जड़ दृढ़ होने से ही शाखा पुष्प, फल, छाया आदि सिद्धि प्राप्त होते हैं। इस से ब्रह्मचर्याश्रम ही सब आश्रमों में उत्तम है क्योंकि इस में मनुष्य का आत्मा सूर्यवत् प्रकाशित होके सब को प्रकाशित कर देता है। इस कारण योगी को ब्रह्मचर्य के धारण पूर्वक विद्या और वीर्य की वृद्धि अवश्य करनी उचित है ॥ ३ ॥ क्योंकि—

ओ—व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ ४ ॥

यजु० अ० १६ मन्त्र ३०

अर्थ—(यो बालकः कन्यका मनुष्यो वा) जो बालक कन्या वा पुरुष [व्रतेन = सत्यभाषणब्रह्मचर्यादिनियमेन] सत्यभाषण और ब्रह्मचर्यादि नियमों से (दीक्षाम् = ब्रह्मचर्य विद्यादिसुशिक्षाप्रज्ञाम्) ब्रह्मचर्य विद्या, सुशिक्षा आदि सत्कर्मों के आरम्भरूप दीक्षा को (आप्नोति = प्राप्नोति प्राप्त होता है [दीक्षया] और दीक्षा से (दक्षिणाम् आप्नोति प्रतिष्ठां श्रियं वा प्राप्नोति) प्रतिष्ठा और धन को प्राप्त होता है [दक्षिणा = दक्षिणया] (अत्र विभक्तिलोपः) उस प्रतिष्ठा वा धन रूप दक्षिणा से (श्रद्धामाप्नोति = श्रत्सत्यं दधाति ययेच्छया ताम् श्रद्धां प्राप्नोति) सत्य के धारण में प्रीतिरूप श्रद्धा को प्राप्त होता है (श्रद्धाया) उस श्रद्धा से (सत्यम् = सत्सु नित्येषु पदार्थेषु व्यवहारेषु वा साधुस्तं परमेश्वरं धर्मं वा आप्यते = प्राप्यते) जो नित्य पदार्थों वा व्यवहारों में सब से उत्तम है उस परमेश्वर वा धर्मको प्राप्त करता है (सः सुखी भवति) वह सुखी होता है ॥

भावार्थ—कोई भी मनुष्य विद्या, अच्छी शिक्षा और श्रद्धा के विना सत्य व्यवहारों को प्राप्त होने और दुष्ट व्यवहारों के छोड़ने को समर्थ नहीं होता ॥

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है, तभी सत्य को जानता है। उसी सत्यमें मनुष्योंको श्रद्धा करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं अर्थात् जो मनुष्य सत्य को दृढ़ता से करता है तब दीक्षा (उत्तम अधिकार) के फल को प्राप्त होता है। उत्तम गुणों से युक्त होकर जब मनुष्य उत्तम अधिकार प्राप्त कर लेता है तब उस को दक्षिणा प्राप्त होती है, अर्थात् सब लोग सब प्रकार से उस धर्म निष्ठ उत्तमाधिकारी जन की सत्कीर्ति, प्रतिष्ठा और सत्कार करते हैं जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतोंसे अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है, तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है, फिर सत्य के आचरण में जितना२ श्रद्धा बढ़ती जाती है उतना२ ही धर्मानुष्ठानरूप सत्यमार्गका ग्रहण और अधर्माचरण रूप असत्य का त्याग करने से मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं.

इस से सिद्ध हुआ कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जांय, जिस से सत्य धर्म की यथावत् प्राप्ति हो और परिणाम में सत्य स्वरूप जो परमात्मा है, उस की प्राप्ति द्वारा सत्य सुख अर्थात् अमृत रूप मोक्षानन्द भी प्राप्त हो ॥ ४ ॥

ब्रह्मविद्या का अधिकारी कौन है ?

ब्रह्म विद्या का अधिकारी कौन हो सकता है अर्थात् कैसे मनुष्य को इस विषय का उपदेश करना चाहिये, यह विषय अगली श्रुति में कहा है ॥

ओं–ऊर्जोनपातथंसहिनायमस्मयुर्दाशेमहव्यदातये ।
भुवद्वाजेष्वविता भुवद्वृधऽउत त्राता तनूनाम् ॥

अर्थ—(हे विद्यार्थिन) हे विद्यार्थी ! (सः) सो, आप (ऊर्जा नपातम् हिन हिनु वर्द्धय) पराक्रम को और उन नष्ट करने हारे विद्या बोध की वृद्धि कीजिये (यतः अयम् भवान्) जिससे कि यह प्रत्यक्ष आप (अस्मयुः वाजेषु अविता भुवत्) हम को चाहने वाले और संग्रामों में रक्षा करने वाले होवें, (उत तनूनां वृधे त्राता भुवत्) और शरीरों के बढ़ने के अर्थ पालन करने हारे होवें [ततः त्वाम् हव्यदातये वयम् दाशेम) इस से आप को देने योग्य पदार्थों के देने के लिये हम लोग स्वीकार करें ॥

भावार्थ—जो पराक्रम और बल को नष्ट न करे, शरीर और आत्मा की उन्नति करता हुआ रक्षक हो, उस के लिये आप्त जन विद्या देवें । जो इस से विपरीत लम्पट दुराचारी निन्दक हो वह विद्या ग्रहण में अधिकारी नहीं होता, यह जानो । आप्त विद्वान उपदेशकों को उचित है कि सदा सर्व प्रकार का उपदेश अज्ञानी मनुष्यों को करते रहा करें सो आगे कहते है ॥

ओं–पाहि नो अग्न एकया पह्युत द्वितीयया ।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जाम्पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥
यजु० अ० २७ मं० ४३

अर्थ—[हे वसो = अग्ने त्वम्) हे सुन्दर वास देने हारे अग्नि के तुल्य तेजस्विन् ! विद्वन् ! आप [एकया नः पाहि] प्रथम शिक्षा से हमारी रक्षा कीजिये [द्वितीयया पाहि) दूसरी अध्यापन क्रिया से रक्षा कीजिये [तिसृभिः गीर्भिः पाहि) कर्म, उपासना और ज्ञान को जताने वाली तीन वा-

खियों से रक्षा कीजिये [हे ऊर्जांपते] [त्वं नः वतसुभिः उत पाहि] हे, बालों के रक्षक आप, हमारी धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन का विज्ञान कराने वाली चार प्रकार की वाणी से भी रक्षा कीजिये ॥

भावार्थ—सत्यवादी धर्मात्मा आप्त जन उपदेश करने और पढ़ानेसे भिन्न किसी साधनको मनुष्य का कल्याण कारक नहीं जानते, इस से नित्य प्रति अज्ञानियों पर कृपा कर सदा उपदेश करते और पढ़ाते हैं ॥

ब्रह्मविद्या का अधिकारी कौन है ।

(उपासनायोग) दुष्ट मनुष्यों को नहीं सिद्ध होता क्योंकि—

नाविरतोदुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

कठोपनि० वल्ली २ मं० २४ (स० प्र० समु०५ पृ० १२६)

अर्थ-(यः, पुरुषः दुश्चरितात् अविरतः सः एनम् परमात्मानम्, न प्राप्नुयात्) जो पुरुष दुराचार से पृथक् नहीं वह इस परमात्मा को नहीं प्राप्त होते (अशान्तः न प्राप्नुयात्) जिसको शांति नहीं वह भी नहीं पा सकता (असमाहितः न प्राप्नुयात्) जिसका आत्मा योगी नही वह भी नहीं अशान्त मानस अपि वा न प्राप्नुयात्) अथवा जिसका मन शान्त नहीं वह भी इस परमात्मा को नहीं प्राप्त होता, किन्तु (प्रज्ञानेन एवम् परमात्मानम् आप्नुयात्) प्रज्ञान (ब्रह्म विद्या और योगाभ्यास से प्राप्त किये विज्ञान वा आत्मज्ञान) से इस परमात्मा को प्राप्त होता है । क्यों कि (ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः) इस वाक्य से भी सिद्ध है कि ज्ञानके विना अन्य किसी प्रकार परमात्मा वा मोक्ष प्राप्त नहीं होता । सो आगे कहा है ।

ओं-परा हि मे विमन्यवः पतन्ति।
वस्य इष्टये। वयो न वसतीरुप॥

ऋ०अ०१। अ०२। व०१६। मं०१ अ० ६। सू० २५। मं० ४॥

अर्थ—(हे जगदीश्वर! त्वत्कृपया) हे जगदीश्वर! आप की कृपा से (वयः वसतीः विहाय दूरस्थानानि उप उपन्ति न) जैसे पक्षी अपने रहने के स्थानों को छोड़ २ दूर देश को उड़ जाते हैं वैसे (मे = मम वासात् वस्य इष्टये) मेरे निवासस्थान से अत्यन्त धन होने के लिये (विमन्यवः) अनेक प्रकार के क्रोध करने वाले दुष्टजन(परा पतन्ति हि) दूर ही चले जावें।

भावार्थ-जैसे उड़ाये हुये पक्षी दूर जाके बसते हैं वैसे ही क्रोधी जीव मुझ से दूर रहें और मैं उनसे दूर बसूं, जिस से हमारा उलटा स्वभाव और धनकी हानि कभी न होवे।

वक्ष्यमाण दूषणों से युक्त पुरुषों को भी ब्रह्मविद्या तो क्या किन्तु अन्य कोई विद्या भी नहीं आती। अतः इन दोषों से भी पृथक् रहना अतीव उचित है। यथा चोक्तम्—

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च॥
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः॥१॥
सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम्॥

अर्थ-आलस्य अर्थात् शरीर और बुद्धि में जड़ता, नशा, मोह नाम किसी वस्तु में फंसावट, चपलता और इधर उधर की व्यर्थ कथा करना सुनना, विद्याग्रहण में रुक जाना, अभिमानी होना, अत्यागी होना, ये सात दोष विद्यार्थियों में होते हैं॥१॥ जो ऐसे हैं, उनको विद्या भी नहीं आती। सुख भोगने

की इच्छा करने वाले को विद्या कहाँ? और विद्या पढ़ने वाले को सुख कहां? इसी लिये विषयसुखार्थी विद्या को और विद्यार्थी विषयसुख की आशा छोड़ दे।

आहार विषयक उपदेश।

अब योग जिज्ञासु के लिये आहारविषयक कुछ संक्षिप्त नियम लिखते हैं।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १ ॥

(भ० गी० अ० ६ श्लो० १६)

अर्थ—हे अर्जुन! न तो अधिक भोजन करने वाले को योग सिद्ध होता है और न एकान्त में कुछ भी न खाने वाले को, न अधिक सोने वाले पुरुष को और जागने वाले पुरुष को भी योग सिद्ध कदापि नहीं होता।

इस लिये इतना भोजन करे कि जिस में सम्पूर्ण रस को नाड़ियां खींच कर अच्छे प्रकार पचा सकें। जिससे गन्दी डकार व गन्दा अपानवायु न निकले अर्थात् अजीर्ण न होने पावे। यदि अजीर्ण हो तो, जब तक अन्न अच्छे प्रकार पच कर क्षुधा न लगे, तब तक न खाय, परन्तु श्रेष्ठ बात तो यह है कि जिस दिन अजीर्ण हो उस दिन कुछ न खाय, जब इच्छा हो तब थोड़ा दूध पीले। कभी कभी केवल दूध पीकर व्रत भी कर लिया करे। विदग्ध में भी भोजन थोड़ा करे, अथवा दूध पीकर ही रहे। भोजन करने से एक घण्टे पश्चात् जल पिये। खाते समय जल थोड़ा पीना चाहिये, सो भी भोजन के मध्य में। यदि भोजन में जल पीने का अभ्यास न किया जाय तो अच्छा है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ २ ॥
भ० गी० अ० ६ श्लो० १७

अर्थ-जो पुरुष युक्तिसे प्रमाण का भोजन नियत समयपर करता है, तथा युक्ति और प्रमाण से ही आने जाने, मार्ग चलने आदि का नियम रखता हैं, कर्त्तव्य कामों में संयमादि यथोचित नियमों का पालन करता हैं और नियत समय में नियमानुसार सोता और जागता है, उस पुरुष का योग दुःखनाशक होता हैं ॥ २ ॥

ओं-प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा वाचे स्वाहामनसे स्वाहा ॥
यजु० अ० २२ मं० २३

अर्थ-(यैर्मनुष्यैः) जिन मनुष्यों के (प्राणाय) जो पवन भीतर से बाहर निकलता है उसके लिये (स्वाहा) योग विद्यायुक्त क्रिया (अपानाय) जो बाहर से भीतर का है उसे पवन के लिये (स्वाहा) वैद्यकविद्यायुक्त क्रिया (व्यानाय) जो विविध प्रकार के अङ्गों में व्याप्त होता है उस पवन के लिये (स्वाहा) वैद्यकविद्यक युक्त वाणी (चक्षुषे) जिससे प्राणी देखता है उस नेत्र इन्द्रिय के लिये (स्वाहा) प्रत्यक्षप्रमाण युक्त वाणी (श्रोत्राय) जिससे सुनता है उस कर्णेन्द्रिय के लिये (स्वाहा) शास्त्रज्ञ विद्वान् के उपदेशयुक्त वाणी (वाचे) जिससे बोलता है उस वाणी के लिये (स्वाहा) सत्य भाषण आदि व्यवहारों से युक्त बोल चाल (मनसे) तथा विचार के निमित्त संकल्प और विकल्पवान् मन के लिये [स्वाहा] विचार से भरी वाणी [प्रयुज्यते, ते विद्वांसो जायन्ते] प्रयोग

की जाती है अर्थात् भली भांति उच्चारण की जाती है वे विद्वान् होते हैं।

भावार्थ-जो मनुष्य-यज्ञ में शुद्ध किये जल, औषधि, पवन, अन्न, पत्र, पुष्प, फल रस, कन्द अर्थात् अरवी, आलू, कसेरू रतालू और शकरकन्द आदि पदार्थों का भोजन करते हैं वे नीरोग होकर बुद्धि, बल, आरोग्य और आयु वाले होते हैं।

इस मन्त्र में कई उपदेश हैं। यथा-योगाभ्यास, वैद्यक-विद्यानुसार खान पान का नियम, अवणचतुष्टय का अनुष्ठान प्राणाग्नि में हवन, इत्यादि।

जठराग्नि बढ़ाने का उपदेश।

ओम्-अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् अपाꣳ रेताꣳसि जिन्वति ॥ यजु० अ० १५ मं० २०

अर्थ-(यथा) जैसे (हेमन्त ऋतौ) हेमन्त ऋतु में (अयम्) यह प्रसिद्ध अग्निः) अग्नि (दिवः) प्रकाश (पृथिव्याः—च—मध्ये) और भूमि के बीच (मूर्द्धा) शिर के तुल्य सूर्यरूप से वर्त्तमान (ककुत्पतिः सन्) दिशाओं का रक्षक होके (अपाम्) प्राणों के (रेतांसि) पराक्रमों को (जिन्वति) पूर्णता से तृप्त करता है (तथैव) वैसे ही (मनुष्यैः) मनुष्यों को (बलिष्ठैः) बलवान् (भवितव्यम्) होना चाहिये।

भावार्थ-मनुष्यों को चाहिये कि युक्ति से जठराग्नि को बढ़ा संयम से आहार विहार करके नित्यबल बढ़ाते रहें।

योगभ्रष्ट मनुष्य पुनर्जन्म में भी योगरत होता है।

योगी, योग को यथावत् पूर्ण करने से पूर्व ही मृत्यु को

प्राप्त हो तो उसका योग निष्फल नहीं जाता, यह विषय आगे कहते हैं।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तातगच्छति ॥ १ ॥
भ० गी० अ० ६ श्लोक ४०

अर्थ—अर्जुन! उस योगभ्रष्ट पुरुष के कर्मफल का विनाश इस लोक(जन्म) तथा परलोक (जन्म) में नहीं होता। हे तात शुभकर्म करने वाला कोई भी पुरुष दुर्गति को नहीं प्राप्त होता, अर्थात् मनुष्योनि ही प्राप्त होती है। अधोगति [नीच योनि] में नहीं जाता, अथवा अनेक प्रकार के दुःसह दुःख भी नहीं भोगता ॥ १ ॥

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ २ ॥
भ० गी० अ० ६ श्लोक ४१ ॥

अर्थ—वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यात्मा लोगोंके निवास करने योग्य लोकों को प्राप्त कर के बहुत वर्षों तक सुख पूर्वक वहां वास करके शुद्धाचरणी पुण्यशील पवित्र पुण्यात्मा जनों तथा श्रीमानों के घर में जन्म लेता है ॥ २ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ३ ॥
भ० गी० अ० ६ श्लोक ४२

अर्थ—अथवा बुद्धिमान योगियोंके कुलमें ही जन्म पाता है। जगत् में योगियों के कुल में जो ऐसा जन्म मिलता है, सो अति दुर्लभ है ॥ ३ ॥

तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४ ॥

भ० गी० अ० ६ श्लोक ४३

अर्थ—वहां अर्थात् धनाढ्यों, राजाओं वा योगियों के कुल में उस ही पूर्व देह सम्बन्धी बुद्धि संयोग को प्राप्त होता है, और फिर योग की सम्यक् सिद्धि के लिये अधिक यत्न करता है ॥ ४ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ५ ॥

भ० गी० अ० ६ श्लोक ४४

अर्थ—विवश अर्थात् ऐश्वर्यादि भोगों में फंसा हुआ होने पर भी पूर्व जन्ममें किये योगाभ्यास के संस्कार से प्रेरित हो कर वह पुरुष अवश्यमेव योगाभ्यास करनेको आकर्षित होता है और योग का जिज्ञासु होने मात्र से भी शब्द ब्रह्म का उल्लङ्घन कर जाता है ॥ ५ ॥

शब्द ब्रह्म के उल्लङ्घन करने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्मका वाचक ओं शब्द रूपी महामन्त्र का जाप करते करते, सविकल्प समाधियों को सिद्ध करता हुआ, उन के परे जो निर्विकल्प समाधि है, वहां तक पहुंचकर मुक्ति को प्राप्त करता है

"ओ३म्" यह शब्द, ब्रह्म का परम उत्कृष्ट नाम है । अतः शब्द ब्रह्म कहाता है क्यों कि इस से बढ़ कर उच्च काष्ठा का अन्य कोई शब्द नहीं । अतः यह शब्दों में सब से श्रेष्ठ वा बड़ा होने के कारण शब्द ब्रह्म है ॥

योग भ्रष्ट पुरुष अगले जन्म में फिर योग के साधनों में ही तत्पर होता है, इस विषय का वेदोक्त प्रमाण आगे लिखा जाता है ।

ओं—विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे । यस्माद्योनेरुदारिथा यजे तं प्रत्वे हवींषि जुहुरे समिद्धे । य० अ० १७ मं० ७५ ॥

अर्थ-(हे अग्ने=योगिन्) हे योग संस्कार से हुए कर्म को दग्ध करने वाले योगी ! (ते परमे जन्मन्=जन्मनि) तेरे सब से अति उत्तम योग के संस्कार से उत्पन्न हुवे पूर्व जन्म में था (त्वे= त्वयि वर्त्तमाने अवरे=अर्वाचीने) तेरे वर्त्तमान जन्ममें तथा आगे होने वाले जन्ममें (सधस्थे वर्त्तमाना वयम्) एक साथ स्थान में वर्त्तमान हम लोग (स्तोमैः विधेम) स्तुतियों से सत्कार पूर्वक तेरी सेवा करें (त्वम् अस्मान्) तू हम लोगों को (यस्मात् योनेः उदारिथ) जिस स्थान से अच्छे अच्छे साधनोंके सहित प्राप्त हो [तम्] उस [योनिम्] स्थान का (अहम्) मैं (प्रयजे] अच्छे प्रकार प्राप्त होऊं और [यथा होतारः समिद्धे] जैसे होम करने वाले लोग अच्छे प्रकार जलते हुए [अग्नौ] अग्नि में [हवींषि] होम करने योग्य वस्तुओं को (जुहुरे) होमते हैं [तथा योगाग्नौ दुःख समूहस्य होमं) वैसे योगाग्नि में हम लोग दुःख समूहों के होम का (विधेम) विधान करें ॥

भावार्थ—इस संसार में योग के संस्कार से युक्त जिस जीव का पवित्र भाव से जन्म होता है, वह संस्कार की प्रबलता से योग ही के जानने की चाहना करने वाला होता है, और उस का जो सेवन करते हैं वे भी योग की चाहना करने वाले होते हैं । उक्त सब योगिजन जैसे अग्नि इन्धन को जलाता है, वैसे समस्त दुःख अशुद्धि भाव को योग से जलाते हैं ॥

इस मन्त्र से पुनर्जन्म सिद्ध होता है ॥

सन्निहितमरण पुरुष को प्राणप्रयाण समयमें किस प्रकार परमात्मा का स्मरण करना चाहिये, सो आगे कहते हैं ।

मरण समय का ध्यान

ओं—वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳस्मर ॥
यजु० अ० ४० मन्त्र १५

अर्थ—[हे क्रतो त्वं शरीर त्याग समये) हे कर्म करने वाले जीव ! तू शरीर छूटते समय [ओ३म्] ओ३म् इस नाम वाच्य ईश्वर का (स्मर) स्मरण कर [क्लीवे] अपने सामर्थ्य के लिये [स्मर=परमात्मनं स्वस्वरूपं च स्मर] परमात्मा और अपने स्वरूप का स्मरण कर [कृतं] अपने किये का [स्मर) स्मरण कर अत्रस्थः) इस संस्कार का [वायुः] धनञ्जयादिरूप वायु [अनिलम्] कारण रूप वायु को और [अनिलः] कारणरूप वायु (अमृतं] अविनाशी कारण को [धरति] धारण करता है [अथ] इस के अनन्तर [इदम् शरीरम्) यह नष्ट होने वाला सुखादि का आश्रय शरीर (भस्मान्तं भवति] अन्त में भस्म होने वाला होता है (इति विजानीति] ऐसा जानो ।

भावार्थ-मनुष्यों को चाहिये कि जैसी मृत्यु समयमें चित्त की वृत्ति होती है और शरीर से आत्मा का पृथक् होना होता है वैसे ही इस समय भी जानें। इस शरीर को जलाने पर्यन्त क्रिया करें। जलाने के पश्चात् शरीर का कोई संस्कार न करें वर्त्तमान समयमें एक परमेश्वर ही की आज्ञाका पालन, उपासना और अपने सामर्थ्य को बढ़ाया करें। किया हुआ कर्म निष्फल नहीं होता ऐसा मान के धर्म में रुचि और अधर्म में अप्रीति किया करें॥

—०—

मरण समय की प्रार्थना ।

ओं—पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रम् आगन् । वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातुदुरितादवद्यात् ॥१५॥

यजु० अ० ४ मन्त्र १५ भू० पृ० २०३

अर्थ—(हे जगदीश्वर भवदनुग्रहेण सम्बन्धेन वा विद्यादिश्रेष्ठ गुण युक्तं विज्ञानसाधकम् मनः आयु च जागरण अर्थात् शयनानन्तरं द्वितीये जन्मनि पुनर्जन्मनि वा पुनः पुनः मे आगन् प्राप्नुयात्) हे जगदीश्वर ! आपकी कृपा वा सम्बन्ध से विद्या आदि श्रेष्ठ गुण युक्त तथा विज्ञान साधक मन और आयु जागने पर अर्थात् सोने के अन्त में दूसरे जन्म में वा जब२ जन्म लेना पड़े तब२ सदैव मुझ को प्राप्त हो [प्राणः=शरीर धारकः आत्म=अनति सर्वत्र व्याप्नोति इति सर्वान्तर्यामी परमात्मा स्वस्वभावो मदात्मा विचार शुद्धः सन् मे पुनः२ आ=समन्तात आगन् प्राप्नुयात्) शरीर को आधार प्राण. सब में व्यापक सब के भीतर की सब बातों को जानने वाले परमात्मा का विज्ञान वा अपना स्वभाव अर्थात् मेरे आत्मा का विचार शुद्ध होकर, मुझ को बारंबार [पुनर्जन्म में] सब ओर से अच्छे प्रकार प्राप्त होवे [चक्षुः=चष्टे येन तद्रूपग्राहकमिन्द्रियम् श्रोत्रम्=शृणोति शब्दानयेन तच्छब्दग्राहकमिन्द्रियम् पुनः पुनः मनुष्यदेहधारणानन्तरम् मे=मह्यम् आ अगन् आभिमुख्येन प्राप्नुयात्] देखने के लिये नेत्र शब्द का ग्रहण करने वाला कान; मनुष्य देह धारण करने के पश्चात् मुझ को सब प्रकार प्राप्त हो (अदब्धः=हिंसितुमनर्हः दम्भादि दोषरहितः तनूपाः=यः शरीरमात्मानं च रक्षति, वैश्वानरः=शरीरनेता

जठराग्निः सर्वस्य नेता परमेश्वरो वा सकल जगतानयनकर्त्ता] हिंसा करने के अयोग्य दम्भादि दोष रहित शरीर वा आत्मा की रक्षा करने वाला, शरीर को प्राप्त होने वाला, जठराग्नि वा सब विश्व को प्राप्त होने वाला परमेश्वर सकल विश्व में विराजमान ईश्वर [अग्निः = अन्तस्था विज्ञानानन्दस्वरूपः परमेश्वरः सर्व पाप प्रणाशकः] सब के हृदय में विराजमान आनन्दस्वरूप और सब पापों को नष्ट कर देने हारा [अवद्यात् पापाचरणाद्दुरितात् = पापजन्यात्मासव्याद् दुःखाद् दुष्टकर्मणो वा) पाप कर्मों से उत्पन्न हुवे दुःख वा दुष्ट कर्मों से [पातु = रक्षतु] रक्षा करे।

भावार्थ—जब जीव मरण आदि व्यवहार को प्राप्त होते हैं तब जो जो मन आदि इन्द्रिय नाश हुवे के समान होकर फिर जगने पर वा जन्मान्तर में जिन कार्य करनेके साधनो को प्राप्त होते हैं, वे इन्द्रिय विद्युत अग्नि आदि के सम्बन्ध परमेश्वर की सत्ता वा व्यवस्था से शरीर वाले होकर कार्य करने को समर्थ होते हैं। मनुष्यों को योग्य है कि जो अच्छे प्रकार सेवन किया हुआ जठराग्नि सब की रक्षा करता और जो उपासना किया हुआ परमेश्वर (जगदीश्वर) पापरूप कर्मों से अलग कर, धर्म में प्रवृत्त कर, बारंबार मनुष्य जन्म को प्राप्त करा कर, दुराचार वा दुःखों से पृथक् कर के इस लोक वा परलोक के सुखों को प्राप्त कराता है, उस जठराग्नि को उपयुक्त करें और उस परमेश्वर ही की उपासना करें।

—०—

योगी के उपयोगी नियम

जिज्ञासु योगी को किस प्रकार नित्यप्रति अपने आचरणों को वर्त्तमान रखना चाहिये, सो आगे कहते हैं॥

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥

मनु० अ० ४ श्लो० २०४ (स० प्र० समु० ३ पृ० ४७)

अर्थ—बुद्धिमान् योगी को उचित है कि अहिंसादि यमों का निरन्तर सेवन करता रहे, किन्तु यमों को त्याग कर केवल शौचादि नियमों का ही सेवन न करे, क्यों कि यम रहित केवल नियमों का सेवन करने से मनुष्य धर्म से पतित नाम च्युत हो जाता है ॥

अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त यमनियमों द्वारा जो बाह्य और आभ्यन्तर शौच का विधान शास्त्रों में किया गया है. उस के प्रधानांश यमों द्वारा आभ्यन्तर शुद्धि करना छोड़ कर जो लोग दम्भ से स्नानादि बाह्यशुद्धिमात्र लोक दिखावे के ही लिये करते हैं. वे धार्मिक नहीं हो सकते । अतः यम नियम दोनों का यथावत् सेवन करना तो उत्तम कर्म है, परन्तु सामान्य पक्ष में यदि नियमों का कोई अंश छूट भी जाय तो भी यमों का परित्याग न करे । तथापि जो कभी न्हा धोकर बाह्य शुद्धि भी नहीं करते, उन की अपेक्षा केवल बाह्यमेव्य का आचरण करने वाले भी किसी अंश में अच्छे ही हैं ।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ॥
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

मनु० अ० २ श्लो० २८ (स० प्र० समु० ३ पृ० ४८)

अर्थ—(स्वाध्यायेन) सकल विद्या पढ़ने पढ़ाने (सन्ध्योपासन योगाभ्यास करने) (व्रतैः) ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि नियम पालने (होमैः) अग्निहोत्रादि होम, सत्य का ग्रहण असत्य का त्याग और सत्यविद्याओं का दान देने (त्रैविद्येन) वेदस्थ—कर्म, उपासना और ज्ञान, इन तीन प्रकार की

विद्याग्रहण करने (इज्यया, सुतैः) पक्षेष्ट्यादि करने, सुसन्तानोत्पत्ति करने (महायज्ञैश्च) ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेव और अतिथियज्ञ, इन पाँच महायज्ञों [यज्ञैश्च] अग्निष्टोमादि यज्ञों [च] तथा शिल्पविद्या विज्ञानादि यज्ञों के सेवन से ब्राह्मी, इयं, क्रियते, तनुः] इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप ब्राह्मण का शरीर करना उचित है । इतने साधनों के बिना ब्राह्मण शरीर नहीं बन सकता और अपने आचरणों को सुधारे बिना अधर्मी पुरुष का योग सिद्ध होना असम्भव है ॥ यथा कहा है कि—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥

मनु० अ० २ श्लो० ९७ (स० प्र० समु० ३ पृ० ४८)

जो दुष्टाचारी, अजितेन्द्रिय पुरुष है, उस के वेद, त्याग [वैराग्य] यज्ञ, नियम और अच्छे धर्म युक्त काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते ॥

इस लिये मनुष्यों को उचित है कि अपने योगाभ्यासादि नित्यकर्मों का अनुष्ठान प्रतिदिन नियम पूर्वक आवश्यमेव करते रहें, कभी अनध्याय न करें । अतएव महर्षिमनु जी उपदेश करते हैं कि—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यिके ॥
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥

मनु० अ० २ श्लो० १०५ [स० प्र० समु० ३ पृ० ४६]

वेद के पढ़ने पढ़ाने, सन्ध्योपासन, योगाभ्यास, पंचमहायज्ञादि के करने और होममन्त्रोंको पढ़ने में अनध्यायविषयक अनुरोध [आग्रह] नहीं है ॥

इस ही विषय में अत्यन्त आवश्यकता जताने के हेतु फिर दुबारा उक्त महर्षि आग्रहपूर्वक उपदेश करते हैं कि—

नैत्यिके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ॥
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥

मनु० अ० २ श्लो० १०६ (स० प्र० समु० ३ पृ० ४९)

नित्य कर्म में अनध्याय नहीं होता, जैसे श्वास प्रश्वास सदा लिये जाते हैं बन्द नहीं किये जासकते, वैसे योगाभ्यास आदि नित्य कर्म प्रतिदिन करना चाहिये, किसी भी दिन छोड़ना उचित नहीं क्यों कि अनध्याय में भी अग्निहोत्रादि उत्तम कर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है।

जैसे झूंठ बोलने में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है, वैसे ही बुरे कर्म में सदा अनध्याय और सत्य कर्म में सदा स्वाध्याय ही होता है।

अतएव मुमुक्षुजनों को अत्यन्त आवश्यकतापूर्वक उचित है कि प्रतिदिन न्यून से न्यून दो घंटे, अर्थात् १ घंटे भर तक प्रातःकाल तथा १ घंटे भर तक ही सायंकाल में भी 'ध्यान-योग' द्वारा ध्यानावस्थित होकर योगाभ्यास किया करें।

आरम्भ में बालकों की विद्या, शिक्षा और सुसङ्गति का तथा मुख्यतया वीर्य की रक्षा तथा मादक द्रव्यों से बचाव रखने आदि का प्रबन्ध सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय तथा तृतीय समुल्लास में किये उपदेशों के अनुसार कराना चाहिये ॥

अब यह ग्रन्थ परमकारुणिक ईश्वर की कृपा से समाप्त हुआ, इस के अनुसार जो कोई मुझ से निष्कपट होकर जब कभी योग सीखा चाहेगा, उस को मैं भी निष्कपटपूर्वक बताने में किञ्चित् दुराव न करूंगा, और जो कुछ सिखाऊंगा,

उसको प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध करा कर पूर्ण विश्वास ही करा दूंगा ॥

अलमतिविस्तरेण

ग्रन्थसमाप्तिविषयक प्रार्थना ।

ओं—शन्नो मित्रः शंवरुणः । शन्नो भवत्वर्यमा ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः । शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ नमो
ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम् ।
सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत् । तद्वक्तारमावीत् ।
आवीन्माम् । आवीद्वक्तारम् ॥ओं-म् शांतिः ३॥

अर्थ—हे परममित्र स्वीकार करने योग्य कमनीय न्यायकारी सर्वाधिपति सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक और अनन्तवीर्य परमात्मन् ! आप हमारे सर्वप्रकार से शान्तिकर्ता, पुष्टिकर्त्ता, तुष्टिकर्त्ता, मोक्षानन्दप्रद, न्यायकर्त्ता, सर्वैश्वर्यप्रद, पालक, पोषक और सर्वाधार हैं । आप सबसे बड़े और सर्वशक्तिमान् हैं, इस लिये आप ही को हमारा बारंबार प्रणाम प्राप्त हो, क्योंकि प्रत्यक्ष ब्रह्म केवल आप ही हैं । मैंने इस ग्रन्थ में आप ही का होना प्रतिपादन किया है और जो कुछ मैंने कथन किया है सो वेदादि सत्य शास्त्रों के अनुकूल और निज शुद्धबुद्ध्यनुसार सत्य ही सत्य किया है । और मैं आप का परम उपकार मानता धन्यवाद देता और अपने ताईं कृतकृत्य जानता हुआ मुक्तकण्ठ कहता हूं कि आपने मेरी सर्वदा भले प्रकार सब विघ्नों और तापत्रय से यथावत् रक्षा की । और आशा करता हूं कि जो कोई इस पुस्तक के अनुसार योगा-

भ्यास करेगा, उसको भी आप इसी प्रकार सर्वदा सहायता करते रहेंगे।

इति श्री-परमहंसपरिव्राजकाचार्याणांपरमयोगिनां
श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनांशिष्येण
लक्ष्मणानन्दस्वामिनासुप्रणीते
ध्यानयोगप्रकाशाख्यग्रन्थे
उपासनायोगानां
तृतीयोऽध्यायः
समाप्तः ॥

—०—

निज वृत्तान्त ।

अब मैं इस ग्रन्थ को समाप्त करने से पूर्व कुछ अपना वृत्तान्त वर्णन करता हूं, जिससे ज्ञात हो जायगा कि वर्त्तमान समय में सच्चे मार्ग के अन्वेषण और प्राप्त करने के निमित्त क्या २ दुःख उठाने पड़ते हैं। कैसी २ आपत्तियों से बचना किस प्रकार दुस्तर होता है। अर्थात् धनक्षय, आयुःक्षय, वृथाकालक्षय, अपकीर्ति, अनादर, लोकापवाद, स्वजनबन्धु-तिरस्कार आदि हानियाँ सहन करने पर भी यदि किसी को सांगोपांग, सम्पूर्णक्रियासहित यथार्थ योगविद्या का विद्वान् मिल जाय तो अहोभाग्य जानो। इतने पर भी ईश्वर का अत्यन्त अनुग्रह तथा उस पुरुष को अपना बड़ा ही सौभाग्य समझना चाहिये कि जिसको ऐसे दारुण समय में कोई विद्वान् उपदेश देने को सन्नद्ध भी हो जाय। क्योंकि प्रथम तो सत्य योग के जानने वा उपदेश करने वाले आप्त विद्वान् आज कल सर्वत्र प्राप्त नहीं होते दूसरे योग के सीखने की श्रद्धा वा

उत्कण्ठा वाले भी बहुत कम लोग होते हैं। तीसरे जिज्ञासुओं को विश्वास होनाभी इस समय कठिन इस लिये हैं कि इतस्ततः भ्रमण करते हुवे वागदम्भक जन योग की शिक्षा के स्थान में जिज्ञासुओं तथा उनके कुटुम्बियों को अधिक दुःखमें फँसा देते हैं। चौथे योग का कोई अधिकारी जिज्ञासु भी मिलना दुर्लभ है। मैंने भी पूर्वोक्त त्रिविध आपत्तियाँ झेली हैं, अतः मुझको अत्यन्त आवश्यक और उचित है कि लोगों को अच्छे प्रकार कान खोल कर सावधान करदूं।

मेरा जन्म सम्वत् १८८७ विक्रमी में पंजाब देशान्तर्गत अमृतसर नगर निवासी एक क्षत्रिय कुल में हुआ था। मेरे पिता का देहान्त तो तब ही होगया था, जब मैं केवल दो ही वर्ष का था। मेरी विधवा माता ने जिस कठिनाई से मेरा पालन पोषण करके मुझे बड़ा किया, उसका सब लोग अनुमान कर सकते हैं। घर में माता सब प्रकार लाड़ चाव रक्षा वा ताड़ना तथा शासनादि प्रबन्ध भारतदेश की स्त्रियों की योग्यतानुसार रखती ही थी, परन्तु घर से बाहर जाने पर वहां पिता के समान हित वा आतंक करने वाला कोई न था। यदि इस प्रकार का हित चाहने वाला कोई होता तो कदाचित् मेरा अहित होना सम्भव था। चौदह वर्ष की अवस्था से मैं साधु संन्यासी योगी यति आदि जनों में आने जाने लगा था। धीरे धीरे उस सत्संग का व्यसन पड़ गया। और मेरा अधिक समय इसी प्रकार के लोगों के साथ व्यतीत होता था।

माता मेरी इस बात से कुछ अप्रसन्न सी रहती थी और जब मैं घर आता था, तब मुझको इन बाबा जी आदि लोगों

में आने जाने से वर्जती रहती थी, क्योंकि मेरा पिता कूंडा पन्थियों से योग सीखने के नाम से प्रसिद्ध था कि जिसमें उसने प्रचुरतर धन भी गंवाया था और मेरी माता इस बात से कुढ़ा करती थी।

मैं जब कुछ अधिक बड़ा हुआ तो ईश्वर की कृपा से आजीविका का योग भला चंगा होगया और माता भी अब अप्रसन्न नहीं रहने लगी क्योंकि धनागम आवश्यकता से अधिक था। दूसरे मा को यह भी पूर्ण विश्वास था कि मैं दुर्व्यसनी पुरुषों के संग में कहीं नहीं जाता वा रहता था, तथापि संन्यासी हो जाने का मेरी ओर से उसको भय भी रहता था परन्तु मैंने अच्छे प्रकार आश्वासन कर दिया था कि जब तक माता जी! आप जीवित हैं तबतक ऐसा विचार मेरा सर्वथा असम्भव जानो। अन्य सब प्रकार की उसकी सेवा शुश्रुषा मैं करता ही रहता था और वह भी मेरे इस स्वभाव से खुश मानती थी। और मेरा विवाह कर देने के उपाय में रहती थी। मेरा प्रारब्ध वा सौभाग्य वा परमेश्वर की कृपा वा विरागियों का संग वा पूर्वजन्म के संस्कार, कुछ भी समझलो, ज्यों ज्यों मेरी माता अपने विचार को दृढ़करके विवाह का प्रयत्न करती जाती थी, त्यों त्यों उत्तरोत्तर मेरा विचार गृहस्थाश्रम धारण करने से हटता जाता था। परिणाम में मैंने विवाह नहीं होने दिया क्यों कि परमात्मा जब सहायक होता है तो अच्छे ही बानक बना देता है। इस प्रकार अनेक मतमतान्तरवादियों, पन्थप्रचारकों से वार्त्तालाप तर्क विवाद और अनेक दम्भी पाखण्डी जनों से मेल मिलाप करते करते अनेक विपत्तियाँ सहते २ अब मैं २६वर्ष का होने आया बहुत धन इतने समय में खोया। भांति भांति के मनुष्यों से

मिलते रहने और सब के ढंग देखते रहने से मैं अब पक्का भी हो गया और एकाएकी किसी की बातमें नहीं आने पाता था। मैं वाचाल भी अधिक था अतएव असत्पथानुयायी मिथ्यावेषधारी नाममात्र के साधुओं की पोल भी खोलता रहता था उनकी बात मेरे सामने नहीं चलने पाती थी, इस लिये वे लोग मुझ से घबराया करते थे।

प्रतिमा पूजन, तीर्थयात्रा, एकादश्यादि व्रत आदि बातों में मुझ को प्रथम ही से विश्वास नहीं रहा था इस कारण नास्तिक नाम से मैं प्रसिद्ध हो गया था। यद्यपि साधु. संन्यासी वैरागी कहाने वाले लोगों के खानपान सन्मान में धनव्यय करने में ग्रीष्म की तीव्रःघाम हेमन्त और शिशिर का शीत, वर्षा का वृष्टिजल, हिम, उपल, वायु वेगोत्पन्न आँधी, झक्कड़ आदि सब अपने शिर पर झेले। तमोभूत अन्धकारमय अर्ध-रात्र आदि भयंकर दुःसमयादि में उनके पास दूर दूर निर्जन वन (जंगल आदि) में भूख,: प्यास, शीतोष्ण, मानापमान आदि अनेक द्वन्द्वरूप संकट सहन करके उनका सत्संग करने में भी कभी आलस्य न किया, क्योंकि ऐसे जनों से मिलने की श्रद्धा इतनी थी कि मिले विना रहा नहीं जाता था—मानो यही मेरा स्वाभाविक व्यसन हो गया क्योंकि यह निश्चय भी मन में था कि परमात्मा जब कृपाकटाक्ष मेरी ओर करेंगे, तब इन कष्टों के उठाने के फल में किसी अच्छे साधु योगिजन से भेंट अवश्य होगी।

योगमार्ग की चर्चा भी बहुधा रहा करती थी और जिस प्रकार के योग के ढकोसलों का सम्प्रति जगत् में प्रचार है उनको सच्चा योगमार्ग जान कर बहुत प्रकार की हठयोग क्रियाओं का भी साधन किया, परन्तु मनको वशमें करने का उपाय कोई न पाया।

कूंडापन्थ एक वाममार्ग की शाखा है। ये लोग योगी प्रसिद्ध हैं गुप्त गुफा में इनकी कार्यवाही हुआ करती है और वाममार्गियों के समान मांसादि पदार्थों के विचित्र गुप्त नाम इन लोगों ने भी रख छोड़े हैं। यथा—मदिरा को तीर्थ, मांस को शुद्धि, हुक्के को सुरला, भंग को अमीरस आदि। जो लोग इनसे पृथक्मार्ग के होते हैं उन को भी कण्टक कहते हैं इनमें से कुछ मनुष्यों ने यह कह कर मेरा पीछा किया कि तुम्हारे पिता ने भी हम लोगों से योग सीखा था और वह योगी था, वही योग हम लोग तुम को भी सिखावेंगे, ऐसा विश्वास दिलाते थे और आग्रह करके मुझको गुप्त स्थान में लेजा कर कहने लगे कि—योगी बनने से पूर्व कान फड़वाने पड़ेंगे, उन की यह बात सुन कर मैंने जब कुछ प्रश्नोत्तर किये तो बोले कान फाड़े नहीं जायेंगे, केवल कहने मात्र को पकड़ कर खींचे जायेंगे। और आटे की मुद्रा बनाकर मेरे कानों में बांध दी और कहा कि तुम इन को कढ़ाई में तलकर खालेना और यहां का हाल किसी से न कहना। परन्तु मैंने बाहर आकर उनकी समस्त व्यवस्था प्रकाशित करदी।

कूंडापन्थियों के विषय में इतना वर्णन सूक्ष्मता से इसलिये कर दिया गया है। कि लोगों को स्पष्ट ज्ञात होजाय कि इन लोगों में योग का कोई लक्षण नहीं घटता; किन्तु वाममार्गियों का सा दुष्टाचार, अनाचार, अत्याचार, व्यभिचार प्रचलित है। इन लोगों में कुछ भी भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं है; किन्तु मांस मदिरा का अधिक प्रचार है।

रोशनी देखने, शब्द सुनने वालों का भी सङ्ग मैंने किया। नेती धोती वस्ति आदि षट्कर्म का भी अभ्यास किया दातौन भी सटका करता था, परन्तु इनमें से किसी क्रिया में चित्त के प्रशान्त वा एकाग्र स्थिर होने का कोई उपाय न मिला।

मैं सदा दत्तचित्त होकर शुद्धान्तःकरण तथा सत्यसंकल्पपूर्वक अपने कल्याण के हेतु ईश्वर से यही प्रार्थना किया करता था कि हे परमात्मन्! किसी सत्यवादी उपदेशक से मेरा संयोग कृपया करा दीजिये तो मेरा कल्याण हो। सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ने मेरी टेर सुनी और अनुग्रहपूर्वक जब कि मैं २७ वर्ष की अवस्था को प्राप्त हुआ तब (३) तीन साधु अकस्मात् मुझे दीख पड़े। मैंने अपने स्वाभाविक नियमपूर्वक खान पानादि से उनका सम्मान करना चाहा, परन्तु उन्होंने यह कहकर नकार किया कि क्षुधा नहीं है, फिर मैंने आग्रहपूर्वक कहा कि और कुछ नहीं तो थोड़ा २ दूध ही ग्रहण कीजिये। मेरे बहुत कहने पर दुग्ध पान करना स्वीकृत किया। पश्चात् जब उनको हलवाई की दुकान पर दुग्ध पान करा के मैंने योगविषयक चर्चा छेड़ी तो वार्त्तालाप से जाना गया कि उन में से एक साधु इस विषय को कुछ समझता है, तो मैंने अपना अभिलाष उससे उपदेश ग्रहण करने का प्रकट किया मेरी तीव्र उत्कण्ठा जानकर वह साधु बोला कि जो कुछ मैंने अब तक जाना है उसके बता देने में मुझे कुछ भी दुराव नहीं है। यह कह कर एक स्थान पर जाकर मुझको मनके ठहराने की क्रिया बतलाई और कहा कि नित्य नियम से निरालस्य निरन्तर अभ्यास किया करो। इस विधि के करने से मुझको कुछ काल उपरान्त बड़े परिश्रम से मन कुछ एकाग्र होता जान पड़ा, तब उस क्रियामें श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न हुआ फिर क्रमशः उत्तरोत्तर चित्त की स्वस्थता की वृद्धि होने लगी और कुछ अकथनीय आनन्द भी प्राप्त हुआ। चिरकाल इस प्रकार व्यतीत होने पर वह साधु फिर मिला और उससे आगे की विधि मैंने जब पूँछी तो उत्तर यह मिला कि एक

बाबा जी यहाँ कभीर आते रहते हैं अधिक और कुछ जानना चाहो तो उनसे पूँछना, मैं तुम्हारा उनसे मेल करा दूंगा।

दैवयोग से दो ही मास के अन्तर्गत वे बाबाजी पधारे। मेरा सब वृत्त पूर्वोक्त साधु ने उन से कह सुनाया और बाबा जी ने तब से मेरे ऊपर प्रेम भाव का वर्त्ताव रक्खा और जो कुछ उन्होंने जब कभी उपदेश किया उस विधि से मैं अभ्यास करता रहता था और बाबाजी कदाकाल अर्थात् बहुत कम वहां आते थे। जब कभी वे महात्मा वहां कुछ दिनों निवास करते थे, मैं यथा शक्ति उनकी सेवा शुश्रूषा भी भक्ति से करता था। उन की टहल के नियत समयों पर चूकता न था, वरन दिनका अधिक भाग उन के पास ही व्यतीत करता था अति परिचय होने के कारण वे मेरे शील स्वभाव आचरण भक्ति आदि से अधिक प्रसन्न हुवे और अधिक प्रेम से योग की युक्तियां बताया करते थे। अतएव बीस बाइस वर्ष के समय में मैंने तीन प्राणायामों की सम्पूर्ण क्रिया सीख कर पूर्णता से परिपक्क अभ्यास कर लिया और बाबाजी के सत्संग से योग विषय की और भी अनेक बातें सीखीं, जो गुरु लक्ष्य विषय बिना सत्संग किये पुस्तकों से भी किसी को नहीं प्राप्त हो सकते। और केवल अभ्यास अनुभव तथा श्रवण मनन निदिध्यासन से ही जाने जाते हैं। तदनन्तर बाबाजी का स्वर्गवास हो जाने के कारण आगे कुछ उन से न सीख सका।

बाबाजी का अन्त समय जब अति सन्निहित जान पड़ा तब मैंने शोक युक्त अश्रुपात सहित विह्वल होकर दीनता का वचन कहा "महाराज,! मैं आप से बहुत कुछ अधिक सीखने का अभिलाष रखता था मेरी आशा पूर्ण होती नहीं जान पड़ती"

बाबाजी ने मेरा आश्वासन करके आशीर्वाद की रीति से कहा कि "बच्चा ! तेरा मनोरथ सिद्ध होगा" यह कहकर थोड़ी देर में उन्होंने यमालय की राह ली ॥

सत्यवादी महात्माओं की वार्त्ता सत्य ही होती है। उन का आशीर्वचन मुझ को फलीभूत हुआ, अर्थात् उन का देव लोक हो जानेके दो वर्ष पश्चात् श्री१०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज अमृतसर पधारे और मेरी मनःकामना पूर्ण हुई, अर्थात् प्राणायाम कि जिस की व्यवस्था किसी से नहीं लगती थी, स्वामी जी ने बात में अति सुगमता से मुझे बतादी और मैंने शीघ्र ही उस का भी अभ्यास परिपक्व कर लिया। तदनन्तर स्वामीजी महाराज अमृतसर आते रहा करते थे. उन अवसरों में समाधियों की अनेक क्रिया तथा योग विषयक अन्य उपयोगी बातें स्वामीजीने बहुत सी सिखलाईं परन्तु मुझ से भेंट होने पश्चात् अधिक से अधिक चार वर्ष ही हुवे होंगे कि स्वामी जी ने भी इस असार संसार को तज दिया।

मेरे मन में बहुत दिनों से सन्यासाश्रम ग्रहण करने की इच्छा थी. सो उसका अवसर भी अब इस समय निकट आ गया अर्थात् अपनी वृद्धा माता को निरालम्बन बिलखती हुई छोड़ कर संन्यास लेना मुझ को अंगीकार न था किन्तु जब अचिरात् उस ने भी अपना जीवन समाप्त कर के मुझको स्वतन्त्र किया, उस समय अमृतसर में आर्य समाज नवीन ही स्थापित हुआ था और स्वामीजी के सिद्धान्त और मन्तव्य मेरे मन में अच्छे प्रकार बस गये थे। नई वार्त्ताओं में उत्साह भी मनुष्यों को अधिक हुआ करता है और स्वा० द० सरस्वती प्रणीत संस्कार विधि सम्पादित संस्कार अभी अच्छे प्रकार प्रचलित नहीं हुवे थे और मुझे अपनी माताका संस्कार

विधि पूर्वक करने की उत्कण्ठा भी थी, अतः अमृतसर में प्रथम ही मृतक संस्कार था कि यथायोग्य विधिवत् धूमधाम के साथ किया गया ॥

मेरी माता के इस मृतक संस्कार में जो सुगन्धित पदार्थ होमने से सुगन्धि वायु मण्डल में फैली और वहां पर वेद-मन्त्रों की ध्वनी से जो वेदी में हवन हुआ, उस को देख कर लोग बड़े चकित और विस्मित हुए। यत्र तत्र आश्चर्यके साथ आर्यसमाज के संस्कारों की चर्चा होने लगी और समाज का गौरव और प्रशंसा भी लोग करने लगे। माता के श्राद्ध कर्म से उऋण, निश्चिन्त और स्वतन्त्र हो कर शीघ्र अमृतसर के समाज में ही मैंने संन्यास आश्रम भी उक्त संस्कारविधि संपादित विधि से ग्रहण किया था। इस प्रकार संन्यास आश्रम धारण करने का मेरा संस्कार भी उस समाज में प्रथम ही हुआ। उस वार्त्ता को अब १५ वर्ष से अधिक समय हुआ और तब से मैं इतस्ततः इस देशमें भ्रमण करता हूं। संन्यास धारण करने के पश्चात् दो वर्ष पर्यन्त मैं एकान्त में ध्याना-वस्थित होकर निरन्तर योगाभ्यास करता रहा। इस अवधि के बीतने पर मेरा मनोरथ पूर्णतया सिद्ध हुआ और जैसा आनन्द इन दो वर्ष में मुझ को प्राप्त हुआ वैसा इस से पूर्व कभी नहीं मिला था। अतः मेरी पूर्ण सन्तुष्टि भी ईश्वर की कृपा से मुझ को उपदेश करने की योग्यता भी प्राप्त हुई, तब ही से इस योग मार्ग का उपदेश करना अङ्गीकार किया है। अब मैं वृद्ध अर्थात् ७१ वर्ष की अवस्था को प्राप्त हो चुका हूं। अतः अधिक भ्रमण करने का कष्ट सहन नहीं होता। अतएव एकत्र स्थायी होकर निवास करने का विचार मैंने अब किया है। यह जो अपना वृत्तान्त सूक्ष्मता से मुख्य२ वार्त्ताओं से सुगुम्फित मैंने वर्णन किया है, इस से सब को

भली भांति प्रकाशित होगा कि अनेक२ कठिनाई, परिश्रम, प्रयत्न, उद्यम, कष्ट सहन करने पर भी इस योग विषय का पता वर्त्तमान में दुष्प्राप्य है। इस ही देश में किसी समय नित्य कर्म के समान इसका अभ्यास किया जाता था। उक्त प्रकार की कठिनता को दूर करके पुनः इस सत्य ब्रह्म विद्या के प्रचलित करने के अभिप्राय से तथा परोपकार रूप बुद्धि से मैंने इस पुस्तक का बनाना स्वीकार किया॥

और कुछ मैंने अपने पूर्वोक्त दो सद्गुरुओं (श्रीयुत बाबा जी तथा स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी) से सीखा है वह २ सब यथातथ्य इस पुस्तक में प्रकाशित किया है। वे सब क्रियायें मैंने अपने अभ्यास रूप पुरुषार्थ द्वारा सिद्ध की हैं और उन को सर्वथा सच्ची जानता और मानता हूं और योग्य जिज्ञासु को सिखा भी सकता हूं। अतएव जो कोई इस पुस्तक के अनुसार मुझ से निष्कपट होकर जब कभी सीखा चाहेगा उस को मैं भी निष्कपट होकर बताने में किञ्चित दुराव न करूंगा और जो२ कुछ जितना२ सिखलाऊँगा, उसको प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध करा कर पूर्ण विश्वास भी करा दूंगा॥

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वरसज्जनेषु

समाप्तोयं ग्रन्थः

महात्मा तथा वीर पुरुषों के

जीवन चरित्र।

❀छत्रपति शिवाजी।

आज भारत वर्ष में शिवाजी महाराज को कौन नहीं जानता जिन के प्रयत्नसे ही आज हिन्दू जाति जीवित है। उन्हीं महात्मा का यह बढ़िया काग़ज़ पर छपा हुआ जीवन चरित्र है इसके लेखक देश भक्त श्री० लाला लाजपत राय हैं पुस्तक अति ओजस्वनीय है। चौथी बार छपी है। ज्यादा प्रशंसा करनी व्यर्थ है पढ़ कर देखिये मू० ॥=)

❀श्रीकृष्ण का जीवन चरित्र।

श्रीकृष्ण के जीवन में जो अनेक प्रकार के कलंक लोग चोर ज़ार आदि के लगाते थे। लेखक ने बड़े प्रमाणों से सब आक्षेपों को सिद्ध किया है। लेखक हैं श्री देश भक्त लाला लाजपतराय। मू० ||=)

*बैंजमिन—फ्रैंकलिन।

यह वही देशभक्त है जिस ने अमेरिका की मनुष्यत्व प्राप्त कराया और स्वतन्त्र कर विज्ञानादि की शिक्षा प्राप्त करा कर समस्त भूमि पर अमेरिका के कौशल रूपी सूर्य को चमकाया प्रत्येक को इस पुस्तक से शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये ॥|)

*भीष्म पितामाह।

भारत वर्ष में ऐसा कौन मनुष्य है जो बालब्रह्मचारी दृढ़ प्रतिज्ञ रणवीर भीष्म के नाम से अनभिज्ञ है। आज समस्त भारत वर्ष को उन के नाम पर अभिमान है। इस पुस्तक में उन के जीवन सम्बन्धी समस्त घटनायें रोचक भाषा में लिखी गई हैं और शरसय्या समय का सद्‌ उपदेश भी अत्यन्त उत्तम लिखा गया है ।=)